ISSN 0975-2587

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# पंचशील शोध समीक्षा

(त्रैमासिक हिन्दी शोध पत्रिका)

वर्ष 5 अंक 18

( अक्टूबर - दिसम्बर, 2012 )

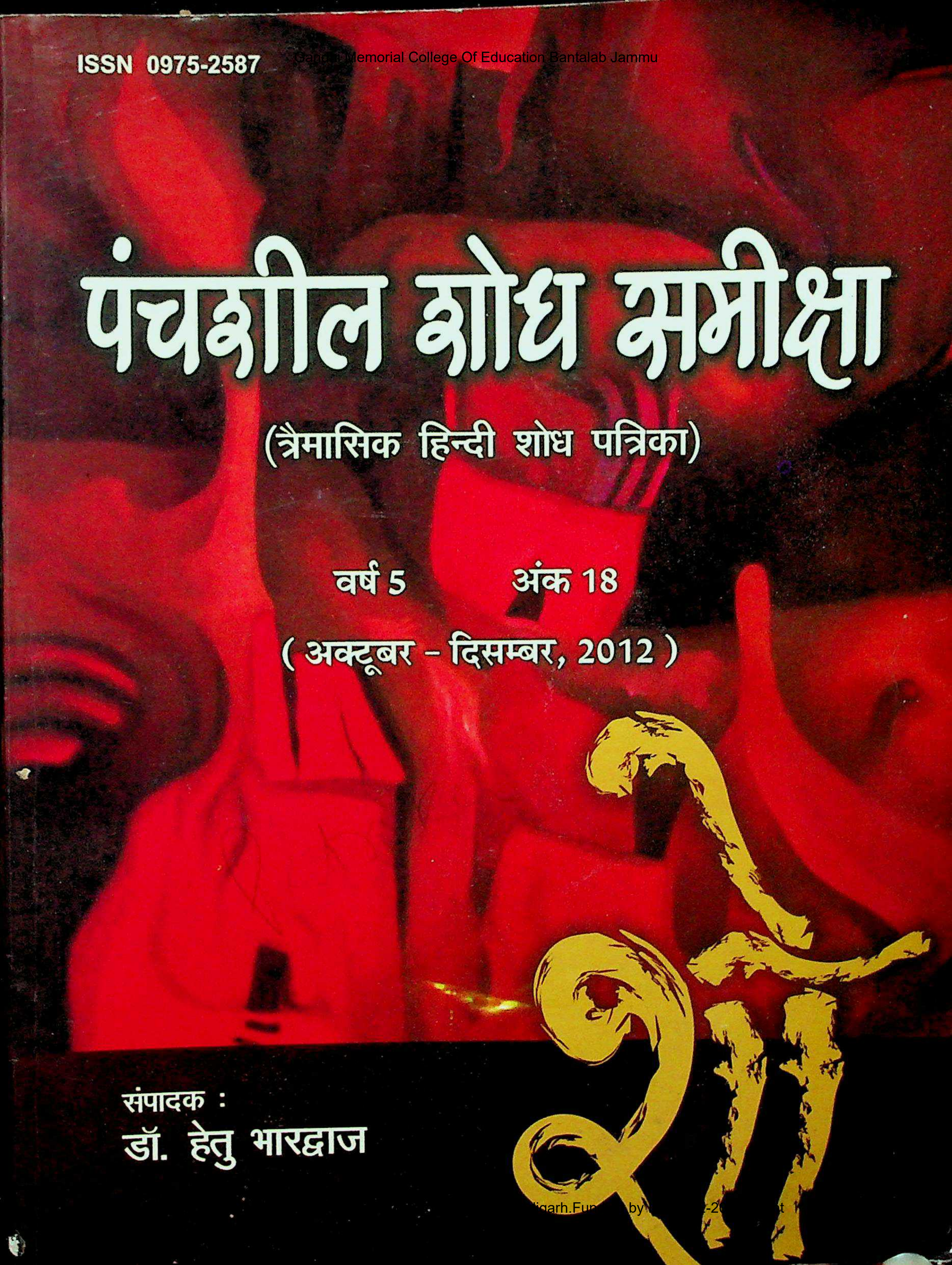


संपादक :
डॉ. हेतु भारद्वाज

...igarh.Fun... by ...

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# पंचशील की कोश परम्परा में नये प्रकाशन

**1. स्वतंत्रता सेनानी कोश ( 1857 )** ₹ 500

इस खण्ड में 1857 के स्वतंत्रता संग्राम से सम्बन्धित सेनानियों का विशद् और विश्वसनीय परिचय।

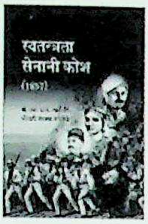


**2. स्वतंत्रता सेनानी कोश ( मुस्लिम )** ₹ 500

इस खण्ड में भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले सेनानियों का विशद् एवं विश्वसनीय परिचय।

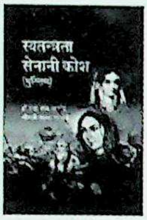


**3. स्वतंत्रता सेनानी कोश ( गाँधीयुगीन )** ₹ 975

युगपुरुष गाँधी के युग में हुए सभी स्वतंत्रता सेनानियों का विशद् एवं विश्वसनीय परिचय।

**कोशकार**

डॉ. एस. एल. नागोरी

श्रीमती कान्ता नागोरी

**समाजशास्त्र विश्वकोश** ₹ 700

प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा द्वारा समाजशास्त्र की समस्त शब्दावली और अवधारणाओं की व्याख्या।

**पंचशील प्रकाशन**

फ़िल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर-302 003

फोन : 0141-2315052, 2314172

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ISSN 0975-2587

# पंचशील शोध समीक्षा

(त्रैमासिक हिन्दी शोध पत्रिका)

वर्ष 5 अंक 18

( अक्टूबर-दिसम्बर, 2012 )

G.M. College of Education
Raipur, Bantalab
Jammu.
Acc No. 3976
Dated 9-12-2023

संपादक
डॉ. हेतु भारद्वाज

अग्निशेखर और क्षमा कौल
द्वारा यह
पुस्तक सप्रेम भेंट

पंचशील प्रकाशन

फ़िल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर-302 003

फोन : 0141-2315072, 2314172 फैक्स : 5113854

website : www.panchsheelprakashan.com

e-mail : info@panchsheelprakashan.com

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संपादकीय सम्पर्क
**पंचशील शोध समीक्षा**
**पंचशील प्रकाशन**
फ़िल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर-302 003
फोन : 0141-2315072, 2314172 फैक्स : 5113854
website : www.panchsheelprakashan.com
e-mail : info@panchsheelprakashan.com

संपादक
**डॉ. हेतु भारद्वाज**
(मो. : 09414752039)

प्रबन्ध संपादक
**मूलचन्द गुप्ता**
(मो. : 09414778656, 9414070472)

**वर्ष 5 अंक 18**

मूल्य : 75/- रुपये (डाक व्यय 25/- रुपये अतिरिक्त)
संस्थाओं के लिए वार्षिक शुल्क : 400/- (4 अंक)
व्यक्तिगत वार्षिक शुल्क : 300/- (4 अंक)
विदेश में एक प्रति मूल्य : 10 डॉलर या समकक्ष कोई भी मुद्रा
(डाक व्यय अतिरिक्त)
मनीऑर्डर/बैंक ड्राफ्ट 'पंचशील शोध समीक्षा', जयपुर के नाम भेजें।

**पंचशील शोध समीक्षा के 'व्यक्तिगत' पाठकों से निवेदन**

हम सभी जानते हैं कि भारत सरकार ने पत्रिकाओं को पाठकों तक पहुँचाने के लिए डाक-व्यय में कोई छूट नहीं दी है वरन् रजिस्टर्ड पैकिट से भी कई गुना ज्यादा खर्च साहित्यिक पत्रिका भेजने में आता है। अत: हमारा सभी पाठकों से विनम्र अनुरोध है कि वे पत्रिका शुल्क से अतिरिक्त रुपये 25/- प्रति अंक डाक-व्यय/कोरियर के रूप में भेजें, ताकि 'पंचशील शोध समीक्षा' के सदस्यों को हम पत्रिका की आपूर्ति तत्परता से कर सकें।

प्रकाशक

**पंचशील प्रकाशन**
जयपुर-302 003

© सर्वाधिकार सुरक्षित
**'पंचशील शोध समीक्षा' में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। संपादक और पंचशील प्रकाशन का सहमत होना आवश्यक नहीं।**

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# इस अंक में


| | | |
|---|---|---|
| संपादकीय : आशा की किरण | डॉ. हेतु भारद्वाज़ | 5 |
| प्रकाशकीय : स्थगन पर पुनर्विचार | मूलचन्द गुप्ता | 7 |
| हिन्दी-साहित्य की आधुनिक चेतना का संस्कृत-साहित्य में स्त्रोतान्वेषण | प्रो. हरिश्चन्द्र मिश्र | 9 |
| स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य को पंजाब की देन | डॉ. रामनिवास शर्मा | 22 |
| सआदत हसन मंटो की कहानियों में अश्लीलता | अमित मनोज | 32 |
| मणिपुर के लोक साहित्य का लोक-तात्त्विक अनुशीलन | सिजगुरुमयुम उमावती देवी | 38 |
| मणिपुरी नाटककार श्रीबीरेन और उनके नाटक 'हल्लकपा' (आधुनिक सभ्यताजन्य अस्तित्वगत संकट के विशेष संदर्भ में) | बिनिता अकोइजम | 46 |
| लम्बी कविताओं में राजनीतिक संदर्भ | डॉ. रजनी बाला | 51 |
| हिन्दी की सामासिक संस्कृति और आधुनिक हिन्दी साहित्य की पूर्वपीठिका (आदिकालीन, मध्यकालीन व रीतिकालीन हिन्दी साहित्य के विशेष संदर्भ में) | डॉ. रामायणप्रसाद विश्वकर्मा | 58 |
| समकालीन कविता की भाषिक संस्कृति | श्रीजा गोविन्द | 63 |
| भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : रचनात्मक संघर्ष की राष्ट्र भक्ति | डॉ. नरेन्द्र इष्टवाल | 78 |
| आधुनिक इतिहास लेखन का नमूना : कितने पाकिस्तान | शमशाद बेगम आर. | 85 |
| मेहरुनिस्सा परवेज और सारा अबूबकर के उपन्यासों में अभिव्यक्त मुस्लिम समाज | डॉ. प्रभा भट्ट | 90 |
| समकालीन हिन्दी आलोचना : प्रतिमानों की तलाश | विवेक कुमार मिश्र | 96 |
| अध्यात्म और सूर साहित्य | डॉ. रेखा गुप्ता | 120 |
| किसानों, मजदूरों और दलितों के महाप्राण कवि : बाबा नागार्जुन | डॉ. आदित्य कुमार गुप्ता | 125 |


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

| | | |
|---|---|---|
| केदारनाथ अग्रवाल की 'धरती' कविता : 'भावों का औदात्यपूर्ण चित्रण' | युवराज माने | 131 |
| कवि गोरख और पाश की कविता में यथार्थवादी सौन्दर्य दृष्टि | अर्चना त्रिपाठी | 135 |
| भूमण्डलीकरण और हिन्दी का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध | अनुजा बेगम | 138 |
| पुस्तक समीक्षा : जीवन के बदलाव को अभिव्यक्त करती कहानियाँ 'समय कभी थमता नहीं' | डॉ. अजय अनुरागी | 144 |
| प्रतिक्रिया : शोध विषयक सुझाव | डॉ. दयाशंकर; डॉ. एस. कृष्णबाबु; डॉ. संदीप रणभिरकर; डॉ. कुबेर कुमावत; डॉ. विनोद शाही | 147 |
| शोध सूची : हिन्दी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय, काँचीपुर, इम्फाल (मणिपुर) से पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त शोधार्थियों की सूची | | 149 |
| हमारे साहित्यिक प्रकाशन | | 153 |

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संपादकीय

# आशा की किरण

'पंचशील शोध समीक्षा' के पिछले अंक में मैंने तथा प्रकाशक महोदय ने यह सूचना दी थी कि पत्रिका के 20वें अंक के साथ इस पत्रिका का प्रकाशन स्थगित कर दिया जाएगा। मुझे बहुत प्रसन्नता हुई कि हमारे मित्रों ने इस स्थगन को हिन्दी पत्रकारिता तथा शोध के क्षेत्र में एक बड़ी दुर्घटना के रूप में देखा तथा उन्होंने मुझसे और प्रकाशक महोदय से पत्रिका स्थगित न करने का अनुरोध किया। इतना ही नहीं मित्रों ने कहा कि आपको कितने ग्राहकों का चंदा भेज दें। केरल से एक मित्र ने तो मुझसे पूछा कि आप पत्रिका के बैंक का खाता संख्या बताएँ ताकि 40 सदस्यों का शुल्क वे भेज सकें। मैंने अपनी विवशता व्यक्त की तो उन्होंने प्रकाशक श्री मूलचन्द गुप्ता से बात की और पत्रिका का प्रकाशन जारी रखने का आग्रह किया। उनसे उन्होंने 40 सदस्यों का शुल्क भेजने का वादा कर दिया। इसी प्रकार के कई फोन मेरे पास आये, जिनकी अभी तक शुल्क राशि प्राप्त नहीं हुई है। यह मेरे लिए भी प्रसन्नता की बात है कि प्रकाशक श्री मूलचन्द गुप्ता ने पत्रिका के प्रकाशन को जारी रखने के लिए सहमति प्रदान कर दी। वास्तविकता तो यही है कि वे भी पत्रिका के प्रकाशन को स्थगित करना नहीं चाहते थे। पर एक तो उनकी अस्वस्थता और दूसरे लोगों का असहयोग–दोनों ही कारणों से उन्होंने इसके प्रकाशन को स्थगित करने का निर्णय लिया था।

अब क्योंकि पत्रिका का प्रकाशन यथावत् जारी रहेगा मैं अपने मित्रों से सभी प्रकार के सहयोग की अपेक्षा करता हूँ। मेरी तो एक ही आकांक्षा है कि मुझे आलेख चुनने की स्वतंत्रता मिलती रहे। मैं मनुष्य हूँ तथा मुझे भी सांसारिक आग्रह व्यापते हैं। ऐसा नहीं कि मैं लेखकों की मदद नहीं करना चाहता। अगर कोई लेखक मुझसे बार-बार आग्रह करता है कि उसका आलेख छप जाएगा तो उसे नौकरी में मदद मिलेगी, थीसिस जमा करने में मदद मिलेगी या पदोन्नति में सहायता मिलेगी तो मैं उनके आग्रह को स्वीकार कर लेता हूँ और उनके आलेखों पर कुछ



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अपना श्रम कर उन्हें छापने का जुगाड़ करता हूँ, पर मैं इसे पत्रिका की परम्परा नहीं बनाना चाहता। फिर तो पैसे लेकर छापने में क्या बुराई है। मेरा अपना सोचना यह है कि लेखन के क्षेत्र में कोई शॉर्ट-कट नहीं होता। लेखक जो भी लिखता है, वह उसे श्रेष्ठ ही मानता है। पर यह उसका अपना दृष्टिकोण है। कई बार यह दृष्टिकोण आत्मरति भी बन जाता है। इसलिए प्रत्येक लेखक को अपनी रचना को कई बार पढ़ने की आदत डालनी चाहिए। जब तक हम अपनी कमजोरियों को स्वयं समझने की चेष्टा नहीं करेंगे तब तक हम अपनी रचना को दूसरों के योग्य नहीं बना सकते। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जब तक कोई रचना छपती नहीं है वह लेखक की सम्पत्ति होती है। जब रचना छप जाती है तो वह सार्वजनिक हो जाती है और वह समाज की सम्पत्ति हो जाती है। दूसरों का उसके ऊपर लेखक से भी अधिक अधिकार हो जाता है। मैं सोचता हूँ कि कोई नहीं चाहेगा कि लेखक अपनी कमजोर रचना को दूसरों की सम्पत्ति बनने दे।

लेखक के लिए प्रत्येक रचना एक नया अनुभव होती है और प्रत्येक रचना में लेखक अपने अनुभव और अध्ययन का बहुत सारा हिस्सा लगा देता है। धीरे-धीरे उसका लेखन कार्य ही उसकी पहचान बनने लगता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल या आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे लेखक अनायास पैदा नहीं होते। इसके लिए विशाल अध्ययन और लम्बी साधना की आवश्यकता होती है। तभी पाठक पढ़ते ही बता देते हैं कि यह शुक्लजी की पंक्ति है या यह कथन आचार्य द्विवेदी का है। शायद प्रत्येक लेखक का यही सपना होता है क्योंकि लेखन में वह अपने व्यक्तित्व का सबकुछ होम देता है।

मैं अपने सभी मित्रों के समक्ष अत्यन्त विनम्रता के साथ यह स्वीकार करता हूँ कि अभी भी मैं 'पंचशील शोध समीक्षा' से संतुष्ट नहीं हूँ क्योंकि मेरा सपना एक पत्रिका निकालने मात्र का नहीं था। मैं इस पत्रिका को शोधार्थियों और शोध निदेशकों के बीच सजीव संवाद का मंच बनाना चाहता था। मेरी इच्छा थी कि इस मंच के माध्यम से हम शोध सम्बन्धी समस्याओं पर बात करें। शोध के नये-नये क्षेत्रों और प्रविधियों को समझने की चेष्टा करें। हिन्दी में हो रहे शोध कार्य पर अपने सवाल उठाएँ, नये शोध विषयों की सम्भावनाओं पर विचार करें। शोध की विसंगतियों पर बात करें तथा शोध का स्तर उठाने की चिंता करें। मैं आप सभी को इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए आमंत्रित करता हूँ। आप यह मानकर चलिए कि यह पत्रिका आपकी है, मैं तो संयोजक मात्र हूँ। आप इस पत्रिका से और क्या अपेक्षाएँ रखते हैं, इसमें और क्या जोड़ना-घटना चाहते हैं। मुझे स्पष्ट शब्दों में लिखें। मुझे आपका कोई सुझाव या आपकी निंदा बुरी नहीं लगेगी। आप अपनी ओर से शोध विषयक नयी योजनाएँ सुझा सकते हैं।

कई बार मुझे लगता है कि मैं इस प्रकार की बातें लिखकर प्रलाप ही कर रहा हूँ, क्योंकि इनका असर मित्रों पर लगभग नहीं होता। सब यही पूछते हैं कि उनका लेख छपा या कब छपेगा? एक मित्र ने मुझसे पूछा कि उन्होंने एक साल पहले एक आलेख भेजा था पर अभी तक उसके बारे में कोई सूचना नहीं मिली। मैं उनके धैर्य का अभिनंदन करता हूँ पर जब पूछता हूँ कि क्या उसे वापस करने के लिए आपने टिकिट लगा लिफाफा भेजा था तो उनका उत्तर नकारात्मक होता है। पर सबसे बड़े अचरज की बात तो यह है कि एक साल तक उन्होंने एक लेख के बाद कुछ नहीं लिखा? कई बार मित्र पूछते हैं अपने लेख के बाबत् तो मैं उनसे लेख का शीर्षक पूछ लेता हूँ क्योंकि मैं हर वक्त तो पत्रिका की फाइल लेकर नहीं चलता। पर ताज्जुब तब और होता है जब वे अपने आलेख का शीर्षक भी नहीं बता पाते?

खैर, ये कोई महत्त्वपूर्ण बातें नहीं हैं पर हमें इन बातों के प्रति गम्भीर तो होना ही चाहिए। मेरा तो यही अनुरोध है कि आप मुझे झकझोरते रहें ताकि मैं इस पत्रिका को आपके लिए और उपयोगी बना सकूँ। आप इसके लिए अकादमिक और आर्थिक सहयोग जरूर देते रहें, इसी कामना के साथ-

**डॉ. हेतु भारद्वाज**



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रकाशकीय

# स्थगन पर पुनर्विचार

**मैं** जीवनभर पुस्तक व्यवसाय से जुड़ा रहा तथा कुछ नैतिकताओं का पालन करता रहा। मेरा प्रयास यही रहा कि लेखक मुझसे नाराज न हों, क्योंकि मेरी आजीविका का आधार मेरे लेखक ही हैं। इसी भावना के साथ मैंने 'पंचशील शोध समीक्षा' का प्रकाशन आरम्भ किया था कि इसके बहाने मैं हिन्दी की कुछ सेवा कर सकूँगा। इसीलिए हम लोगों ने यह संकल्प लिया था कि हम लेखकों से उनके आलेख छापने के बदले में कोई धनराशि नहीं लेंगे। चार वर्ष बाद भी जब यह पत्रिका मुझे घाटा ही देती रही तो मैंने इसके प्रकाशन को स्थगित करने का निर्णय लिया था। मैंने सम्पादक डॉ. हेतु भारद्वाज से यह अनुरोध भी कर दिया था कि वे मुझसे इसके प्रकाशन को जारी रखने का आग्रह न करें। उन्होंने अपनी ओर से आग्रह भी नहीं किया पर जब वे बताते कि बराबर फोन आ रहे हैं कि यह निर्णय उचित नहीं है तब भी मुझे लगता कि वे स्वयं चाहते हैं कि पत्रिका का प्रकाशन जारी रहे। मैं उनसे यही कहता रहा कि मेरा निर्णय अन्तिम है। उसमें कोई बदलाव सम्भव नहीं है। मित्रगण मुझसे भी आग्रह करने लगे कि पत्रिका का प्रकाशन जारी रखें। तो मुझे लगा कि कोई तो बात है जो लोग पत्रिका के प्रकाशन को जारी रखवाना चाहते हैं। और मैं अपने निर्णय पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य हो गया। मैं सुबह उठा और मैंने पहला फोन भारद्वाजजी को ही किया कि पत्रिका का प्रकाशन जारी रहेगा। वे भी मेरे निर्णय से प्रसन्न हुए।

अभी तक मुझे किसी की सहयोग राशि नहीं मिली है तथापि मैंने पत्रिका के स्थगन का अपना निर्णय वापस ले लिया। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि मैं इसकी आर्थिक प्रगति से संतुष्ट हूँ। आप भी जानते हैं कि एकसाथ कुछ सदस्यों का शुल्क भेजने का प्रस्ताव बहुत आकर्षक नहीं है, यद्यपि मित्रों का हृदय से आभारी हूँ और उनकी भावनाओं के प्रति आदर व्यक्त करता हूँ। अगर उनका



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सहयोग मुझे मिला तो 'पंचशील शोध समीक्षा' का जीवन निश्चित ही लम्बा होगा। मुझे भी संतोष रहेगा कि मैं हिन्दी की सेवा में अपना विनम्र योगदान दे रहा हूँ। मैंने पत्रिका का आजीवन मूल्य नहीं रखा केवल इसलिए कि पता नहीं पत्रिका को कब स्थगित करना पड़ जाए और आजीवन सदस्यों को किसी तरह का मलाल रहे। अब भी मैं इस व्यवस्था को लागू करने के पक्ष में नहीं हूँ। मेरी अपनी धारणा है कि वार्षिक सदस्यता की संख्या ही पत्रिका के लिए जीवन-रेखा साबित होगी। इसलिए मेरा अनुरोध यही है कि वार्षिक शुल्क भेजकर पत्रिका के सदस्यों की संख्या बढ़ाएँ। साथ ही मेरा यह भी अनुरोध है कि आप अपने संस्थान के पुस्तकालय में पत्रिका जरूर मँगवायें। इससे पत्रिका को अधिक पाठक मिल सकेंगे और पत्रिका का प्रसार भी होगा। इसके लिए संस्थानों से पाँच वर्ष तक का शुल्क भिजवा सकते हैं। व्यक्तिगत स्तर पर आप एक से अधिक वर्ष की सदस्यता ले सकते हैं।

मैं आप सभी के भरोसे पत्रिका के स्थगन को वापस ले रहा हूँ और मुझे उम्मीद है कि आप मुझे निराश नहीं करेंगे। मैं आजीवन सदस्य बनाने के पक्ष में नहीं हूँ पर आप चाहें तो पत्रिका को अनुदान स्वरूप कितनी भी राशि भेज सकते हैं। मैं मानता हूँ कि पत्रिका निकालना एक सामूहिक कार्य है और हमें अपना योगदान देने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। अगर आप लेख छपने के बदले कुछ राशि देने को नैतिक मानते हैं तो मुझे कुछ नहीं कहना, पर लेख को अपनी गुणवत्ता के बल पर ही छपना चाहिए। आपको एक सारस्वत कार्य में सहयोग करने से कौन रोकता है? मुझे आपके सकारात्मक सहयोग की प्रतीक्षा रहेगी।

**मूलचन्द गुप्ता**
(प्रबन्ध संपादक)



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# हिन्दी-साहित्य की आधुनिक चेतना का संस्कृत-साहित्य में स्रोतान्वेषण

**प्रो. हरिश्चन्द्र मिश्र**

**लो**क जीवन या जन-जीवन के प्रति समर्पित हुए बिना कोई भी साहित्य साहित्य नहीं कहा जा सकता। यथार्थ जीवन, आम आदमी, आम नारी, अन्त्यज वर्ग की अभिव्यंजना में ही आज साहित्य की अभीष्ठता देखी जा रही है। सांस्कृतिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक एवं दार्शनिक मूल्यों का निदर्शन भी आज मूल्यांकन का आधार बन चुका है। प्रगतिशीलता, जनवादिता, लोकान्विति, मनोविश्लेषण एवं मनोवैज्ञानिकता आदि के सन्दर्भ तक हिन्दी साहित्य या कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य पहुँच चुका है और उससे भी ज्यादा साहित्य की आलोच्य दृष्टि। इस आधुनिक सचेतस-दृष्टि से साहित्य और जीवन को देखने की परम आवश्यकता है। आज साहित्य का वर्ण्य-विषय ही बदल चुका है।

सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में वर्ण्य विषय भिन्न रहा है। राजा, महापुरुष, महर्षि एवं देवताओं को और उनके जीवन को वर्ण्य विषय बनाया गया। वर्ण्य विषय भले ही अभिजन वर्ग के साथ जुड़ा रहा हो, उससे ज्यादा उस समग्र साहित्य की समीक्षाएँ टीकाओं तक सिमट गयीं। उसका विश्लेषण धर्म, अध्यात्म और दर्शन से सम्पृक्त होकर बोझिल हो गया था। भाषा की संश्लिष्टता एवं क्लिष्टता के साथ उस साहित्य का विश्लेषण भी बोझिल होता रहा है। यदि उक्त नयी चेतना के परिप्रेक्ष्य भी बोझिल होता रहा है। यदि उक्त नयी चेतना के परिप्रेक्ष्य में साहित्य का विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि आज की प्रगतिशीलता एवं मूल्यात्मकता का स्रोत निश्चय मिलेगा। यही नहीं दलित एवं स्त्री-विमर्श का चेतनात्मक प्रारूप अवश्य मिलेगा। कारण कि कोई भी रचनाकार जीवन से और उसकी बाह्य एवं आन्तरिक समस्या से जुड़े बिना साहित्य-सृजन कर ही नहीं सकता। अभिजन वर्ग को एवं उसके जीवन को वर्ण्य विषय बनाने पर भी ये रचनाकार अपने युग की सीमा में सामाजिक विषमता एवं



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तिक्तता को उजागर करते हैं। व्यंग्यपूर्ण प्रस्तुति से वे जीवन के यथार्थ की ओर उन्मुख होते हैं। आज समीक्षकों का एक वर्ग ऐसा है जो सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य को सामन्ती कहकर झुठला देना चाहता है। सम्पूर्ण भारतीय जीवन में अपने किस्म का विश्वास एवं श्रद्धा जमा देने वाले साहित्य को इन्कार करके हम आज की अपेक्षित प्रगतिशीलता को स्थापित नहीं कर सकते हैं। बल्कि अपने नये विचारों को आधार देते हुए उस प्राचीन साहित्य का नया मूल्यांकन करना होगा।

विश्वास को तोड़कर नहीं मोड़कर ही हम आधुनिकता को पोख्ता नींव दे सकते हैं। वस्तुत: हमारे देश का आदिम मानव अपनी कलात्मक अभिव्यंजना में प्रकृति और मानव जीवन को उसकी समग्रता में देखता रहा है। प्रकृति के साथ वह इतना संश्लिष्ट रहा है कि प्रकृति के बिना वहाँ मानव जीवन का अस्तित्व ही नहीं रहा है। यह स्थिति केवल साहित्य में ही नहीं अपितु चित्रकला, मूर्तिकला एवं स्थापत्य कला में भी देखी जा सकती है। उसी प्रकृति और जीवन की अद्वैतता में ही संस्कृत साहित्य का निदर्शन जीवन की उच्चता के बावजूद जीवन की लघुता में भी अनुस्यूत है। रचना का संघर्ष जीवन और प्रकृति के संघर्ष के साथ उसके सुख भोग के साथ चलता रहा है। यही कारण है कि इस देश में लौकिक और पारलौकिक चेतना एक साथ चलती रही है।

सर्वप्रथम वैदिक एवं संस्कृत में वर्ण्य-विषय बने आध्यात्मिक विग्रहों पर ध्यान दिया जाना चाहिए। सच में असीम सत्ता की क्रमश: तीन मानवीय गुणों (रज, सत्व और तम) के अधीन ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव को दार्शनिक अभिव्यंजना की गयी। वस्तुत: दार्शनिकों ने अपने युग क्रम में एक-एक चरम मूल्यों की तलाश की। ये आध्यात्मिक या ईश्वरीय सत्ता अपने-अपने युग के चरम मूल्यों थे जो युग की अपेक्षा बनकर आये। दार्शनिकों ने युगीन जीवन की चरम अपेक्षा की खोज में एक ऐसे विग्रह की खोज की जो समय के साथ परिवर्तनशील है। संयोग से ये विग्रह की आदिम काल से वर्ण्य-विषय बने या वर्ण्य-विषय के साथ किसी न किसी भूमिका में सन्नद्ध रहे हैं। वस्तुत: दार्शनिक और साहित्यकार आस्थावान व्यक्ति नहीं होता अपितु वह युग की मूल्यात्मक अपेक्षा में अपने चरम मूल्यों को बदलने की चेष्टा करता है और कर भी लेता है। साहित्य दर्शन का और उसके चरम मूल्य का प्रयोग तो करता है किन्तु वह किसी दर्शन की व्याख्या मात्र नहीं है अपितु वह एक स्वतंत्र रचना है।

सबसे पहले दार्शनिकों ने एक ऐसी सत्ता की खोज की जिसने इस ब्रह्माण्ड का निर्माण किया। सारी योजना बनाई। इस विचित्र सृष्टि को रचा। इस संदर्भ में उसकी आभियांत्रिक बौद्धिकता की कल्पना की गयी और 'चतुर्मुख' बना दिया गया। भले उसके चार सिर और चार हाथ हों लेकिन यह आकृतिजन्य विकृति उसकी बौद्धिक अतिशयता के साथ हुई। वास्तव में यह रचनात्मक विकृति मानव-आकृति में ही हुई। चारों ओर के ज्ञान से सम्पृक्त होने के लिए ही ब्रह्मा एक मनुष्य से अत्यन्त अधिक बुद्धि की अपेक्षा में चतुरानन हुए। यही नहीं वही वेद का प्रतिनिधित्व करते रहे।

वेद को ज्ञान का पर्यायवाची मान लेने पर चतुरानन को ही प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। अभी साहित्य की युगीन अपेक्षा में ब्रह्मा ही प्रतीक बना जो आगे चलकर तंत्र-साधना में वर्धनशील होता हुआ मातृ-सत्ता के साथ नारी के गर्भ में समाहित हो गया। यद्यपि वैदिक साहित्य में ज्ञान के अलावा जीवन से सम्बन्धित और बहुत कुछ है। काव्यात्मकता एवं प्राकृतिक चित्रण के क्रम में उस साहित्य की मामांसा करनी होगी। जीवन-संघर्ष एवं विमर्श के अनेक बीज तत्त्व इस वैदिक साहित्य में ढूँढ़ना समीचीन होगा। अवसर के साथ इसकी चर्चा की जाएगी। साहित्य की अपर्याप्तता के क्रम में ही ब्रह्मा के प्रतीक को बदलने की आवश्यकता पड़ी और उसकी मानस पुत्री सरस्वती


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

को काव्य की अधिष्ठात्री देवी के रूप में स्थापित किया गया जो अपने जीवन-संघर्ष में हीनता की शिकार न हुए सर्व पूज्या हुई। अपितु च स्वयं ब्रह्मा अपूज्य देवता बनकर रह जाते हैं। वेद को अपौरुषेय और काल की अनन्तता में रखना उचित नहीं। उसकी मानवीय रचना एवं प्रकृति की अन्विति में देखना ही उसकी व्यापकता होगी। रूढ़ियों से अलग करके उसका मूल्यांकन अति आवश्यक है।

दूसरा दार्शनिक चरम मूल्य विष्णु है जिसे पुराणों में सूर्य भी माना गया है जो सत्यवृत्ति में जीवन के संचालन का सूत्र है। सूर्य और संज्ञा का अपना सहधर्म रहा है। विष्णु पोषण के साथ जुड़े रहे हैं। पोषण का सम्बन्ध सीधे-सीधे उपार्जन से जुड़ा रहा है। उपार्जन श्रम के बिना नहीं हो सकता। इस श्रम की सहकारी प्रवृत्थि में ही चतुरानन का विग्रह बदलकर चतुर्भुज हो जाता है। हाथ और श्रम की अन्योन्याश्रिता में ही विष्णु चार भुजाधारी होते हैं। मानव के श्रम की भूमिका में हाथ मनुष्य के लिए वरदान स्वरूप मिला है। मुखीय विकृति हाथों में आकर श्रम और उपार्जन की सहभूमिका बनती है। पोषण का दायित्व धन के बिना नहीं हो सकता। अत: उसका एक विग्रह उसकी सहधर्मिणी लक्ष्मी होती है जो प्रकृतिस्वरूपा है। यह प्रकृति सत्ता ही उत्पादन का स्रोत है। इसी भूमिका में विष्णु अपने युग के चरम मूल्य बनते हैं। चूँकि सभी स्तनधारी शिशुओं का मूल भोज्य पदार्थ दूध ही रहा है। यही शिशुओं का पूर्ण आहार भी है। भावी पोषण का दायित्व सबसे ज्यादा होता है। अत: यह विष्णु अपनी सम्पदा लक्ष्मी के साथ क्षीर सागर में हैं। धन के रूप में यह लक्ष्मी द्वितीयक हुई और हमेशा नारी मूल्यों की अभिव्यंजना में द्वितीयक ही बनी रही और उसका स्थान पुरुष के पैरों में न्यस्त कर दिया गया जिससे मुक्ति का संघर्ष चलता रहा। अब नारी और धम की प्राथमिकता के संदर्भ में मानव जीवन का निदर्शन चलता रहा है। यही विष्णु रूपी चरम मूल्य आज तक अपनी बदली भूमिका में साहित्य का अभिज्ञेय बना है। इसी मानवीय भूमिका में इस विग्रह की समीक्षा होनी चाहिए। देखा जाए कि राम और कृष्ण के रूप में इस विष्णु का कितना साहित्यिक विदलन हुआ है। श्रम की भूमिका में ये विग्रह अंश रूप में जीवन के बीच लाये जाते हैं और अब क्षीर सागर में शेष नाग की पीठ पर सोने वाला जीवन संघर्ष सीधे मानवीय जीवन के संघर्ष से जुड़ता है।

अब तम गुण के साथ अगला विग्रह बड़ा ही विचित्र रूप में सामने आता है। अब जीवन सरल, सहज और प्रवाहमय मात्र नहीं रहा। जीवन में समता और विषमता दोनों है। सुख है, दु:ख है, अच्छा है, बुरा है, धनी हैं, गरीब हैं, उत्पीड़ित हैं, उत्पीड़क हैं, सुन्दर हैं, असुन्दर हैं, प्रिय है, अप्रिय है, कोमल हैं, कठोर हैं आदि-आदि। इस विचित्र वैषम्यपूर्ण जीवन मूल्यों को वहन करने की क्षमता उक्त विग्रहों में नहीं रही। अब शिव एक ऐसा चरम मूल्य बनकर आते हैं जो कपूर की तरह गोरे हैं तो भेष से अनार्य हैं। खँकर केश, मृगछाला, राख लपेटी देह, नाग भूषण, बिच्छू आदि के साथ वे तमाम सामाजिक विषमता को वहन करते हैं। छन्द और संगीत से जुड़े हैं जिसका अन्वय डमरू है तो विनाश का प्रतीक त्रिशूल है जो कृषि का प्रथम या आदिम यंत्र भी है। अपने वाहन नन्दी के साथ शिव कृषि के आदि देवता रूप में आते हैं। वे शिव रूप में कल्याण के साधक हैं तो रुद्र रूप में संहारक हैं। इतनी ही भूमिका नहीं है अपितु अनार्य भेष तथा आर्य रंग के साथ शिव आर्य भूमि तथा प्रकृति के अपार सम्पदामय हिमालय पर वास करते हैं। कृषि रक्षक की भूमिका में शिव का मचान वह कैलाश ही है। उनकी प्रकृति रूपा सहधर्मिणी पार्वती शक्ति-सौन्दर्य एवं सतीत्व की चरम रूप हैं। वे जितनी सुन्दर है उतनी ही कोमल हैं पर उतनी ही शक्तिशाली हैं, दुर्गा की अवतार हैं। अपने पति की पत्नी हैं तो सिंह को अपने जंघों के बीच रखने वाली हैं। अब वे केवल सहधर्मिणी हैं। लक्ष्मी की तरह पति के चरणों में न्यस्त



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हुए बिना भी सच्ची सती हैं। पति के सम्मान के लिए आत्मोत्सर्ग करने वाली हैं। अपने सतीत्व की सत्ता का बोध भी कराती हैं। अपनी सुन्दरता के बावजूद अपने रुखे-भूखे पति के प्रति अपनी भावनाओं को समर्पित करती हैं। लास्य नृत्य और ताण्डव का यह साथ पत्नी के लावण्य, कोमलता और पुरुष के पौरुष का सहवास है। शिव साधना में जड़ हैं तो भोग में अति भोगी भी हैं। इसी रूप में वह कुमार सम्भव का नायक बनते हैं। इसके साथ यही विषमता और समता का सिलसिला उनके सन्तानों के साथ आगे बढ़ता है। उनके पुत्र अति शक्तिशाली हैं तो अपनी रचना में विचित्र भी हैं। एक षडानन है तो दूसरा गजानन। मनुष्य और गज का यह समवेत निश्चय ही मनुष्य और प्रकृति की अद्वैतता का प्रतीक है। सबसे बड़ी बात है कि एक कृषक गृहस्थ की भाँति पूरा परिवार ही प्रकृति एवं प्राकृतिक जन्तुओं से जुड़ा है। शिव का वाहन बैल, पार्वती का वाहन सिंह, गणेश का वाहन चूहा और कार्तिकेय का वाहन मोर है। गणेश अपनी मानवीय एवं प्राकृतिक अद्वैतता में अग्रपूज्य हैं। उन्होंने जन-समुदाय के कल्याण का दायित्व लिया है और गणेश नाम की सार्थकता गण मानव की रक्षा से ही है। इसीलिए उन्होंने यमराज को चूहा बनाकर अपने जंघे में दबा रखा है। कृषि के संदर्भ में देखें तो कृषि का सबसे बड़ा विनाशक चूहा उनके नियंत्रण में है। बड़ा विषम है शिव का परिवार। अपार शक्ति के साथ कितनी विषमता है उनके जीवन में। अति कोमल सुन्दरी पत्नी जो उनसे कम शक्तिशाली नहीं है; उसके प्यार को जीतना, हाथी के मुँह वाले बेटे के ऊपर नियंत्रण। पूरे परिवार के विरोधी वाहनों की रक्षा का दायित्व। मोर उनके आभूषण सर्प को खा जाना चाहता है, पत्नी का वाहन सिंह शिव के वाहन बैल को खा जाना चाहता है। यही नहीं हाथी के मुँह वाले बेटे को खाना चाहता है। साँप तो सबका ही काल है। किन्तु इन विरोधी आचरणों के बावजूद शिव का परिवार एक कृषक परिवार की तरह निर्द्वन्द्व है, कलह वर्जित है लेकिन स्वतंत्र है। इतनी विषमताओं के बावजूद भी शिव अवढ़र दानी हैं, बम-बम भोले हैं। एक भारतीय कृषक की सच्ची भूमिका उनमें है।

यही कारण है कि अब युगीन जीवन के बदलते क्रम में शिव चरम मूल्य बनकर आते हैं। अब साहित्य और कला के सम्पूर्ण प्रतीक शिव ही बन जाते हैं। केवल काव्य या सरस्वती इस विषम जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। अतः नटराज के रूप में शिव नृत्य, चित्र और साहित्य के देवता बन जाते हैं। अर्द्धनारीश्वर की भूमिका में नारी मूल्यों के वाहक भी बनते हैं। गंगा और चन्द्रमा के साथ उनको काव्य का प्रतीक होने में सहजता मिलती है। नाटक की खोज के साथ अब शिव ही नाटक के अधिष्ठाता हो जाते हैं। नाटक के प्रतिनिधित्व के साथ शिव की सार्वजनीनता को देखना होगा। नाटक अपनी रचना से ही सार्वजनीन और सार्ववार्णिक रहा है। वह तीनों लोक की अनुकृति रहा है। भरत मुनि ने इस नाटक की उत्पत्ति के संदर्भ में कहा है कि वेद जब सार्ववार्णिक नहीं रहा तब देवताओं ने ब्रह्मा से पाँचवें वेद की रचना का अनुरोध किया। उन्होंने कहा—

*न वेद व्यवहारोऽयम संश्राव्यः शूद्रजातिषु।*
*तस्मात् सृज अपरं वेदसं पंचमं सार्ववार्णिकम् ॥*

ब्रह्मा ने स्वीकृतिपूर्वक पाँचवें वेद नाटक की रचना की।

*जग्राह्य पाठ्यम् ऋग्वेदात् सामेभ्यो गीतमेव च।*
*यजुर्वेदादभिनयान् रसान अथर्वणादिऽपि ॥*

और कहा—

*शोकार्त्तानां, दुखार्त्तानां, श्रमार्त्तानां, तपस्विनां।*
*विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतन्मयाकृतम् ॥*

इस प्रकार यह पाँचवाँ वेद नाटक 'तैलोक्यास्य अनुकरणं' हुआ और उसके प्रतीक पंचानन शिव हुए। आधुनिक काल में युगीन सामाजिकता एवं सार्वजनीनता



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

की अपेक्षा के अनुसार भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं का आरम्भ नाटकों से ही किया। इस जन-आग्रह की भूमिका में शिव और शैव साहित्य का मूल्यांकन अपेक्षित है। इसका स्रोत संस्कृत के शैव साहित्य में भी देखा जा सकता है। समयानुसार कुछ दृष्टान्त देने की चेष्टा की जाएगी।

स्त्री-विमर्श या स्त्री की मूल्यात्मक चेतना के संदर्भ में वेदों का अवलोकन करना समीचीन होगा। वेदों में नारी की क्या भूमिका रही है। उसी के साथ कुछ दूर तक संस्कृत साहित्य का भी मूल्यांकन किया जाएगा।

आदिम काल में यों कहें तो वैदिक दृष्टान्तों से ऐसा जान पड़ता है कि नारी की वस्तुस्थिति पुरुष से कम नहीं थी। अनेक ऐसी ऋषिकाएँ रही हैं जो वेदों की भन्त द्रष्टा रही हैं। उनमें प्रमुख हैं—ममता, रोमशा, लोपामुद्रा, अदिति विश्वतारा, अंपाला, घोषा, शची, पौलोमी, गोधा, वागाभृणी, श्रद्धा, कामायनी आदि। गार्गी और मैत्रेयी जैसी विदुषियों की कहानियाँ भी प्राचीनकाल से प्रसिद्ध हैं। उपनिषद् एवं जैन-बौद्ध साहित्य में भी थेरी गाथाओं की अनेक रचयिता हैं।

भारतीय आर्ष ग्रन्थों में 'स्त्री' की मूल अवस्था का निदर्शन उनके लेखन से ही प्रमाणित होता है। ऋग्वेद में एक श्लोक है—

*युवां ह घोषा पर्यश्विना यतो राज्ञ ऊचे दुहिता पुच्छै वा नरा।*
*भूतं में अहन् उत् भूतभक्तवें श्वायते रघिने शक्तभर्वते।*

10/40/4

(मैं राजकन्या घोषा, सर्वत्र वेद की घोषमा करने वाली, वेद का संदेश सर्वत्र पहुँचाने वाली स्तुति पाठिका हूँ। हे देव, मैं सर्वत्र आपका यशोगान करती हूँ और विद्वानों से आपकी चर्चा करती हूं। आप सदा मेरे पास रहकर मेरे इन इन्द्रियरूपी अश्वों से युक्त शरीर रूपी रथ के साथ मेरे मन रूपी अश्व का दमन करें।) यह उदात्तीकरण होकर ऋषिका की विशिष्टता एवं सर्जनशीलता को प्रमाणित करता है। अनामिका ने इस संदर्भ में कहा है कि—''जिस आत्मानुशासन की अपेक्षा यहाँ स्त्री को स्वयं से है, वह परिष्कृत मनीषा वाली समधीत स्त्रियों की एक पूरी परम्परा की ओर हमारा ध्यान खींचती हैं जो ब्रह्मवादिनी कहलाती थीं और इस निश्चिन्तता से शास्त्रार्थ करती हुई दिग्भ्रमण करती थीं, जैसे आज की विदुषियाँ।'' आगे उद्धृत करती हैं—

*युवां मृगेव वारणा मृगण्यंवो दोवावस्तोर्हविषा निह्वायामेह।*
*युवम् होत्रांतथा जुह्वेत नरेशंजनाय बहवः शुभस्यती।*

ऋग्वेद 10/40/5

(हे नायक अश्विनी कुमारों! जिस प्रकार शिकारी बड़े-बड़े सिंहों का मृगया में पता लगाते हैं, वैसे ही हम ब्रह्मचारिणी कन्याएँ भी रात-दिन प्रेमपूरित हविष्य द्वारा आपका आह्वान करती हैं।)

ये ब्रह्मवादिनी कन्याएँ भौतिक सुखों से विरत नहीं हैं। घोषा अपनी प्रार्थना में कहती है—

*जीवं रुदन्तिव मन्यते अध्वरे दीर्घामनु प्रसीतिदीघियुक्षरः*
*वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरेमयः पतिभ्योः जनयः परिष्वजे।*

ऋग्वेद 10/40/10

(जब भी कोई ब्रह्मवादिनी ब्रह्मचारिणी नारी लक्षणों से सम्पन्न होकर कमनीय वर की इच्छा करे, उसे उसकी मनोदशा के अनुकूल वर मिले। पति के घर वधू को जीवन के सभी साधन सुलभ रहे और सदा वह गृह में दया, परोपकार, उदारता और शालीनता आदि गुण नदी के प्रवाह की तरह गतिशील बने रहें। निश्चय ही पूरे परिवार से स्त्री-विकास हेतु अनुकूल परिवेश देने की अपेक्षा व्यक्त है।

ऋक् संहिता के दशम मण्डल के 109वें सूत्र में जुहू की कथा उद्धृत की जा सकती है। वृहस्पति परित्यक्ता पत्नी जुहू को पुनः स्वीकार करने के लिए बाध्य होते हैं—


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

*पुनर्वै देवा अददु: पुनर्मनुष्या उत।*

*राजान: सत्यं कृण्वाना ब्रह्मजायां पुनर्ददु:*

*पुनर्दाय ब्रह्मजाया कृत्वो देवैर्निकिल्विषम्।*

*अजं पृथिव्या भक्तत्वायोरुगायमुपासते।*

सूर्या सूक्त के तैंतीसवीं ऋचा से यह पता चलता है कि उस समय पर्दा प्रथा नहीं थी। पति स्वयं लोगों से अपनी पत्नी को देखने का आग्रह करता है।

*सुमङ्गलीरियं वधूरिमा समेत पश्यत।*

निश्चय ही नारी की मुक्तावस्था तथा पूर्ण अधिकार की भूमिका जाहिर होती है।

अट्ठाइसवें सूक्त से पता चलता है कि सास-ससुर के साथ बहुएँ (एक थाली में) खाती थीं)

*विश्व ह्यन्योअरिराजगाम ममेदह श्वसुरो ना जगाम।*

(सब देवता मेरे यज्ञ में आ गये हैं; किन्तु अभी तक मेरे ससुर इन्द्र नहीं आये, यदि आ जाते तो भुने जौ के साथ वे भी सोम-पान करते।)

इसी अनुकूल स्थिति में वागाभ्भृणी आदि तेजस्वी स्त्रियों का आत्मविश्वास इतना प्रखर हुआ और वे कह सकीं—

*अह्मेव वातइव प्रवाम्यरममाण्य भुवनानि विश्वापरो*

*परो दिवापर एना पृथिव्यैतावनी महिना सं बभूव।*

(हे विज्ञ! मैं जो कहती हूँ, वह पूर्ण यथार्थ है; मुझे न मानने वाले क्षीणता को प्राप्त होते हैं, मैं देवताओं और मनुष्य के परम पुरुषार्थ की उपदेशिका हूँ, मेरी कृपा से ही लोग बलवान, मेधावी, स्तोता और कवि बनते हैं।)

*अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभि*

*यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषि तं सुमेधाम।*

*ऋक्: 10/125/5*

(मैं जब सृजन कार्य करती हूँ, तो मेरी गति वायु के समान होती है। मैं अपने महत्त्वपूर्ण कार्यों में महिमामयी होकर आकाश और पृथ्वी की सीमाओं को भी लाँघ चुकी हूँ।)

ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक सौ आठवें सूक्त की ऋषिका सामा मानी जाती हैं। गोधन चुराने वाले पणियों के पास पहुँचती हैं तो उसे नाना प्रलोभन दिया जाता है; नवम मंत्र में बहिन बनाने का आश्वासन दिया जाता है तो प्रस्ताव को वे ठुकरा देती हैं—

*नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गि रसश्च थोरा:।*

*10/108/10*

(मैं किसी भाइचारे को नहीं जानती)

नारी और पुरुष के उत्तरदायित्व में और आत्मबल में कोई अन्तर नहीं दीखता। वह केवल कोमलांगी मात्र नहीं है। निश्चय ही सामा की शक्ति से पणियों को भय हुआ होगा अन्यथा वे समझौता न करते।

(उर्वशी पुरुरवा से कहती है कि स्त्री का हृदय भेड़िए के समान होता है; वह कोई सम्बन्ध नहीं जानती।)

*यजुर्वेद 22/22*

सम्यक् सामाजिक दृष्टि से परिपूर्ण स्त्री मन्त्र-द्रष्टाएँ भी रही हैं, देखें—ऋग्वेद 10/85/33।

अथर्ववेद संहिता में एक पूरा काण्ड ही इस बात को व्यक्त करता है कि सती प्रथा का अस्तित्व नहीं था, विधवा विवाह का प्रचलन था।

*अपश्यं युवति नीयमानां जीवं मृतेभ्य: परिणीयमानम्*

*अन्धेन यत्तमसा प्रावृतासीत्प्रोक्तो अपाचीवम वयं तदेनाम्॥*

*अथर्ववेद संहिता 18/3/1-2*

मृतक पति के साथ चिता में लेटी स्त्री को देखने के बाद मैंने वहाँ से हटाया जो शोक-रूपी घनान्धकार से आवृत्त थी। वेन राजा ने जबरदस्ती विधवाओं का पुनर्विवाह करवाया था। ऋग्वेद संहिता के (10/18/8) में एक विधवा स्त्री को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि तुम मृत पति को छोड़कर भावी पति को प्राप्त करो—


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

*उदीस्त्रं नार्यभि जीव लोकं गतासुमेतमुपशेष एहि हस्त ग्रामस्य दधिपोस्तवेदं पत्युज मित्यभमि सं बभूव।*

महर्षि यास्क ने निरुक्त (1/3/15) में देवर शब्द का अर्थ 'द्वितीय वर' किया है। अत: पति की मृत्यु के बाद द्वितीय विवाह की प्रथा थी।

*विधवेव देवरं देवर: तस्माद् द्वितीयो वर उच्यते।*

योग वशिष्ठ में भी देवर से विवाह करने का अधिकार नारी को दिया गया है। 'नारी तु पत्याभावे दैवरं च वृणेतु'। यही नहीं उन पाँच स्थितियों में जिससे नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा नष्ट होती हो, पति परित्याग का अधिकार है। 'मेधा तिथि' में भी नारी के अनेक अधिकार उल्लिखित हैं।

मनुस्मृति तक आते-आते स्त्री अपने अनेक अधिकार से च्युत हो जाती है। उसमें विवाह-विच्छेद करने वाली स्त्री जन-समूह के सामने कुत्तों से कटवाने का विधान है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विवाह-विच्छेद के प्रावधान का उल्लेख है। 3/2/17-19 में कौटिल्य कहते हैं कि जब स्त्री-पुरुष दोनों एक-दूसरे से द्वेष करते हों तो उन्हें अलग किया जा सकता है।

विवाह सूक्त एवं अथर्व संहिता तक पहुँचकर कन्या से पुत्र संतान को श्रेष्ठ माना जाता है। तैतिरीय संहिता और ऐतरेय ब्राह्मण में कन्या का जन्म शोक का कारण बन जाता है। बाराह गृह्य-सूत्र में कन्या का जन्म प्रसन्नता का कारण बताया गया है। बाल्मीकि रामायण में राम कहते हैं—''सीता के सभी भाव सचमुच मुझमें समाहित थे और मेरे भाव सीता में।'' आज भी इन्दुमती के लिए रघुवंश में विलापपूर्वक कहते हैं—

''इन्दुमती मेरे घर की शोभा, मन्त्रणा के समय मन्त्री, भोजनादि के समय सखी, ललित कलाओं के ग्रहण के समय शिष्या थी।'' *रघुवंश 8/67*

इस प्रकार मूल्यों और मूल्यहीनताओं के बीच स्त्री का सामाजिक जीवन अग्रसरित रहा है।

'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' में डॉ. सुमन राजे ने नारी शक्ति का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि—''शक्ति सूक्त आत्मविश्वास की पराकाष्ठा है, जो अन्न खाता है, वह मेरी ही शक्ति से खाता है, जो देखता है वह मेरी ही शक्ति से, जो साँस लेता है, कही हुई बात सुनता है वह मेरी ही सहायता से, जो मुझे इस रूप में नहीं जानते, वे न जानने के कारण ही हीन दशा को प्राप्त होते हैं।''

सबको अधिकार में रखने वाली और सर्वशक्तिमान नारी कैसे अबला और विवशा हो गयी। सोचने की बात है। वेद से भी अनेक उद्धरण लिए जा सकते हैं और उनका स्त्री विमर्श की भूमिका में अर्थ ग्रहण की अपेक्षा है। वैदिक काल की नारी अपनी पूर्ण सत्ता को प्राप्त थी। पता नहीं क्यों उसी वेद-परम्परा का निर्वाहक पुरुष वर्ग ने क्यों भारतीय नारी की हीनतर स्थिति की। उसे हर प्रकार के बंधन में रखा। अशक्या और मूर्खा समझा। उसे सारे अधिकारों से वंचित किया।

कुछ प्रमुख बारतीय पौराणिक नारी चरित्रों का मूल्यवादी विश्लेषण करते हुए अनामिका ने 'स्त्री अस्मिता' का सवाल उठाया है और अतीत में उसके उत्तर की भी तलाश की है। इन पौराणिक चरित्रों को मानववादी दृष्टि से देखने का यह नया प्रयास है।

सीता के संदर्भ में वे कहती हैं कि—''सीता को मूक आज्ञाकारिता के कटघरे में जड़ने वाले यह क्यों भूलते हैं कि सीता का सबसे बड़ा सच है लक्ष्मण रेखा लाँघ जाना यानी आपात स्थिति में अपने विवेक के हिसाब से नियमावलियों में परिवर्तन का साहस। ... जीवन में दो-चार निर्णय गलत भी लेने चाहिए। वे अक्सर बड़े प्रयोजन का द्वार सिद्ध होते हैं। —यह भी अजब संयोग है कि क्राइस्ट, शकुन्तला पुत्र भरत, जाबाल और शिवजी से लेकर अब तक जितने महापुरुष हुए हैं, उनमें से अधिकांश अकेली माँओं के ही बेटे थे। किसी को प्रायश्चित का मौका दिये बिना सीता जो धरती में समा गयीं, वह भी एक


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भुखर प्रतिरोध ही था।'' यह भी नये सिरे से सोचने की बात है कि कुँवारी सीता जिस धनुष को उठाकर दूर रख देती है उसी को रावण दस हजार राजाओं के साथ मिलकर हिला नहीं पाता है, वही सीता विवाह के बाद रावण द्वारा अपहृत हो जाती हैं। कहाँ गयी एक कुँवारी कन्या की शक्ति?

सावित्री के संदर्भ में उनका कथन है कि—''सावित्री का तेज भी कम विलक्षण नहीं है। यम अपने ठेठ अर्थ में एक परम पुरुष ही तो था, कायदे से जिसकी छाया भी जीते-जी उन पर नहीं पड़नी थी, पर उन्होंने हिम्मत की, नियमावलियाँ ताख पर रखीं, उसके पीछे गयीं, उसे बहस में हराया और अमीप्सित प्राप्ति करके लौटीं। यदि वे अन्तर्मुखी होकर घुटती रहती तो अपने दु:ख के दुर्ग से बाहर नहीं निकलती। क्या उनकी नियति बदल जाती।''

इसके साथ यह भी सोचना जरूरी है कि उस समय एक स्त्री को कितना अधिकार प्राप्त था और वह कितनी मुक्त थी। सावित्री अपना वर स्वयं खोजने निकलती है और वन में क्रीड़ारत एक नवयुवक को देख आकृष्ट होती है। उससे बिना स्वीकृति लिए ही मनसा, वाचा वरण कर लेती है। अपने निर्णय के प्रति कितनी दृढ़ है। एक मात्र सत्यवान को ही वर रूप में ग्रहण करेगी। हो सकता था कि सत्यवान इन्कार कर देता। बिना पूछे यह दृढ़ निश्चय इस बात को प्रमाणित करता है कि उस समय एक लड़की को इतना अधिकार प्राप्त था कि उसके निर्णय को किसी भी पुरुष को मानना ही होगा। उस समय कन्या पर्दे में नहीं रहती होगी। कभी भी सावित्री जैसी सती घूँघट में नहीं दिखायी गयी है।

पार्वती के चरित्र का विश्लेषण करते हुए अनामिका लिखती हैं कि—''एक अन्य रोचक चरित्र पार्वती का है। उन्होंने सबसे पहले बगावत तो पिता से की, फिर उस पूरी सम्भ्रान्तवादी (इलिटिस्ट) व्यवस्था से, जो अविकसित जनजातियों को भूत-पिशाचादि से एकाकार करके देखती है और किसी सामाजिक समारोह (यज्ञादि) में उसे बराबरी का दर्जा नहीं देती। पिता के जिस असंगत व्यवहार के प्रतिकार में वे आग में कूदीं, उसमें पति ही नहीं, उनके सब गण-दूतों की अवज्ञा शामिल थी। सीता के समान ही यह प्रतिरोध था। खुदबी की खनक पार्वती में तो इतनी थी कि जिस शिव को उन्होंने इतनी तपस्या से पाया, नाराज होकर एक दिन उन्हें भी छोड़ चलीं—प्राय: दौड़ती हुई, पीछे मुड़कर भी नहीं देखा। पर शिव तो शिव थे नंगे पाँव उनके पीछे दौड़े और उन्हें मना ही लिया। इसी पुनर्मिलन के स्मृत चिह्न के रूप में झेलम नदी की सृष्टि हुई।'' अपनी इच्छा से पति वरण करने के अधिकार में जीने वाली पार्वती शिवत्व में शक्ति का समन्वय हैं। शैव प्रातिभिज्ञान में पार्वती शक्ति की प्रतीक हैं। बिना शक्ति के शिव शव हैं। पुरुष की सचेतन शक्ति नारी ही है। पुरुष में नारी और नारी में पुरुष की सत्ता का समन्वय ही तो 'अर्धनारीश्वर' है। दूसरी बात है कि पुरुष प्रकृति विग्रह में पार्वती पहली प्रकृति रूपा विग्रह हैं जो गृहस्थ नारी हैं जो परिवार के निर्माण में सन्नद्ध हैं। एक गृहस्थ नारी के रूप में पाक-रचना में भी प्रवीण हैं। वे गौरी, सौरी और नल तीन विधियों से भोजन बनाती हैं। शिव प्रथम कृषि देवता हैं तो पार्वती प्रथम गृहस्थ नारी हैं जो सारे पारिवारिक वैषम्य में समन्वय स्थापित करने में सक्षम हैं। पार्वती का परिवार मानव और प्रकृति का संकुल भी है। पशु और मानव का ऐसा समन्वय और कहाँ मिल सकता है। कोमलता और शक्ति का समन्वय भी पार्वती हैं। पर्वत जिस प्रकार दूर से कोमल एवं रमणीय दीखता है, प्रत्यक्ष उतना ही कठोर भी होता है।

दुर्गा, काली और चण्डी के संदर्भ में अनामिका की व्याख्या निम्नवत् है।''जड़ीभूत कामना (पेट्रिफाइड लोगिंग) के मिथ से सर्वथा अलग, सचेतन शक्ति के दो बिम्ब



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दुर्गा-काली के भी हैं; पर 'चण्डी' एक तरह की गाली ही हैं जो थोड़ा क्रोध दिखाने पर स्त्रियों को दी जाती है। मजबूत स्त्रियाँ होने पर भी दुर्गा-काली व्यक्तित्व के रूप में स्वतंत्र नहीं हैं। ..... समस्त देवतागण अपना तेज संचित कर इनकी मूर्ति गढ़ते हैं, फिर निर्देश देते हैं कि ये क्या करें, क्या न करें—एक खास तरह के अभियोजित (Programed) चरित्र के रूप में वे सामने आती हैं। ... अपने उग्र प्रतिक्रियावाद के कारण इनका रूप प्रथम चरण के फेमिनिस्टों से मिलता-जुलता है, जबकि पार्वती और सीता-सावित्री का तीसरे चरण की समन्वयवादी, सुस्थिर (इंटिग्रेटेड) फेमिनिस्टों से।''

यह मान्यता कितनी निरर्थक सिद्ध होती है कि नारी स्वभाव से भीरु होती है। 'काली' काल की भी नियन्ता हैं। पुरुष के ऊपर नारी के आधिपत्य की अपेक्षा के रूप में 'काली' ने शिव की छाती पर पैर से आघात किया। यह पुरुष पर नारी के विजय का अभियान है। वस्तुत: ये नारी रूपा देवियाँ जिन राक्षसों का वध करती हैं, वे पुरुष रूप ही हैं।

नारी को उसके 'स्त्रीलिंग' से अलग महत्त्व देने के सन्दर्भ में सरस्वती की नयी व्याख्या बड़ी विशिष्ट है। 'सरस्वती' ब्रह्मा की पुत्री थीं, पर ब्रह्मा ने उनसे समागम किया। 'इनसेस्ट' का यह आदिकालिक उदाहरण है और अपने आप में बड़ा सांकेतिक भी। ... औंधे मुँह गिरकर सरस्वती उठीं और संपूज्य हुईं और ब्रह्मा की आज तक कहीं पूजा नहीं होती। इस तरह के हादसों से व्यक्तित्व में जो संजीदगी आती है; वह उनके विद्याभ्यास के लिए अपेक्षित दृढ़ता का अवलम्ब ही हुई होगी, एक वितृष्णाकारी हादसे से किसी की शुचिता बाधित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।'' ..... इस बलात्कार के बाद भी सरस्वती की प्रतिष्ठा अपना सामाजिक अर्थ रखती है जबकि बलात्कार के कारण ही अहल्या को लेकर बवण्डर खड़ा किया गया और उसे जड़ पत्थर बना दिया गया। उसके उद्धार के लिए पुन: पुरुष के चरण-रज की अपेक्षा है। पुरुष के बलात्कार का वाण पुरुष के चरणों में गिरकर प्रायश्चित करता है। निश्चय ही यौन-शोषण की शिकार लड़कियों के सामने सरस्वती बहुत बड़ा आदर्श हैं। ... लक्ष्मी के संदर्भ में अनामिका का मत है कि ''लक्ष्मी तो शुरू की आधुनिक हैं, क्योंकि वे कभी कैद नहीं रहतीं और उल्लू की सवारी करती हैं जो बहुत सांकेतिक है।''

अत: प्राचीन साहित्य में सतीत्व से बढ़कर स्त्रीत्व की पहचान को विश्लेषित किया जाना चाहिए। स्त्री-विमर्श का स्रोत संस्कृत साहित्य में अन्वेष्य है।

संस्कृत साहित्य में आधुनिक हिन्दी साहित्य की चेतना के स्रोतान्वेषण के संदर्भ में स्त्री-व्रिमर्श के स्रोत की चर्चा की गयी। लगे हाथ शूद्र या अत्यज वर्ग की मूल्यात्मक स्थिति एवं दलित-विमर्श के स्रोत पर दृष्टिपात किया जाना अपेक्षित है। यह अनिवार्य सा भी है कि विशाल संस्कृत-साहित्य में इन नये मानवीय अर्थों की खोज की जाय।

सर्वप्रथम पुराणों की ओर जाना उचित होगा। पुराणों में शूद्र 'रोमहर्षण' के पुराणादि के ज्ञाता होने की बात कही गयी है। इतिहास-पुराण विधा में व्यास जी के प्रधान शिष्य श्री रोमहर्षण थे—

*प्रख्यातो व्यासशिष्योऽभूत सूतो वै रोमहर्षण:।*
*पुराण संहिता तस्मै तदौ व्यासो महामुनि:।*

वेद व्यास ने पुराण निर्माण महाभारत रचना से पूर्व; वेद विभाग करने के अनन्तर किया था। इस तथ्य का समर्थन बलदेव द्वारा रोमहर्षण के बध काण्ड से भी होता है। बलदेव तीर्थ यात्रा उस समय कर रहे थे जबकि महाभारत युद्ध कुरुक्षेत्र में हो रहा था; तब रोमहर्षण नैमिषारण्य में ऋषियों को पुराण सुना रहे थे—

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

*पुराणमखिलं तात पिता तेऽधितवान पुरा।*
*क्वचित् त्वमपि तत् सर्वमधीषे लोम हर्षणे।*
*पुराणेहि कथा: दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्।*
*कथ्यन्ते ये पुरास्माभि: श्रुतपूर्वा: पितुस्तव॥*

*(आदिपर्व 5/2-3)*

''हे उग्रश्रवा जी! आपके पिता ने समस्त पुराणों का अध्ययन किया था, क्या आपने उन सब पुराणों का अध्ययन किया है। पुराणों में आदि वंशों की और ऋषियों की दिव्य कथाएँ वर्णित हैं जो पहले आपके पिता ने हमको सुनाई थी।''

पद्म पुराण में व्यास शिष्य रोम हर्षण का वृत्तान्त इस प्रकार मिलता है—

*ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च कौर्मं मात्सयं च वामनम्।*
*वाराहं ब्रह्मवैवर्तं नारदीय भविष्यकम्।*
*आग्नेयमर्धं वे सुताच्छुश्रुवुर्लोमहर्षणात।*
*एतानि तु पुराणानि द्वापरान्ते श्रुतानि हि।*
*शौनकपैर्मुनिवरै: यज्ञारम्भात् पुरेव हि।*
*यदां तु तीर्थयात्रायां बलदेव: समागत:।*
*नैमिष मिश्रिकं नाम समाहूतो मुनीश्वरै:।*
*तत्र सूतं समासीनं दृष्ट्वा त्वध्यासनोपरि।*
*चक्षुभे भगवान राम: पर्वणीव महोदधि:।*
*मूढ़ो दर्भकरो राम: प्राहरल्लोभहर्षणम्।*

''शौनकादि मुनियों ने नैमिषारण्य में रोमहर्षण से ब्रह्म पुराण, विष्णु पुराण, कूर्म पुराण, मत्स्य पुराण, वामन पुराण, वाराह पुराण, ब्रह्म वैवस्वत पुराण, नारद पुराण, भविष्यत् पुराण (आधा), अग्नि पुराण सुना। जब मुनियों द्वारा समाहूत बलदेव नैमिषारण्य में आये तो उन्होंने उच्चासन पर विराजमान सूत जी को पुराण सुनाते हुए देखा। तब मूर्ख बनकर दर्भ से क्रुद्ध बलराम ने सूत का बध कर डाला।''

इस कृत्य को देखकर शौनक को घोर दु:ख हुआ। उन्होंने कहा—''बलभद्र! तुमने हमारे गुरु का वध करके घोर अनर्थ किया है।'' बलराम ने कहा—''यह शूद्र जातीय सूत ब्राह्मणों को पढ़ाये यह उचित नहीं है, इसलिए इस पाप कार्थ के कारण मैंने इसका वध किया है।'' शौनक ऋषि ने कहा—''बलराम! नीच जातीय पुरुष से भी उत्तम विद्या का अध्ययन कर लेना चाहिए, यह धर्मशास्त्रकारों ने कहा है। पुन: रोमहर्षण तो ब्राह्मणतुल्य ऋषि और हमारे गुरु थे।''

यह सुनकर बलराम को अपने कुकर्म पर पश्चाताप हुआ और उन्होंने शौनक ऋषि से निवेदन किया—भगवन्! इस रोमहर्षण का पुत्र उग्रश्रवा इससे भी अधिक पुराण विशेषज्ञ है, मैं उसको आपके पास लाये देता हूँ। उससे आप पुराण विद्या को अध्ययन कीजिए।

शेष पुराणों का प्रवचन रोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवासौति ने किया। वायु पुराण के अनुसार रोमहर्षण सूत के छ: पौराणिक शिष्य थे, जिन्होंने पृथक्-पृथक् पुराण संहिताएँ प्रकाशित कीं।

इस प्रकार शूद्रों के द्वारा विद्यार्जन तथा ब्राह्मणों के भी गुरु होने की बात पुष्ट होती है। साथ ही सामन्ती व्यवस्था में शूद्रों के हनन की बात आती है। इन प्रसंगों में शूद्र के गुरुत्व को स्वीकार करने में बाधा कहाँ से आती है। शूद्रों के पुन: मूल्य-प्रतिष्ठा में इन साहित्यिक प्रसंगों का आधार उन्हें ठोस जमीन प्रदान करता है।

शूद्र बध के एक अन्य प्रसंग को इसके साथ देखना समीचीन होगा। उत्तर रामचरित में भवभूमि ने 'शम्बूक वध' के कारण राम के ऊपर प्रश्न-चिह्न खड़ा किया है। इस गलत और निरर्थक परम्परा में इतना उच्च चरित्र भी स्खलित हो जाता है। उत्तर रामचरित के द्वितीय अंक (पंचवटी प्रवेश:) में आत्रेयी कहती है—

अत्रान्तरे ब्राह्मणेन मृतं पुत्रमुत्क्षिप्य राज द्वारे सोरस्ताडमब्रह्मण्यमुद्घोषितम्। ततो न राजापचारमन्तरेण

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रजास्वकालमृत्युः संचरतीत्मात्मदोषं निरुपयति करुणाभये रामभद्रे सहसैवाशरीरिणी वागुदचरत्—

*शम्बूको नाम वृषलः पृथिव्यां तप्यते तपः।*
*शीर्षच्छेद्यः स ते राम तं हत्वा जीवय द्विजम्॥*

(इसी बीच में ब्राह्मण द्वारा मरे हुए पुत्र को राजद्वार पर फेंककर छाती पीटते हुए 'ब्राह्मण पर महान् संकट आया है, रक्षा कीजिए' ऐसा उच्च स्वर से घोषित किया गया। तब 'राजा के धर्म व्यतिक्रम के बिना प्रजाओं में अकाल मृत्यु नहीं होती' इस प्रकार दयामय रामभद्र के विचार करते हुए अकस्मात् आकाशवाणी आविर्भूत हुई। शम्बूक नाम का शूद्र पृथ्वी में तपकर रहा है। हे राम! वह तुम्हारे द्वारा शिर काटे जाने योग्य है; उसे मारकर ब्राह्मण पुत्र को जीवित करो। ऐसा सुनते ही खिंची हुई तलवार है हाथ में जिसके ऐसे जगदीश्वर (राम) ने पुष्पक विमान पर चढ़कर शूद्र तपस्वी को ढूँढ़ने के लिए सब दिशाओं तथा विदिशाओं में घूमना आरम्भ कर दिया है।)

यहाँ राजा के धर्म व्यतिक्रम के बिना प्रजा की अकाल मृत्यु नहीं होती—लेकिन प्रजा शूद्र नहीं होता केवल ब्राह्मण या उच्च वर्ण ही प्रजा है? इस विवाद को कहीं-न-कहीं संकेतित करते हैं भवभूति। राम का चरित्र सवर्ण की रक्षा के लिए शूद्र को मारने चलता है। इस प्रसंग को लाना ही विश्लेषण को सामने रखना है।

यही नहीं जब सीता तमसा से 'निष्कारण परित्यागिनो' की बात कहती हैं तो अपनी शालीनता के साथ अपनी चेतना को व्यक्त करती हैं। अपनी मानसिक स्थिति के बारे में बयान न कर पाने तक पहुँचाकर बहुत कुछ कह देती हैं।

सीता—

*भगवति तमसे, तथा निष्कारण परित्यागिनोऽप्येतस्यैवंविधेन दशनेम कीदृश इव मे हृदयानुबन्ध इति न जानामि।*

तमसा—

*जानामि वत्से, जानामि।*
*तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशा-*
*द्वियोगे दीर्घेऽस्मिञ्झटिति नात्स्तम्मितमिव।*
*प्रसन्नं सौजन्याद दयितकरुणैगढिकरुणं*
*द्रवीभूतं प्रेण्णा तव हृदयमस्मिन्क्षण इव॥*

(सीता—भगवति तमसे, उस प्रकार बिना कारण के ही निर्वासित करने वाले के भी इस प्रकार के दर्शन से मेरी मानसिक स्थिति कैसी हो गयी है, यह नहीं जानती हूँ।

तमसा—जानती हूँ बच्ची, जानती हूँ। तेरा हृदय इस क्षण में (पुनः समागम की; आशा के अभाव में उदासीन (विरक्त) और (निष्कारण परित्याग रूप) अहित के कारण कालुष्यपूर्ण (अप्रसन्न) इस लम्बे (आमरण) वियोग में आकस्मिक समागम से जड़ीभूत सा (राम) की सुजनता से प्रीतियुक्त, प्रिय के शोकों से घने शोक वाला, (तथा) प्रेम से पिघला हुआ-सा है।)

पति के अकारण परित्याग से उत्पन्न कलुषता तथा जड़ीभूत अवस्था विवेचन करके कवि ने नारी-संवेदना की प्रस्तुति की है। भवभूति की काव्य-चेतना में आधुनिक चेतना का संकेत मिलता है। स्त्री-विमर्श की भूमिका में भवभूति की काव्य-चेतना को ग्रहण किया जाना चाहिए। भवभूति की करुणा निश्चय ही नारी के प्रति व्यक्त करुणा है जो सहानुभूति की भूमिका में नारी-संवेदना की पक्षधर है।

इसी प्रकार संस्कृत साहित्य में अभिव्यक्त सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीति आदि स्थितियों का आज के संदर्भ में मूल्यांकन अपेक्षित है। इस प्रकार की चेतना का स्रोत अनेक ग्रन्थों में मिलता है। आर्थिक मूल्यों एवं गरीबी-अमीरी के वैषम्य की भूमिका अपनी प्रगतिशीलता में

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

'मृच्छकटिक' में देखी जानी चाहिए। 'मृच्छकटिक' में शूद्रक ने सोने की गाड़ी और मिट्टी की गाड़ी की बात को प्रस्तुत करके समाज में व्याप्त आर्थिक वैषम्य को चित्रित किया है। यही नहीं जब कवि का छोटा शिशु रोता हुआ वसन्तसेना के पास रदनिका की गोद में जाता है तब परिचय पूछे जाने पर और माँ हैं—ऐसा कहे जाने पर छोटा शिशु कहता है—ये मेरी माँ नहीं हो सकतीं। ये तो सोने का गहना पहनी हैं। यानी गरीब की स्त्री सोन नहीं पहन सकती। यही नहीं उस नाटक की प्रमतिशीलता और स्पष्ट होती है जब दासी रदनिका छठे अंक में ब्रह्ममुहूर्त में वसन्तसेना को जगाती है। आर्ये! अब उठ जाइये। प्रभात हो गया है। वसन्तसेना (उठकर) कहती है क्या रे रात रहते ही सबेरा हो गया? दासी—हाँ महारानी! हम गरीबों के यहाँ रात रहते ही सबेरा हो जाता है। निश्चय नाटककार उस समाज के यथार्थ को प्रगतिशीलता के साथ प्रस्तुत करता है।

इसी प्रकार अनेक साहित्यिक रचनाओं में आधुनिक चेतना का उत्स ढूँढ़ा जा सकता है। इस आधुनिकता को केवल विदेशी मान लेना उचित नहीं है। सबका वर्णन यहाँ सम्भव नहीं। कुछेक रचनाओं के साथ संस्कृत साहित्य की मूल चेतना में आधुनिकता को आधार भूमि या प्रमाण दिया जा सकता है।

यदि 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक का आधुनिक सामाजिक मूल्यों के संदर्भ में विश्लेषण करें तो देखते हैं कि वह एक सामाजिक मूल्यहीनता में कैसी जिन्दगी के मूल्यों की तलाश करने वाली रचना है। वस्तुत: कालीदास एक ऐसे वर्ग विशेष की महिलाओं की सामाजिक मूल्यहीनता से चिन्तित हैं जिनका सामाजिक अस्तित्व नहीं रहा है। राजाओं, महर्षियों आदि के यौवनगत प्रेम की परिणाम हैं ये महिलाएँ जो किसी-न-किसी अप्सरा से जात हैं। प्रणय की विभूति नहीं हैं। सुन्दरी अप्सराओं की कन्यायें समाज में स्वीकृति नहीं पाती थीं। ऋषियों के आश्रम में वे अपना बचपन और यौवन व्यतीत करती। अपने अपार प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण वे बड़े-बड़े राजाओं को आकर्षित तो कर सकती थीं; उनके बेटे की माँ हो सकती हैं किन्तु उन बच्चों का और उन महिलाओं का सामाजिक अस्तित्व नहीं था। यौवनगत मनोविज्ञान के तहत वे किसी के द्वारा भी भोग्या हो सकती थीं किन्तु अपने सारे मानवीय मनोभावों एवं आचारों के बाद भी उनकी सामाजिक अस्मिता नहीं थी। उनके सच्चे प्रेम की परिणति उनके पुत्र के भी सामाजिक अभिज्ञान की समस्या बराबर बनी है। यही शकुन्तला और शाकुन्तल (भरत) की सामाजिक मूल्यहीनता कालिदास का महान नाटक साहित्य बन जाती है।

वस्तुत: जब दुष्यन्त कर्ण्व ऋषि के आश्रम में नव युवती के प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण शकुन्तला को देखता है तो मानव मन की सहज भूमिका में उससे आकृष्ट होता है और गन्धर्व विवाह करके तत्काल उसे माँ बनने की भूमिका प्रदान करके उसे अकेला छोड़कर चला जाता है। जब तक उसकी मानवीय मनोभूमि बनी रहती है वह उसे याद रखता है। उसकी याद से दु:खी भी होता है। यहाँ तक कि उसका अनुराग असह्य भी होता है। वह धनुष की कोटि से पृथ्वी पर शकुन्तला का स्मृति-चित्र बनाता है। वह विदूषक से पूछता है कि विदूषक! चित्र कैसा बना है? विदूषक की भूमिका में कालिदास का सजग मन कह उठता है—महाराज! नगर के रहते गाँव में रत्न परीक्षा कैसे हो सकती है? निश्चय ही लगे हाथ कालिदास तत्कालीन समाज में धन के नगरीकरण की बात उठाते हैं। इसका मतलब उस समय तक धन का नगरीकरण हो चुका था। गाँव अभावमय था। गाँव और नगर के इस वैषम्य को अपने युगीन संदर्भ में कृष्ण-भक्ति साहित्य में हम चित्रित पाते हैं।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

राजा की भूमिका में जाने के बाद दुष्यन्त का शकुन्तला को भूल जाना स्वाभाविक था। नारी किसी की भी किसी समय भोग्या हो सकती है, पर पत्नी या रानी होने की योग्यता या पात्रता हर नारी में हरदम नहीं होती। ऐसे प्रेम से जात पुत्र को सामाजिक संदर्भ में मूल्य नहीं मिल सकता। किन्तु उसके विशिष्ट होने पर उसका पिता होना गौरव की बात होती है। जब पाँच वर्ष का भरत सिंह का दाँत गिन लेता है, तब वह दुष्यन्त का स्वीकृत पुत्र होता है और शकुन्तला से क्षमायाचना की जाती है। इसी वर्ग-विशेष की सामाजिक मूल्यहीनता और नारी भावना के तिरष्कार की भूमिका ही यह नाटक है। इसी मूल्यवादी चेतना के परिप्रेक्ष में उसका मूल्यांकन होना चाहिए।

इसी प्रकार माँ युवक-युवती के मनोवैज्ञानिक अर्हता के संदर्भ में ही मेघदूत का विश्लेषण अपेक्षित है। निश्चय ही इस खण्डकाव्य की प्रगीतात्मकता इस बात में है कि दाम्पत्य मिलन एवं रमण का अधिकार केवल स्वामी वर्ग में ही नहीं है, नौकर वर्ग के लिए भी उतना ही अनिवार्य है। स्वामी और सेवक के बीच मानव-मन की सही पहचान की समस्या ही तो मेघदूत है जिसमें कवि-अनुभूति बादल बनकर सहानुभूति और उससे भी आगे स्वानुभूतिमयी वेदना बन जाती है। पुरुष और नारी के मनोविज्ञान को आधार बनाकर लिखा गया यह ग्रन्थ यौवन की संवेदना का काव्य है।

वस्तुत: साहित्य की श्रेणी में आने वाली प्राय: सभी रचनाओं में हिन्दी साहित्य या किसी भी साहितत्य की नयी चेतना का स्रोत ढूँढ़ा जा सकता है। वस्तुत: सारा सस्कृत लेखन साहित्य नहीं था। राजाओं, सामन्तों एवं धार्मिक कर्मकाण्डों की पुष्टि हेतु लिखे गये ग्रन्थों को साहित्य मानना भूल होगी। रामायण-महाभारत स लेकर तमाम साहित्यिक रचनाओं की पुनर्व्याख्या की जा सकती है और की जानी चाहिए। अति आधुनिक इतिहास-दर्शन की दृष्टि से पुराण-सहित्य का भी पुनर्मूल्यांकन अपेक्षित है। आज की युगीनअर्थवत्ता एवं मूल्यवत्ता के संदर्भ में अतीत को एक अर्थ देना उस रचना विशेष को प्रासंगिक बनाना ही होगा। समय की माँग के अनुकूल ही संस्कृत साहित्य के उपजीव्य काव्य एवं उसके पात्र नये रूप में युगीन आवश्यकता-अपेक्षा को वहन करते हुए बदलते चले आ रहे हैं पर स्रोत तो संस्कृत साहित्य ही है।

## संदर्भ


1. उत्तर रामचरित्, भवभूति।
2. अभिज्ञान शाकुन्तल, कालिदास।
3. डॉ. कुँवरलाल व्यास शिष्य—संस्कृत ललित साहित्य का इतिहास।
4. अनामिका—स्त्रीत्व का मानचित्र।
5. डॉ. सुमन राज—हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास।


❑


हिन्दी भवन, विश्वभारती,

शान्ति निकेतन-73/235 (प.बं.)




CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य को पंजाब की देन

डॉ. रामनिवास शर्मा

पंजाब की देन—यह शब्द सुनने में जितना सुगम है, उतना सरल नहीं है। यह एक टेढ़ा सवाल है। क्या पंजाब का लेखक उसे ही माना जाय जो इस सूबे में बस रहा या बस रहा था? या पंजाब का लेखक उसे माना जाय जिसकी मातृभाषा पंजाबी है? चाहे वह भारत के किसी कोने में बस रहा हो या भारत से बाहर।

पंजाब का मानचित्र भी बार-बार बदलता रहा है—विभाजन पूर्व का विशाल पंजाब, दूसरा, पश्चिमोत्तर प्रान्त से देहली तक का पंजाब तथा तीसरा, खण्डित, विभक्त पंजाब। इस आलेख में पंजाब का लेखक उसे ही माना गया है जिनकी मातृभाषा पंजाबी है, जिनके संस्कार पंजाबी गन्ध लिए हुए हैं। भले ही अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त 'अज्ञेय' हों, विदेशों में रह चुके निर्मल वर्मा या बलदेव कृष्ण वैद्य हों, हम इन लेखकों को पंजाब का ही कहेंगे। प्रस्तुत आलेख में पंजाब के लेखक के संदर्भ में इसी दृष्टि को सामने रखा गया है।

साहित्य-रचनाधर्मिता के क्षेत्र में पंजाब प्रान्त अतीव उर्वरा रहा है। ''पंजाब को यह गौरव प्राप्त है कि प्रत्येक साहित्य-विधा का शुभारम्भ यहीं से हुआ। हिरदेराम भल्ला के हनुमन्नाटक (संवत 1680) को हिन्दी नाट्य विकास में सर्वप्रथम रचना-पद से हटाया नहीं जा सकता। इसी प्रकार उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना की विधाओं में प्रारम्भिक लेखकों की सूची पंजाबी नामों के बिना पूरी नहीं होती। श्रद्धाराम फिल्लोरी का उपन्यास 'भाग्यवती', चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था', बालमुकुन्द गुप्त की निबन्धावली और बालकृष्ण भट्ट की प्रारम्भिक आलोचनाएँ—जो उन्होंने 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित कीं—पंजाब के ही स्वर थे। यदि कविता के युग की बात करें तो पंजाब के योगियों, सिद्धों, नाथों ने अपने आध्यात्मिक अनुभवों से हिन्दी काव्य की नींव रखी।'' 15वीं शती से लेकर 19वीं शती के उत्तरार्द्ध तक पंजाब में ऐसे सैकड़ों



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

उत्कृष्ट ग्रन्थों की सर्जना हुई जिनकी भाषा ब्रज है, लिपि गुरुमुखी। कहने का अभिप्राय है कि पंजाब के हिन्दी रचनाकारों का साहित्येतिहास में ऊँचा स्थान है। यहाँ के मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का तो अभी मूल्यांकन ही नहीं हुआ वरना पंजाब का मध्यकाल हिन्दी कविता का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'ऊँ जय जगदीश हरे' जैसी महान् आरती का श्रीगणेश पंजाब की धरती से ही किया। साहित्य की आधुनिक विधाओं में भी पंजाब का विशिष्ट योगदान है। संक्षेप में इसका उल्लेख कर रहे हैं—

## कविता

आधुनिक कविता विभिन्न 'वाद' की कविता है जिसमें विभिन्न वाद या काव्यधाराएँ सागर में उठने वाली लहरों की भाँति उभरीं और समयानुसार धुँधली पड़ती गयीं। यद्यपि पंजाब में भी कविता अपने विभिन्न चोलों को बदलती हुई चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई, फिर भी यहाँ कविता की अपेक्षा कहानी, नाटक, उपन्यास की विधाएँ अधिक समृद्ध हुईं।

पंजाब की भौगोलिक संरचना के कारण यहाँ की स्थिति भारत के अन्य भागों से भिन्न रही है। इतिहास के सब बड़े-बड़े आक्रमण सबसे पहले पंजाब पर हुए। 1947 के बाद देश का विभाजन, साम्प्रदायिक दंगे, शरणार्थी समस्या, आतंकवाद, हर समय सीमा पर तनाव का वातावरण—इस सबको पंजाबियों ने भोगा है, झेला/झेल रहे हैं। ऐसे में उनका लेखन सहज ही यथार्थ और प्रगतिमूलक हो गया।

हमने यहाँ पंजाब की हिन्दी कविता को चर्चित काव्यान्दोलनों-वादों में विभाजित कर विवेचित-विश्लेषित न करके केवल प्रमुख कवि तथा उनके कविकर्म पर संक्षेप में प्रकाश डाला है।

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

**सुरेश वात्स्यायन ( 1934 )**

वात्स्यायन जी की गणना पंजाब के प्रतिष्ठित कवियों में की जाती है। अनेक मंचों, आकाशवाणी, दूरदर्शन, संगोष्ठियों से उनकी रचनाओं का प्रसारण श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करता रहा है। आप भारतीय संस्कृति के जीवंत चित्रकार तो हैं ही, साथ-साथ पुरातन संस्कृति की समकालीन संदर्भों में संगति बैठाने में भी सिद्धहस्त हैं।

आपके काव्य संग्रह—अंकुर, प्रवाल, मुकुल सैलानी इत्यादि हैं।

**कुमार विकल ( 1935 )**

यदि ईमानदारी से समकालीन कविता की पड़ताल की जाए तो वे कवि ही इतिहास और लोक-मानस में टिकते दिखाई देंगे, जिनमें रचनात्मक क्षमता, ईमानदार आस्था के साथ-साथ सामाजिक सरोकारों की शक्ति है। कवि कुमार विकल का रचना-संसार इस कसौटी पर खरा उतरता है। इनकी लोकप्रिय रचनाओं में एक छोटी सी लड़ाई (1980), रंग खतरे में है (1982), निरूपमा में बहुत उदास हूँ आदि कालजयी कृतियाँ हैं।

**नरेन्द्र मोहन ( 1935 )**

विचार कविता के अग्रणी कवियों में नरेन्द्र मोहन की राष्ट्रीय स्तर पर पहचान है। कवि समसामयिक जीवन की विद्रूपता, विषमता, वर्जनाएँ, एकाकीपन की अभिव्यक्ति संवेदनशील रूप में करता है। इनकी रचनाओं में इस हादसे में (1975) सामना होने पर (1979) एक अग्निकाण्ड जगहें-बदलता हुआ (1982) विशेष रूप से चर्चित हैं।

**बलदेव वंशी ( 1938 )**

समकालीन हिन्दी कवियों में इनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। इनकी रचना प्रक्रिया में वैचारिक द्वन्द्व है। ''उनकी आक्रामक मुद्रा सर्वत्र पहचानी जा सकती है



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जो भविष्य में एक विकासोन्मुख एहसास के साथ अर्थवत्ता प्राप्त करती है।" इनकी चर्चित रचनाएँ—दर्शक दीर्घा से (1970), उपनगर में वापिसी (1974), अंधेरे के बावजूद (1978), बच्चे की दुनिया (1981), आत्मदान (1982), कहीं कोई आवाज नहीं (1984), हवा में खिलखिलाती लौ (1989) आदि।

### तरसेम गुजराल ( 1950 )

पंजाब की हिन्दी कविता की समृद्धि और उत्तरोत्तर अभिवृद्धि में तरसेम गुजराल का अद्‌भुत योगदान है। वे अत्यन्त संवेदनशील एवं जागरूक चेतना से सम्पन्न रचनाकार हैं। भले ही उन्होंने कम लिखा है, पर जो भी है, जीवंत एवं प्रभावी है।

### सौमित्र मोहन ( 1938 )

अकविता आन्दोलन के प्रमुख हस्ताक्षर अनेक पत्रिकाओं के सहसम्पादक, राष्ट्रीय स्तर तक प्रतिष्ठित कवियों में अपनी पहचान रखते हैं। इनकी रचनाओं में 'चाकू से खेलते हुए' (1972), 'लुकमान अली तथा अन्य कविताएँ' (1978), विशेष चर्चित रही हैं।

### नन्दकिशोर रजनीश ( 1933 )

इनकी गणना एक महत्त्वपूर्ण गीतकार के रूप में की जाती है। इनके गीतों में जीवन और समाज की यथार्थता के साथ भीतर की कसक है, भाव विभोरता के क्षण हैं, आत्माभिव्यक्ति के अनेक संदर्भ हैं।

### फूलचन्द 'मानव'

'मानव' की रचनाधर्मिता युगबोध से पूर्णत: संपृक्त है। यथार्थ और कल्पना का सामंजस्य स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इन्होंने वर्ण्य, विषय, सटीक प्रतीक, बिम्ब, व्यंग्यपरक भाषा से पंजाब की हिन्दी कविता को समृद्ध ही नहीं किया बल्कि प्रभावी बनाया है।

### मोहन सपरा

सपरा की अधिकांश कविताएँ समसामयिक स्थिति की भावाभिव्यक्ति करती हैं। इनकी प्रसिद्ध कृतियों में 'कीड़े' (1969), 'आदमी जिन्दा है' (1987), 'वक्त की साज़िश के खिलाफ़' (1975) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

### विनोद शाही

पंजाब की हिन्दी कविता के विकास में विनोद शाही ने अपनी पहचान बनाई है। राष्ट्रीय एकता, सांस्कृतिक निष्ठा, क्रान्तिधर्मी चेतना और मिथकों का आधुनिक संदर्भ में प्रयोग के कारण लोकप्रियता मिली है।

पंजाब के अनेक प्रतिष्ठित एवं नए हस्ताक्षर कवि हैं, जो अपनी काव्य-साधना में लीन हैं। आलेख की सीमा के कारण विस्तृत उल्लेख सम्भव नहीं है। उनमें निम्नलिखित गण्यमान हैं—

हरमहेन्द्र सिंह वेदी, शुभदर्शन कुमार, रमेश सोबती, कमलेश भारती, सत्येन्द्र नन्दा, जितेन्द्र मोहन, ममता कालिमा, पृथ्वी राज कालिमा, तृप्ता कपूर, शिवकुमार जोशी, परवीन मलिका, कीर्ति केसर, शहरपार इत्यादि नाम गिनाए जा सकते हैं। 'पंजाब की समकालीन कविता में जिन कवियों ने एक-दो कृतियों से संवृद्धि की है और वाक् चर्चा के विषय बने उनमें—महेन्द्र जोशी का 'मैं तुम और वह' (1905), हरवंशलाल शर्मा 'टूटती सड़क' (1987), रमेश भारद्वाज भारती का 'पुष्पांजलि' (1986), इन्द्रमोहन सिंह 'प्रणय अश्रु' (1988), कृष्णकान्त का 'जोगी अनंत के' तथा 'मन भीगा सपनों के सावन', योगेन्द्र बख्शी का 'सड़क का रोग, आदमीनामा', सतसई, आँसू, सतसई, जगमोहन चोपड़ा का 'कालेरथ', नरेश का 'फूल भी-शूल भी' (1998), केवल सूद का 'रेत का घूँट' (1961), प्रताप सहगल का 'सवाल भी मौजूद है' (1983), नवीन



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कमल 'सागर-मंथन' (1990), निर्मल कुमार कौशिक इत्यादि।

पंजाब की हिन्दी कविता के क्षेत्र में कवयित्रियाँ भी पीछे नहीं हैं। लेखिकाओं में शकुन्तला श्रीवास्तव ऐसा नाम है, जिसे अखिल भारतीय मंच मिल चुका है। इनके गीत संग्रहों में—'गूँज री पायलिया', 'धूप छाँही नक्श', 'टुकड़ों में परछाई', 'दुरिया दरिया पानी', 'जाने भोर कहाँ हो जाये', 'तैरती धुनें हवाओं की'।

कुछ नवोदित युवा पीढ़ी के रचनाधर्मी महिला हस्ताक्षर मुक्त छन्द के प्रति अधिक सचेत हैं। इनमें—कमलेश मेहता, कीर्ति केसर, आशाराम, शामा मूर्ति, राजशर्मा, कृष्णकान्ता, शकुन्तला यादव, तेजी ग्रोवर, अनीता गुलाटी, जसवीर कोहली, गीता डोगरा, सरला भारद्वाज, नैना शर्मा, नीलम सेठी, परवीन मलिक इत्यादि।

यह निर्विवाद स्वीकार है कि इस प्रान्त के कवियों ने छायावादी काव्य के प्रभाववश उन्मुक्त भावों को भी अपने गीतों में संजोया जिनमें प्रमुख हैं—यमुना दत्त जोशी ललित, खुशीराम शर्मा वशिष्ठ, अज्ञेय, अश्क, चिरंजीत, जयनाथ नलिन, सुरेशचन्द्र, मथुरा दत्त पाण्डेय, प्रो. ओण अवस्थी, कस्तूरी कश्यप, कृष्ण कुमार इत्यादि कवियों का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है।

पंजाब के कुछ ऐसे कवि भी हैं जिन्होंने राष्ट्रीय चेतना की छुट-पुट कविताएँ लिखी हैं, स्वतंत्र संग्रह उपलब्ध नहीं हो पाए, उनमें—श्यामा चरण श्रीवास्तव, सोम तिवारी, 'सुधाकर', सुदर्शन बाहरी, चन्द्रशेखर, कस्तूरी कश्यप, शिवदत्त सूद, मनोहर मैत्रेय, जीवन कृष्ण शर्मा, कमलकिशोर भारद्वाज, शिवप्रसाद भारद्वाज, इन्द्रदत्त डनियाल, ओमप्रकाश सूद, रूपनारायण शर्मा, प्रेमपाल शर्मा, कन्हैयालाल पाहाशर, कान्ता डोगरा आदि।

'प्रगतिशील आन्दोलन के उत्कर्ष में पंजाब में हिन्दी कविता की कोई स्पष्ट पहचान ही नहीं बन पायी थी।' कतिपय प्रगतिवादी दौर के कवियों में उपेन्द्रनाथ अश्क, चिरंजीत, देवराज दिनेश, जयनाथ नलिन, पद्मसिंह कमलेश आदि। इनके अतिरिक्त—उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, राजनारायण बिसरिया, शम्भुनाथ शेष, मनसाराम शर्मा 'चंचल', विश्व प्रकाश दीक्षित 'बटुक', विहत भास्कर आदि।

पंजाब की प्रगतिशील कविता के दूसरे दौर के उल्लेखनीय कवि कुमार विकल, नरेन्द्र मोहन, बलदेव बंशी, सत्यानन्द शाकिर, चन्द्रशिखा, फूलचन्द मानव, हरमहेन्द्र वेदी, प्रताप सहगल, विनोदशाही, पृथ्वीराज कालिया नीलाभ आदि हैं।

'भारत-विभाजन के बाद पंजाब में साम्प्रदायिकता की समस्या प्राय: अप्रासंगिक होकर रह गई थी। ........ हिन्दू-मुस्लिम दंगे पंजाब की युवा पीढ़ी के कवियों के निजी अनुभव का अंग नहीं थे। .....किन्तु इधर आतंकवादियों के हाथों मासूम, बेगुनाह लोगों की निर्मम हत्याओं का जो सिलसिला शुरू हुआ, उसने पंजाब के प्रगतिशील रचनाकार को दोबारा इस प्रश्न के सम्मुख ला खड़ा किया। ..... पंजाब को पूरी तरह झकझोर देने वाली और मानवीय रिश्तों की चूलें हिला देने वाली घटनाओं पर जो कविताएँ लिखी गईं उनमें पहचान (कुमार विकल), फरियाद लहू की (सत्यानन्द बंसल), आत्म मिथक (विनोद शाही), रक्तबीज की फसल (राज धवन), इंसान मरा नहीं (श्याम सुन्दर दीप्ति), वक्तनामा (फूलचन्द मानव), काली नदी (चन्द्र त्रिखा), देश का भविष्य (प्रेमपाल शर्मा), हम एक थे, हम एक हैं (विजय निर्बाध) उल्लेखनीय हैं।'

पंजाब की हिन्दी कविता के विषय में संक्षिप्त रूप में यही कहना पर्याप्त होगा कि यहाँ का कवि अपनी कविताओं में पंजाब की धरती का गुणगान करता है, वहाँ भारत की अखण्डता और इसके बहुमुखी विकास के लिए कृत संकल्प है।



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

## कहानी

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य को जहाँ पंजाब की सरस्वती धरती ने श्रेष्ठ आलोचक, उपन्यासकार, कवि, नाटककार और निबन्धकार प्रदान किये हैं, वहाँ एक से बढ़कर एक कहानीकार भी सौंपे हैं। ''आज़ादी से पूर्व सर्वश्री पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं. विश्वंभर नाथ शर्मा 'कौशिक', पं. सुदर्शन, अज्ञेय, यशपाल, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, देवेन्द्र सत्यार्थी, उपेन्द्रनाथ अश्क, बलराज साहनी, पृथ्वीनाथ शर्मा, सत्यपाल विद्यालंकार, विष्णु प्रभाकर, श्रीमती रजनी पनिकर इत्यादि महान् कथाकार कथाओं के ताने-बाने बुनने लग गये थे।''

पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी हिन्दी कथा साहित्य में केवल तीन कहानियाँ—सुखमय जीवन, बुद्धू का काँटा, उसने कहा था—लिखकर अमर हो गये। पं. विश्वंभर नार्थ शर्मा 'कौशिक' की कथा प्रतिष्ठा का आधार 'ताई' शीर्षक कहानी बनी। पं. सुदर्शन की कीर्ति का आधार 'हार की जीत' कहानी बनी। इनके पुष्पलता, तीर्थ-यात्रा, चार कहानियाँ, पनघट, सुदर्शन-सुधा, सुदर्शन सुमन, नगीने इत्यादि नाम से लगभग दस कहानी संग्रह प्रकाशित हुए। अज्ञेय के पाँच कहानी संग्रह प्रकाश में आये लेकिन आपकी 'रोज़' कहानी आपकी ख्याति का आधार बनी।

''इनके पश्चात् दो ऐसे कहानीकार कहानी-क्षितिज पर आते हैं, जिनका न केवल पंजाब के कहानी-लेखन में अपितु प्रेमचन्द के बाद के सम्पूर्ण कहानी-लेखन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है। यशपाल और उपेन्द्रनाथ अश्क प्रेमचन्दोत्तर काल में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नाम है जिन्होंने न केवल संख्या की दृष्टि से अपितु गुणात्मक रूप में भी हिन्दी कहानी को समृद्ध किया। यशपाल क्रान्तिकारी जीवन और मार्क्सवादी जीवन-दर्शन की पृष्ठभूमि लेकर हिन्दी कहानी में आये।'' उनकी लेखन-यात्रा अत्यन्त सुदीर्घ रही, 1939 ई. में प्रकाशित 'पिंजरे की उड़ान' (कहानियाँ जेल में लिखी) कथा-संग्रह से लेकर 1968 ई. में 'भूख के तीन दिन' तक सोलह कथा संग्रह प्रकाशित हुए। सत्तरहवाँ 'लैंपशेड' संग्रह लेखक की मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। वो दुनिया, तर्क का तूफान, ज्ञानदान, अभिशप्त, भष्मावृत चिंगारी, फूलों का कुर्ता, धर्म युद्ध, उत्तराधिकारी, चित्रका शीर्षक, तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ?, उत्तमी की माँ, ओ भैरवी, सच बोलने की भूल, खच्चर और आदमी उनकी विपुल कहानी सर्जना के प्रमाण हैं। इनमें लगभग 207 कहानियाँ संकलित हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में सामाजिक अन्याय को भोगते पात्र उनकी कहानियों के प्रमुख विषय हैं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' प्रेमचन्द की परम्परा के दूसरे बड़े लेखक हैं। वे आम आदमी और उसकी समस्याओं को अपने लेखक के केन्द्र में रखकर चले हैं। पंजाब का जन-जीवन और सांस्कृतिक परिवेश उनकी कहानियों में स्पष्ट झलकता है। स्वतंत्रता से पूर्व ही इनकी अंकुर, नासूर, उबाल आदि कहानियाँ चर्चित रहीं। स्वातंत्र्योत्तर काल में—छींटे, काले साहब, जुदाई की शाम का गीत, बैंगन का पौधा, आकाश चाही, सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ, उबाल इत्यादि संग्रह प्रकाश में आए।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के भय का राज्य, चन्द्रकला, अमावस, वापसी, तीन दिन, पहला नास्तिक कहानी संग्रह प्रकाशित हुए। 'सारिका' पत्रिका का संपादन भी किया। बीसवीं शती पूर्वार्द्ध के अन्य कहानीकारों में देवेन्द्र सत्यार्थी, रजनी पनिकर, कौशल्या अश्क, गुरुदत्त आदि नाम लिए जा सकते हैं। रजनी पनिकर की पहली कहानी 'प्रेम सागर' छपी, बाद में 'सिगरेट के टुकड़े' नाम से एक कहानी संग्रह भी प्रकाशित हुआ।

''1950 ई. के पश्चात् कहानी के क्षेत्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन 'नयी कहानी' है तो 'नयी कहानी' की प्रसिद्ध त्रयी—कमलेश्वर, मोहन राकेश और राजेन्द्र



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

यादव में मोहन राकेश महत्त्वपूर्ण स्थान है। राकेश की कहानियों में मानवीय सम्बन्धों और सामाजिक चिन्ताओं, दोनों का सशक्त चित्रण प्राप्त होता है। 'मिसपाल', 'एक और ज़िन्दगी' जैसी कहानियों में जीवन में व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व को बड़े कलात्मक रूप में वाणी मिली है।" उनकी चर्चित कहानियाँ हैं—जानवर और ज़ानवर, उसकी रोटी, एक और ज़िन्दगी, मन्दी, अपरिचित, ग्लास टैंक, मलबे का मालिक, पाँचवें माले का फ्लैट इत्यादि।

नयी कहानी आन्दोलन को सक्रिय योगदान प्रदान करने वाले कहानीकारों में भीष्म साहनी का नाम आदर से लिया जाता है। 'चीफ की दावत' कहानी इनकी स्थापना का आधार बनी। अपने-अपने बच्चे, खून का रिश्ता, सिर का सदका, सिफ़ारिशी चिट्ठी, तस्वीर, अमृतसर आ गया, अभी तो मैं जवान हूँ इत्यादि कहानियाँ काफी चर्चित रहीं।

कृष्णा सोबती नयी कहानी के दौर की सशक्त कथाकार हैं। इनकी लम्बी कहानियाँ—'मित्रो मरजानी', 'सूरजमुखी अंधेरे के' जैसी कहानियाँ इनकी ख्याति का आधार रही हैं, अब यह लघु उपन्यास के रूप में छप चुकी हैं। इनके 'बादलों के घेरे' तथा 'यादों के पार तिन पहाड़' कहानी संग्रह हैं। विभाजन की विभीषिका के दौर में मानवीय मूल्य और सम्बन्धों के टूटने की पीड़ा का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है 'सिक्का बदल गया' कहानी। इनकी कहानियों में पंजाबी जन-जीवन और सांस्कृतिक परिवेश बड़ी कुशलता से अंकित हुआ है।

नयी कहानी आन्दोलन की जड़ता को तोड़कर 'सचेतन कहानी' आन्दोलन के रूप में उभरने वाले महीपसिंह का नाम सम्मान से लिया जाता है। इस आन्दोलन ने कहानी को एक विशेष प्रकार की बौद्धिकता प्रदान की। सुबह के फूल, उजाले के उल्लू, घिराव, कुछ और कितना, कितने सम्बन्ध, इक्यावन कहानियाँ इत्यादि संग्रह प्रकाशित हुए।

महेन्द्र भल्ला की लम्बी कहानी 'एक पति के नोट्स' (जो बाद में उपन्यास के रूप में प्रकाशित हुई) उनकी ख्याति का आधार रही। इनकी अन्य चर्चित कहानियाँ—बांकेलाल, धूल और देवदार, डुबकी, एक दिन, बात, एक शाम, शुरू की बात, एक दोपहर आदि को पाठक भूले नहीं हैं।

निर्मल वर्मा हिन्दी कथा-साहित्य में अपनी अलग पहचान रखते हैं। इनकी कहानियों में आज के परिवर्तित भाव-बोध, बेगानापन, अकेलेपन, अबि आदि को परिलक्षित किया जा सकता है। परिन्दे, जलती झाड़ी, पिछली गर्मियों में, बीच बहस में तथा कव्वे और काला पानी उनके चर्चित कहानी संग्रह हैं।

पंजाब के कुछ ऐसी कहानीकार भी हैं जिन्होंने कम लिखा है लेकिन उनकी कहानियाँ गुणवत्ता की दृष्टि से समृद्ध हैं। इनमें—वीरेन्द्र, मेंहदीरत्ता, कुलभूषण, सरदार गुरबचनसिंह, देवकी अग्रवाल, देवेन्द्र इस्सार, सुदर्शन चोपड़ा, विजय चौहान इत्यादि। मेंहदीरत्ता के 'शिमला की क्रीम, मिट्टी पर नंगे पाँव' कहानी संग्रह है। श्रवण कुमार की कहानियों में जहाँ व्यवस्था के प्रति विद्रोह है, वहीं बड़े लोगों की झूठी शान और उनके खोखलेपन का भी चित्रण हुआ है। कुलभूषण की कहानियों में मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन की आर्थिक कठिनाइयों का चित्रण सजीव रूप में हुआ है। पगडण्डी और परछाइयाँ, सपनों का टुकड़ा, ललक आदि इनके प्रमुख कहानी संग्रह हैं।

इन्दुबाली की कहानियों में नारी मन की व्यथा को खोलने का प्रयास है। टूटती-जुड़ती, मेरी तीन मौतें, बिना छत का मकान, दूसरी औरत होने का सुख, अंधेरे की लहर आदि उनके कहानी संग्रह हैं। नरेन्द्र कोहली की—दो हाथ, ज्ञान की पिपासा, होने वाली पत्नी, परिणति, ब्लड बैंक की अप्सरा, नमक का कैदी, निचले फ्लैट में आदि कहानियाँ चर्चित रहीं। हास्य-व्यंग्य के कटाक्ष इनकी



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कहानियों में रोचकता पैदा करते हैं। रवीन्द्र कालिया समकालीन कहानी में एक चर्चित नाम है। इन्होंने व्यवस्था की विद्रूपता और विसंगतियों का पर्दा फ़ाश किया है। नौ साल छोटी पत्नी, गली-कूचे, काला-रजिस्टर, गरीबी हटाओ, चकैया नीम आदि इनके कहानी संग्रह हैं। ममता कालिया की कहानियों में महानगरीय जीवन की विसंगतियाँ विभिन्न रूपों में प्रकट हुई हैं। चर्चित कहानियाँ—छिटकी हुई ज़िन्दगी, छुटकारा, उपलब्धि आदि सुधा अरोड़ा महिला कहानीकारों में अपना विशिष्ठ स्थान रखती हैं। पत्र-पत्रिकाओं में इनकी कहानियाँ पाठकों को आकर्षित करती हैं। राकेश वत्स एक परिपक्व प्रतिष्ठित कथाकार हैं। पहर एक रोज़ का, अन्तिम प्रजापति, गुलाम, ताजा रोटी की महक, छुट्टी का दिन आदि चर्चित कहानियाँ हैं। सुरेठ सेठ ने कहानीकार के रूप में खूब प्रतिष्ठा प्राप्त की है। जहाँ इनकी कहानियों में जीवन के वैविध्य चित्र उभरे हैं वहीं संघर्षशील सामान्य आदमी की तस्वीर प्रस्तुत करने में दृष्टि केन्द्रित रही है। धन्धा, यंत्र पुरुष, हड़ताल, भुगतान, यह कोई गणित नहीं, अन्धी सुरंग आदि चर्चित कहानियाँ हैं।

इनके अतिरिक्त पंजाब के अनेक कहानीकार हैं, जिनका विस्तार भय के कारण उल्लेख सम्भव नहीं है। उनमें स्वदेश दीपक की गणना हिन्दी कथाकारों की अग्रिम पंक्ति में की जाती है। कृष्ण भावुक आठवें दशक का एक चर्चित नाम है। नरेश क्षणों की अनुभूतियों के कुशल और सिद्धहस्त कलाकार हैं। नरेन्द्र कोहली, सुदर्शन नारंग, यशपाल वैद, विजय सहगल, ज्ञानप्रकाश विवेक, रमेश बतरा, सुरेन्द्र अरोड़ा, फकीरचन्द शुक्ल, अन्नपूर्णा, पृथ्वीराज मोंगा, विनोदशाही, कमलेश बख्शी, उषा चौधरी, भगवानदास निर्मोही, फूलचन्द मानव, गौरीशंकर कपूर, कमलादत्त, इन्दिरा मित्तल, कमलेश भारती, रामस्वरूप अणखी, पटेश, ब्रजमोहन शर्मा, राजेन्द्र व्यथित, कान्ता डोगरा, जगदीश नंदिनी पाल भसीन, कुलदीप बग्गा, जसवंत सिंह बिरदी, गुरबचन सिंह, सरला गुलाटी, सुधा जैन, कुलभूषण कालड़ा, सुरेन्द्र मंथन, पुष्पा मानकोटिया, हरदर्शन सहगल, सत्यप्रकाश सेंगर, सुभाष रस्तोगी, सैली बलजीत, नवरतन कपूर, प्रताप सहगल, गीता डोगरा, धर्मपाल साहिल इत्यादि नाम गिनाए जा सकते हैं।

पंजाब से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए हिन्दी उपन्यासकारों की यह जय-यात्रा अबाध्य गति से अपने गंतव्य की अग्रसर है। अच्छी कृतियाँ सामने आ रही हैं। निष्पक्षता से इनका मूल्यांकन हो, तभी इन साधकों की महती साधना के साथ समुचित न्याय हो सकेगा।

## उपन्यास

पंजाब की विशेष देन कथा-साहित्य है। पंजाब के उपन्यासकारों की कतार लम्बी है। इन सबका नाम गिनाना अगर असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अज्ञेय सरीखे उपन्यासकार जो आज कथा-साहित्य में अपनी एक विशेष पहचान रखते हैं—वे अपने को पंजाबी होने में मानहानि समझते हैं। 'निर्मला वर्मा या बलदेव कृष्ण वैद्य विदेशों में रहे हैं, साहित्य में इनका ऊँचा स्थान रखते हैं, पंजाबी कहलवाने में झिझकते हैं।'

पंजाब के हिन्दी उपन्यासकारों की दो पीढ़ियाँ गत 25 वर्षों में उभरी हैं। पहली पीढ़ी ने तो अपना लेखन कार्य विभाजन पूर्व ही आरम्भ कर दिया था। इनमें थे—यशपाल (मनुष्य के रूप, देश-द्रोही, दादा कामरेड, झूठा सच, तेरी-मेरी-उसकी बात आदि), उपेन्द्रनाथ अश्क (गिरती दीवारें, शहर में घूमता आइना, नन्हीं कंदील, गर्म राख, बाँधो न नाव इस ठाँव आदि), अज्ञेय (शेखर एक जीवनी, नदी के द्वीप, अपने-अपने अजनबी), गुरुदत्त (लगभग 200 उपन्यास, जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—गुंठन, सहस्रवाहु, सफलता के चरण, ज़माना बदल गया (4 भाग), गंगा की धारा (2 भाग), साहित्यकार, यह सब झूठ है, खेल और खिलौने, दो लहरों की टक्कर



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

(2 भाग), महाकाल, कुमारसम्भव, क्षितिज, सागर-तरंग, नदी तीरे आदि)।

पंजाब के वे उपन्यासकार जिन्होंने विभाजन के बाद लिखना प्रारम्भ किया और हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में मील का पत्थर बनकर रह गए, उनमें—मोहन राकेश (अंधेरे बन्द कमरे, न आने वाला कल, अंतराल आदि), बलदेव कृष्ण वैद (उसका बचपन, जाएँ तो जाएँ कहाँ), भीष्म साहनी (झरोखे, तमस, बसंती, मय्यादास की माढ़ी, कुंतो, खुली रेत के घरौंदे, खुले पैरों की बेड़ियाँ आदि), निर्मल वर्मा (मोती महल, वे दिन, रात का रिपोर्टर, लाल टीन की छत, अंतिम अरण्य आदि), कृष्णा सोबती (डार से बिछुड़ी, मित्रो मरजानी, सूरजमुखी अंधेरे के, यारों के यार तीन पहर, सोबती एक सोहबत, जिन्दगीनामा, ए लड़की, समय सरगम आदि), जगदीशचन्द्र (यादों के पहाड़, धरती धन न अपना, मुट्ठी भर कंकर, कभी न छोड़ें खेत, टुण्डा लाट, घास गोदाम, नरक कुण्ड में बास, जमीन अपनी तो थी, आधा पुल आदि), महेन्द्र भल्ला (एक पति के नोट्स, दूसरी तरफ, दो देश और तीसरी उदासी आदि), महेन्द्र नाथ (आदमी और सिक्के, रात अँधेरी है), कंचन लता सब्बरवाल (मूक प्रश्न, संकल्प, त्रिवेणी, मूक तपस्वी, भटकती आत्मा, अनचाहा, स्नेह के दावेदार, स्वतंत्रता की ओर आदि), रजनी पणीकर (काली लड़की, ठोकर, पानी की दीवार, जाड़े की धूप, मोम के मोती आदि)।

नई पीढ़ी के लेखकों एवं उपर्युक्त कथाकारों के बीच कुछ संधिकाल के उपन्यासकार भी हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य की उपन्यास विधा के कोष को निरन्तर समृद्ध किया है। इनमें—मनमोहन सहगल (जिन्दगी और जिन्दगी, जिन्दगी और आदमी, बदलती करवटें, कश्मीर की कसक, गुरु लाधो रे, मानव छला गया, एक और रक्तबीज, नरमेध, अन्ना पासवान, घटता-बढ़ता चाँद, अथ कॉलेज कथा, समझौते से पहले), इन्दुबाली (दो हाथ, सोए प्यार की अनुभूति, मेरे सात जन्म, बाँसुरिया बज उठी, अमर बेली स्पर्श आदि), पुष्पा महाजन (घूमते नक्षत्र, कठपुतलियाँ), राकेश वत्स (पुनीता, मर्यादा, जंगल के आसपास, सपनराग, नर दंश आदि), स्वदेश दीपक (नं. 57 स्कवाड्रन), केवल सूद (मुर्गीखाना, बन्द गलियाँ-खुले दरवाजे आदि), देवेन्द्र सत्यार्थी (ब्रह्म युग, घोड़ा बादशाह, रथ के पहिये, तेरी कसम सतलुज आदि), द्रोणवीर कोहली (टप्पर गाड़ी, हवेलियों वाले चौखट, आंगन कोठा, काया स्पर्श, तक्सीम आदि), कृष्णा भावुक (पंजाबनामा, हरा दर्पण), हेमराज निर्मम (वसन्त फिर आएगा, टूटते बंधन, सीप का मोती, तराशे हुए पत्थर आदि)।

इनके अतिरिक्त सुरेश सेठ, ज्ञानसिंह मान, नरेन्द्र कोहली, सतीश जमाली, बलवंत सिंह, सुदर्शन मजीठिया, महीपसिंह, रमेश बत्रा, मोहन चोपड़ा, सुशील कालरा, हरदर्शन सहगल, किरपालसिंह, कुलभूषण खरबंदा, सी.एल. भिरानी, जीतसिंह खोखर, मीरा सीकरी, महेन्द्र भल्ली, दर्शन मितवा, देवराज शर्मा, राजेश शर्मा, धर्मपाल आर्य, धर्मवीर कपूर, बलदेव राज शर्मा, रमेश बंसल, वीणा अरोड़ा, तरसेम गुजराल, नरेश, सैली बलजीत, सुदर्शन चोपड़ा, सुशील काला, हरवंश कश्यप आदि साहित्यकारों ने हिन्दी साहित्य की उपन्यास विधा को समृद्धि प्रदान कर रहे हैं।

## नाटक

हिन्दी नाटक के आधुनिक रंगोदय में पंजाब का योगदान इतिहास में अपना स्थान रखता है। प्रवृत्तियों के आधार पर इन्हें निम्न शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है—पौराणिक नाटक, ऐतिहासिक नाटक, समस्यामूलक नाटक, प्रहसन, अनुवाद।

आलेख की सीमा के कारण यहाँ पंजाब के रंगलेखन की सूची-मात्र प्रस्तुत करना सम्भव होगा। पाँचवें दशक में पौराणिक रंगलेखन में जो रचनाकार सक्रिय रहे उनमें

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कैलाशनाथ भटनागर, देवराज दिनेश, सुदर्शन, उदयशंकर भट्ट आदि। ऐतिहासिक नाटकों के लेखन में उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृथ्वीनाथ शर्मा, वेदपाल खन्ना इत्यादि। वैसे बैंकुठलाल दुग्गल के ऐतिहासिक नाटक पाँचवें देशक की विशेष उपलब्धि रहे। छठे दशक में कुछ नया लेखन हुआ, साथ ही पाँचवें दशक की कुछ रंग-सम्भावनाओं का ही श्रेष्ठ रूप प्रस्तुत हुआ। सातवें दशक का नाट्य प्रणयन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। मोहन राकेश जैसे सशक्त रंगकर्मी का आगमन हुआ। इसी कालखण्ड में मोहन राकेश की—'आषाढ़ का एक दिन' जैसी कालजयी रचना प्रणीत हुई। सामाजिक नाटककारों में सत्यप्रकाश संगर, चिरंजीत जैसे नाचककार उभरे। इसी दशक का सर्वाधिक सशक्त नाटक राकेश का—'आधे-अधूरे' रहा। आठवें दशक के कालखण्ड में चन्द्रशेखर, ज्ञानसिंह मान, कृष्ण भावुक, सुदर्शन चोपड़ा, सुरेश सेठ, रंक अहियापुरी, नरेन्द्र कोहली आदि। नौवें तथा नौवें दशक पूर्वार्द्ध में केवल पंजाब में ही नहीं पंजाब से बाहर भी अपनी पहचान बनाई। विष्णुदत्त शर्मा, लालचन्द जेटली जैसे नवीन नाम जुड़े। विष्णु शर्मा का एक प्रयोगशील नाटक—'भरा हुआ जंगल' विशेष उपलब्धि माना जा सकता है। चिरंजीत का 'दादी माँ जागी'—इस दशक की बहुप्रसारित नाट्य-कृति है। अन्य महत्त्वपूर्ण रंग-रचनाओं में—लालचन्द जेटली का नाटक—'कटुये', कुसुम कुमार के 'ओम क्रान्ति-क्रान्ति, संस्कार को नमस्कार, सुनो शेफाली' का नाम विशेष उल्लेखनीय रहा है।

कुछ चर्चित नाटककारों के नाटकों की सूची इस प्रकार है—

**अभयकुमार यौधेय**—नारी की साधना, डूबते तारे।

**इन्द्र जोशी**—नायक, आवाज़, जिन्दगी और परछाइयाँ, उपलब्धि और आइने, खुला मकान बन्द कमरे, चोटियाँ और घाटियाँ।

**उदयशंकर भट्ट**—विद्रोहिणी, सगर विजय, मत्स्यगंधा, विश्वामित्र, राधा आदि।

**उपेन्द्रनाथ 'अश्क'**—जय-पराजय, स्वर्ग की झलक, कैद, उड़ान, अंजो दीदी, छठा बेटा, पैंतरे, अलग-अलग रास्ते।

**कुसुम कुमार**—सुनो शेफाली, संस्कार को नमस्कार, दिल्ली ऊँची सुनती है, रावण लीला।

**कैलाशनाथ भटनागर**—भीम प्रतिज्ञा, कुणाल, अंधेरी रात, चाणक्य प्रतिज्ञा।

**चन्द्रगुप्त विद्यालंकार**—अशोक, रेवा, देव और मानव, न्याय की रात।

**चन्द्रशेखर**—आदि पुरुष शहीदों की घाटी, महामाया, शिव धनुष-गद्य में, त्रिकोण की भुजाएँ, कमल और केतकी, कटा नाखून, डायल के नंबर, पाँचवाँ टायर, ग्लोब की रेखाएँ, मौत की रौशनी में, परिधि और बिन्दु आदि।

**चिरंजीत**—तस्वीर उसकी, अभिमन्यु चक्रव्यूह में, ढोल की पोल, घेराव, मन्दिर की जोत, दादी माँ जागी, रतजगा आदि।

**जयनाथ 'नलिन'**—नवाबी सनक, अवसान आदि।

**देवराज दिनेश**—रावण, मानव प्रताप, यशस्वी भोज आदि।

**नरेन्द्र कोहली**—शंबूक की हत्या।

**प्रताप सहगल**—रंग बसंती।

**पृथ्वीनाथ शर्मा**—दुविधा, अपराधी, साध, उर्मिला, नया रूप आदि।

**ब्रजमोहन शर्मा**—बाँस का पुल, दायरों में बन्द लोग, पर्दा गिरा दो।

**मोहन राकेश**—आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे-अधूरे, पैर तले की जमीन।

**रंक अह्यापुरी**—इंसानियत की राह पर, प्यासी धरती प्यासा अम्बर, उजली बस्ती उजले लोग।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

**यशपाल**—नशे-नशे की बात।

**बैकुंठनाथ दुग्गल**—समुद्रगुप्त, श्रीहर्ष।

**सुरेश सेठ**—सोन जूही बीमार है।

**ज्ञानसिंह मान**—काले लिख न लेख, बैरी मीत समान कहु नानक कछु-घिर नहीं, जाग मच्छन्दर गोरख आया।

**नरेन्द्र मोहन**—कहै कबीर सुनो भाई साधो।

**विनोद शाही**—झूठ पुराण।

कथ्य की विविध भंगिमाएँ, मुद्राएँ, रंग-रचना के विविध प्रयोग तथा रंग-कर्म के तेवर और रंग-निर्देशन के संकल्प—इस दृष्टि से पंजाब का हिन्दी नाटक सम्भावनापूर्ण रहा है। उसने समग्र हिन्दी नाटक में अपनी पहचान बनाई है।

## संदर्भ


1. पंजाब का हिन्दी साहित्य का इतिहास—आधुनिक काल (संपा.-डॉ. हुकुमचन्द राजपाल), प्रकाशक-भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला, संस्करण-2001।
2. हिन्दी साहित्य को पंजाब का योगदान (7 मार्च, 1976 को भाषा विभाग, पंजाब द्वारा आयोजित वार्षिक हिन्दी साहित्य-गोष्ठी में पढ़े गए शोध-पत्र), प्रकाशक-भाषा विभाग, पटियाला।
3. हिन्दी लेखक कोश (पंजाबी संवेदना के संदर्भ में), प्रकाशक-गुरुनानक देव यूनिवर्सिटी, अमृतसर, संस्करण-2002।
4. प्राधिकृत (पत्रिका), अंक-16, 2002, प्रकाशक-हिन्दी विभाग, गुरुनानक देव यूनिवर्सिटी, अमृतसर।
5. डॉ. मनमोहन सहगल—पंजाब प्रान्तीय हिन्दी उपन्यास साहित्य विधा एवं संरचना दर्शन (शोध-पत्र)।
6. कुछ अन्य पत्र-पत्रिकाएँ तथा व्यक्तिगत सम्पर्क के आधार पर भी सामग्री संकलित की।


❑

प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग,
पंजाबी यूनिवर्सिटी,
पटियाला-147 002

## अनुरोध

प्रकाशकों/लेखकों से अनुरोध है कि 'पंचशील शोध समीक्षा' में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ सम्पादक के नाम भेजें। कृपया पुस्तक के साथ समीक्षा न भेजें। समीक्षा हम स्वयं कराएँगे।

**—प्रबन्ध सम्पादक**

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# सआदत हसन मंटो की कहानियों में अश्लीलता

**अमित मनोज**

अश्लीलता से अभिप्राय है जो श्लील न हो। लेकिन यही अश्लीलता जब किसी और रूप में सामने आती है तो वह अश्लीलता नहीं रह जाती। जाने-माने आलोचक शम्भूनाथ के शब्दों में यदि कहा जाए तो—''अश्लीलता जब आर्ट फार्म हो, वह अश्लीलता नहीं है। अश्लीलता जब सौन्दर्यात्मक आनन्द दे या बेचैन करे, वह दूर-दूर तक वल्गर कामुक संकेत नहीं है। अश्लीलता हमेशा वल्गैरिटी में है। यह मतांध धार्मिक समाज की अपनी आंतरिक वल्गैरिटी है, जो कला और साहित्य में जहाँ जीवन का सौन्दर्य है, वहाँ भी अश्लीलता दिखती है।''[1] कहने का मतलब यह है कि अश्लीलता तभी है जब नंगेपन पर ही जोर दिया गया हो। कला के रूप में आया नंगापन किसी तरह से अश्लील नहीं है, क्योंकि कला के कारण उस नंगेपन के अर्थ बदल जाते हैं और वह अश्लीलता के रूप में बहुत दूर चला जाता है।

सआदत हसन मंटो उर्दू के एक बहुत बड़े कथाकार हैं। वे विभाजन की त्रासदी के दौर के ऐसे कथाकार हैं जिनकी कहानियाँ विभाजन की क्रूर एवं नंगी सच्चाइयों को इस हद तक सामने लाती हैं कि ओछी मानसिकता और साम्प्रदायिक लोग उनसे तिलमिला उठते हैं और बिना उन कहानियों की गहराई में जाकर उन्हें अदालतों के कटघरे में खड़ा करते हैं। मंटो इससे हारते नहीं, परेशान जरूरत होते हैं। अश्लीलता को लेकर जिस तरह से उनकी फ़जीहत करने की कोशिशें की गईं, वे बेबुनियाद तर्क ही साबित हुए। शलीलता-अश्लीलता के बारे में मंटो के मामले में हाई कोर्ट भी अपने फैसले में लिखती है कि—''शालीनता और अश्लीलता की शब्दावलियाँ सापेक्ष होती हैं और एक समाज में जो चीज अश्लील या शालीनता रहित है, सम्भव है कि दूसरे समाज में वही चीज बिल्कुल शालीन और नैतिक समझी जाए।''[2] ठीक मंटो पर भी यह बात अधिक सटीक बैठती है। मंटो जिस माहौल को

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लेकर जिस माहौल में बात करते हैं, वहाँ उन्हें अश्लील समझा जाता है जो कहीं से भी सत्य नहीं ठहरता। उनकी कहानियों के कथ्यों पर गौर किया जाए तो मालूम होता है कि मंटो ने अश्लीलता को लेकर कोई भी कहानी नहीं लिखी। न वे किसी तरह की अश्लीलता के पक्ष में दिखाई देते हैं। हाँ, उनकी कहानियों में उठाए गए विषयों को देखकर जरूर लगता है कि जैसे वे कहानी में अश्लीलता परोस रहे हों या सिर्फ़ मज़े लेने के लिए कोई कहानी लिख रहे हों। लेकिन तय यह भी है कि केवल विषय के आधार पर हम किसी रचना को श्लीलता-अश्लीलता का प्रमाण-पत्र नहीं दे सकते। मंटो ने बदनाम इलाकों की कहानियाँ लिखीं, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी कहानयाँ भी बदनाम साबित कर दी जाएँ। विषयों के चुनाव को और शब्दों के प्रयोग को लेकर मंटो खुद भी यह पूछते हैं कि—''अगर हम अफ़यून, भंग, चरस और शराब के ठेकों का जिक्र कर सकते हैं, तो उन कोठों का जिक्र क्यों नहीं कर सकते, जहाँ हर किस्म का नशा इस्तेमाल किया जाता है?''[3] वे अपनी लेखकीय प्रतिबद्धता अच्छी तरह से समझते हैं। वे अपनी कहानियों पर लगे झूठे आरोपों से दुःखी होते हैं और अदालत में भी वे औरत के सीने को 'सीना' कहा जाना स्वीकारते हैं। है भी सही। मंटो के ही शब्दों में औरत के सीने को सीना नहीं कहा जाए तो क्या मूँगफली कहा जाए? वे इस तरह के प्रयोग में लाए जाने वाले शब्दों पर ऐतराज करने वालों को जवाब देते हैं कि—''हम अगर भंगियों के मुताल्लिक बात करेंगे तो यक़ीनन कूड़े-करकट और गन्दगी का जिक्र आएगा। अगर हम वेश्याओं के मुताल्लिक बात करेंगे तो यकीनन उनके पेशे का जिक्र आएगा।''[4] सवाल उठता है कि क्या किसी कहानी में किसी के पेशे का जिक्र करना कोई अश्लीलता है? मंटो यहाँ एक बहुत बड़ी बात कहते हैं। वे कहते हैं कि—यदि पेशों से इतनी ही नफ़रत है तो इन पेशों को ही मिटा दीजिए। वे 'काली सलवार' जैसी कहानी लिखकर किसी तरह की कोई शर्मिंदगी महसूस नहीं करते। सगर्व कहते हैं—''काली सलवार जैसे अफ़साने तफ़रीह की ख़ातिर नहीं लिखे जाते। इनको पढ़कर शहवानी जज़्बात की राल नहीं टपकने लगती। इनको लिखकर मैं किसी शर्मनाक फ़ेअल का मुर्तकिब नहीं हुआ। मुझे फ़ख्र है कि मैं इसका मुसन्निफ हूँ।''[5]

मंटो किसी पेशे विशेष के समर्थक नहीं हैं। वे अपनी कहानियों के नायक किन्हीं खास पेशों से नहीं चुनते। पेशा कोई भी हो, उनका नायक विशेष होना चाहिए। तभी वे बार-बार ऐसी जगहों पर जाते हैं जहाँ सभ्य समाज दिन के उजालों में जाता शर्माता है। वे वेश्याओं पर कहानी लिखकर समाज में किसी तरह की अश्लीलता नहीं फैलाते। उनकी नायिका या नायक कहीं से भी, किसी भी गन्दी (?) जगह से हो सकते हैं। खुद भी मंटो स्वीकारते हैं—''चक्की पीसने वाली औरत जो दिनभर काम करती है और रात को इत्मीनान से सो जाती है, मेरे अफ़सानों की हीरोइन नहीं हो सकती। मेरी हीरोइन चकले की एक टखियाई रंडी हो सकती है जो रात को जागती है और दिन को सोते में कभी-कभी यह डरावना ख़्वाब देखकर उठ बैठती है कि बुढ़ापा उसके दरवाजे पर दस्तक देने आया है। उसके भारी-भारी पपोटे, जिन पर बरसों की उचटती हुई नींदें मुंजमिद (जम गई) हो गई हैं, मेरे अफ़सानों का मैजू बन सकते हैं। उसकी ग़लाज़त, उसकी बीमारियाँ, उसका चिड़चिड़ापन, उसकी गालियाँ—ये सब मुझे भाती हैं। मैं उनके मुताल्लिक लिखता हूँ और घरेलू औरतों की शुस्ता (शिष्ट) कलामियों, उनकी सेहत और उनकी नफ़ासतपसन्दी को नज़र-अंदाज कर जाता हूँ।''[6] मतलब स्पष्ट है कि मंटो को सामान्य ज़िन्दगी पसन्द नहीं है। घरेलू औरतों से वे चिढ़ नहीं रखते अपितु वे उनके जीवन में काम जिस तरह से रहता है, से प्रभावित नहीं


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

होते। विपरीत इसके वे एक ऐसी हीरोइन को अपनी कहानियों की नायिका बनाते हैं जिनकी आँखों में नींद के सपने होते हैं तो इसका मतलब यह नहीं कि मंटो केवल अश्लीलता में ही रमते हैं या वही जगहें पसन्द करते हैं जहाँ ऐसे हालात पैदा होते हैं या किए जाते हैं। असल बात यह है कि यह समाज जो ऊपर से बहुत सभ्य नज़र आता है, भीतर से बहुत खोखला है और उसके खोखलेपन को मंटो अच्छी तरह से पहचानते हैं। इसीलिए वे कहते हैं कि—"मैं तहज़ीबो-तमद्दुन (सभ्यता) की और सोसायटी की चोली क्या उतारूँगा, जो है ही नंगी। मैं उसे कपड़े पहनाने की कोशिश भी नहीं करता, इसलिए कि यह मेरा काम नहीं, दर्जियों का है।"[7]

मंटो अपने ऊपर लगे आरोपों से बहुत दुःखी थे। मुकदमों के चक्कर में कभी उन्हें लाहौर जाना पड़ता तो कभी कहीं और। वे स्वयं लिखते हैं कि—"समझ में नहीं आता था कि क्या करूँ? लिखना छोड़ दूँ या एहतिसाब से क़तअन बेपरवाह होकर कलमजनी करता रहूँ? सच पूछिए तो तबीयत इस कदर खट्टी हो गई थी कि जी चाहता था, कोई चीज एलाट हो जाए तो आराम से किसी कोने में बैठकर चन्द बरस क़लम और दवात से दूर रहूँ; दिमाग में ढ़यालात पैदा हों तो उन्हें फाँसी के तढ़ते पर लटका दूँ; एलाटमेंट मयस्सर न हो तो ब्लैक मार्केटिंग शुरू कर दूँ या नाजायज तौर पर शराब कशीद करने लगूँ..."[8]

मंटो इस बात से बहुत हैरान हैं कि उनकी कहानियों को कभी समझा नहीं गया। गवाहों ने भी अदालतों में उनकी रचनाओं के पक्ष में खूब बयान दिए गए, लेकिन फिर भी अदालतों ने उन्हें जुर्माना किया। उनकी 'ठण्डा गोश्त', 'खोल दो', 'ऊपर, नीचे तथा दरम्यान', 'बू', 'धुआँ' तथा 'काली सलवार' ऐसी कहानियाँ हैं जिन्हें अश्लीलता के कारण चुनौतियाँ दी गईं।

मंटो की एक कहानी है 'बू'। लगाने को तो इस पर भी कोई यह आरोप लगा सकता है कि यह कहानी अश्लील है। इसमें रणधीर और घाटन लड़की के बेडरूम के चित्र हैं। प्रथम दृष्ट्या बेडरूम के चित्र प्रस्तुत करना ही किसी की नज़र में अश्लील हो सकता है। इसी प्रसंग को लीजिए—"सारी रात रणधीर को उसके जिस्म से एक अजीब किस्म की बू आती रही। इस बू को, जो एक ही समय में खुशबू थी और बदबू भी, वह सारी रात पीता रहा। उसकी बगलों से, उसकी छातियों से, उसके बालों से, उसकी चमड़ी से, जिस्म के हर हिस्से से यह जो बदबू भी थी और खुशबू भी, रणधीर के पूरे शरीर में बस गई थी। सारी रात वह सोचता रहा था कि यह घाटन लड़की बिल्कुल करीब होने पर भी हरगिज इतनी करीब न होती, अगर उसके जिस्म से यह बू न उड़ती। यह बू उसके मन-मस्तिष्क की हर सलवट में रेंग रही थी। उसके तमाम नए-पुराने अनुभवों में रच-बस गई थी।"[9] यह एक खास तरह की बू थी। बू नहीं गन्ध। जैसे मिट्टी की गन्ध होती है। ऐसी गन्ध जो पागल कर दे। लड़की की देह भी मिट्टी-सी है। उसकी देह में भी एक खास गन्ध छुपी है जो किसी भी तरह के सौन्दर्य प्रसाधन में खोजने पर भी नहीं मिलती। यह गन्ध ही है जो रणधीर को पागल कर देती है। उसे अपनी पढ़ी-लिखी और आधुनिक बीवी की देह से भी ऐसी गन्ध नहीं आती। बीवी के चारों तरफ बनावटी गन्ध फैली हुई है। तेज गन्ध। कोई जिसे सूँघ तक न सके। लड़की की देह में ठेठ गन्ध है। देशज। रणधीर को यही गन्ध पसन्द है। वह उसकी देह में यही गन्ध तलाशता है। यह वही रणधीर है जिसे "पसीने की बू से सढ़त नफ़रत थी। नहाने के बाद वह हमेशा बगलों वगैरह मे पाउडर छिड़कता था या कोई ऐसी दवा इस्तेमाल करता था, जिससे वह बदबू जाती रहे, लेकिन ताज्जुब है कि उसने कई बार, हाँ, कई बार, उस घाटन लड़की की बालों भरी बगलों को चूमा और उसे बिल्कुल घिन नहीं आई, बल्कि नहीं आई, बल्कि एक अजीब किस्म की तुष्टि का अहसास हुआ। रणधीर को


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ऐसा लगता है कि वह इस बू को जानता है, पहचानता है, उसका अर्थ भी समझता है, लेकिन किसी और को नहीं समझा सकता।"[10] मंटो बेडरूम के सीन देते वक़्त एक खास तरह का चित्र खींचता है। जैसे 'बू' की यही पंक्तियाँ लें—"एक गोरी-चिट्टी लड़की अपने नंगे जिस्म को चादर में छुपाने की नाकाम कोशिश करते-करते रणधीर के और भी करीब आ गई थी। उसकी सुर्ख रेशमी सलवार दूसरे पलंग पर पड़ी थी, जिसके गहरे सुर्ख रंग के इज़ारबन्द का एक फुंदना नीचे लटक रहा था। पलंग पर उसके दूसरे कपड़े भी पड़े थे। सुनहरी फूलदार जम्फर, अंगिया, जांघिया और वह पुकार, जो रणधीर ने घाटन लड़की के बदन की बू में सूँघी थी।"[11] तो लगता है कि सैक्स के वक़्त का सैक्सी चित्रण ही है। भले ही मंटो की इसमें नीयत बिल्कुल साफ है और वे जान-बूझकर ऐसे प्रसंगों को कहानी में नहीं डालते। पर इस तरह बचने से क्या कहानी के साथ अन्याय नहीं होगा। फिर कहानी कहने की जरूरत क्या रह जाती है। उसका शीर्षक पढ़कर ही कहानी का काम चलाया जाए। कोई कहे कि कहानी कहाँ है तो 'शीर्षक में ही कहानी छुपी है' कहकर पीछा छुड़ा लिया जाए।

मंटो की 'धुआँ' कहानी को ही लीजिए। इस कहानी में कलसूम और उसकी सहेली विमला के समलैंगिक होने के संकेत हैं। दो लड़कियों की समलैंगिकता को बताना अश्लीलता नहीं है। इन दोनों सहेलियों का जिक्र कहानी के बिल्कुल अन्त में आता है। जब मसऊद शरारत के चलते दबे पाँव अधखुले दरवाजे की ओर बढ़ता है और धमाके के साथ दोनों पट खोलता है तो वह भौंचक रह जाता है। उसके दरवाजा खोलने पर "दो चीखें बुलन्द हुईं और कलसूम तथा उसकी सहेली विमल ने, जो पास-पास लेटी थीं, डटकर झट से रजाई ओढ़ ली। विमला के ब्लाउज के बटन खुले हुए थे और कलसूम उसके खुले हुए सीने को घूर रही थी।"[12] मंटो ने यह सत्य बहुत पहले उजागर किया था और इस तरह के सत्यों को कहानियों में दर्ज करने के लिए बहुत हिम्मत की जरूरत होती है। बहुत से लेखक अपनी इमेज खराब होने के डर से कहानी के साथ न्याय नहीं कर पाते। वे ऐसी कहानियाँ लिखकर किसी भी तरह के खतरे नहीं उठाना चाहते। मंटो के यहाँ लेकिन ऐसा नहीं है। वे अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाते हैं। यही उनके लेखन की सबसे पहली पहचान है।

'शरीफन' का कासिम अपनी बेटी शरीफन की नुची हुई नंगी देह को देख आपा खो बैठता है और गंडासा उठाकर हत्याएँ करने को निकल पड़ता है, इसलिए कि उसके दिमाग में केवल उसकी बेटी की बेइज्जत की हुई नंगी देह भरी है और वह उसका बदला किसी से भी लेना चाहता है। यह दो मजहबों के बीच की नफ़रत का तकाजा है। विभाजन के समय की दर्दनाक तस्वीर है यह कहानी। कोई भी आदमी शौक से अपराधी नहीं बनता। कासिम की तरह। उसका घर, बीवी और बेटी न लुटती-पिटती तो वह क्यों गंडासा लिए खून बहाता सड़कों पर घूमता। यह बदला लेने की ही धुन थी कि वह अपनी बेटी जितनी लेकिन दूसरे धर्म की लड़की को देखकर उस पर टूट पड़ता है। वह लड़की भी शरीफन की तरह पड़ी थी। बिल्कुल नंगी। उसके स्तन भी छत की तरफ उठे हुए थे। शरीफन की तरह। वह आदमी भी कासिम की तरह अपनी बेटी 'विमला' का हाल देखकर लड़खड़ाते कदमों से बाहर निकल गया। जाने कितनी लड़कियों को शरीफन बनाया जाएगा। स्पष्ट है कि कहानी में शरीफन का सहारा लेकर मंटो को किसी लड़की की नंगी देह दिखाकर नग्नता नहीं परोसनी थी। यह एक बाप के दर्द की कहानी है और दो धर्मों के लोगों के बीच फैली वैमनस्यता।

'खोल दो' मंटो की बहुचर्चित कहानी है। यह कहानी भी विभाजन के समय उपजी साम्प्रदायिक स्थितियों की कहानी है जिसमें सिराजुद्दीन अपनी बेटी सकीना की


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तलाश में पागल है। हर तरफ लूट मची थी। कोई पैसों को लूट रहा था तो कोई जिस्मों को। लोग बदहवास हुए अपने को बचाने में लगे हुए थे और बचने पर अपने दाता (!) का शुक्र मना रहे थे।

सिराजुद्दीन ने जिन रज़ाकार (स्वेच्छा सेवक) लड़कों पर विश्वास करके अपनी बेटी का हुलिया बताया था और उनकी कामयाबी के लिए दुआएँ की थी, उन्हीं ने उसके साथ बहुत बड़ा धोखा किया था। वे लड़की के जिस्म से खेलते रहे थे। एक दिन जब सिराजुद्दीन बेटी की तलाश में खाक छानता फिर रहा था तो उसने चार आदमियों को कुछ उठाकर लाते हुए देखा। यह एक जवान लड़की थी जो बेहोश थी। अस्पताल में सिराजुद्दीन यह जानने गया कि वह लड़की है कौन? उसने स्ट्रेचर पर लाश-सी पड़ी लड़की को देख पहचाना तो डॉक्टर ने, जिसने कमरे में रोशनी की थी, पूछा—''क्या है?'' सिराजुद्दीन के हलक से सिर्फ़ इतना निकल सका—''जी मैं ... इसका बाप हूँ...।''

डॉक्टर ने स्ट्रेचर पर पड़ी हुई लाश की तरफ देखा, फिर लाश की नब्ज़ टटोली और सिराजुद्दीन से कहा—''खिड़की खोल दो ...।''

''सकीना के मुर्दे जिस्म में जुम्बिश पैदा हुई, बेजान हाथों से उसने इज़ारबन्द खोला और सलवार नीचे सरका दी।''[13] अब आप इसे अश्लील कहेंगे? कहिए कि एक लड़की ने सलवार का इज़ारबन्द खोल दिया है तो अश्लीलता ही है। लेकिन लड़की की पहले स्थिति तो देख लीजिए। 'खिड़की खोल दो' कहे जाने पर भी उसे सिर्फ़ 'खोल दो' सुनाई देता है। इसका मतलब स्पष्ट है कि उसका कितनी-कितनी बार दैहिक शोषण किया गया है। उसके दिमाग में सिर्फ़ एक ही बात घुसी हुई है। वह सब कुछ भूल गई है और बार-बार सलवार खोलना नहीं भूली है। यह उसका शारीरिक नहीं मानसिक बलात्कार भी है। मंटो की इसके लिए सराहना की जानी चाहिए कि वे एक छोटी-सी कहानी में विभाजन के समय का इतना बड़ा सच कहने में सफल हुए हैं। अब किसी को इसी से दिक्कत है तो होती रहे। भले ही दिक्कतें महसूस करने वाले उन रज़ाकार लड़कों के साथ सकीना की सलवार खोलने में न शर्माएँ। मंटो सकीना के माध्यम से हजारों-लाखों निर्दोष लड़कियों के रौंदी हुई देहों का शोषण अपनी कलम से उजागर करते हैं। वे जान-बूझकर अनजान बने नहीं होते। वे उन आँखों को वह सच दिखाना चाहते हैं जो हजार तरह के पर्दे अपने सामने टाँगे हुई हैं कि दृश्य सिर्फ़ साफ़-साफ़ और रंगीन ही दिखें। मंटो इस तरह की झूठ के खिलाफ़ हैं और तमाम तरह के खतरों को भाँपकर भयावह सच सामने लाते हैं।

मंटो की कहानियों पर यह आरोप आम था कि वे कहानी लिखते समय मज़े लेते हैं और पढ़ने वालों में कामोत्तेजना पैदा करते हैं। अदालतों में उनके खिलाफ़ डले केसों में यह तक पैरवी की गई कि वे 'आशिक' जैसे अश्लील शब्द प्रयोग में लाते हैं। हँसी आती है जब मंटो के पक्ष का वकील 'आशिक' की जगह दूसरा शब्द प्रयोग करने को कहता है तो वहाँ 'यार' जैसे शब्द को उसका पर्यायवाची कहा जाता है।

मंटो जब 'ठण्डा गोश्त' जैसी कहानी लिखते हैं तो पूरा शोर मचाया जाता है जबकि मंटो ख़राब मंशा के चलते कहानी में कोई भी ग़ैरजरूरी प्रसंग नहीं डालते। यही पैरा देखिए—''ईशर सिंह अपनी घनी काली मूँछों में मुस्कराया, 'होने दे आज जालिम'। और कहकर उसने और जुल्म ढाने शुरू किए। कुलवंत कौर का ऊपरी होंठ दाँतों तले किचकिचाया, कान की लवों को काटा, उभरे हुए सीने को भंभोड़ा, भरे हुए कूल्हों पर आवाज़ पैदा करने वाले चांटे मारे, गालों के मुँह भर-भर कर बोसे लिए, चूस-चूसकर उसका सीना थूकों से लथेड़ दिया।


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कुलवंत कौर तेज आँच पर चढ़ी हुई हाण्डी की तरह उबलने लगी।''[14] कोई कह सकता है कि इसमें सिर्फ़ काम भावना पैदा करने की कोशिश की गई है। लेकिन आँखें तब खुलती हैं जब पूरी कहानी पढ़ी जाती है और पाठक को यह पता लगता है कि विभाजन के दंगे इतने भयानक थे कि जिस धर्म की लड़की को ईशर सिंह अपने कन्धों पर लेकर भागता है, वह अपने बलात्कार किए जाने की कल्पना से ही दहशत में मर जाती है और झाड़ियों के पीछे लिटाने पर ईशर सिंह भी उस लाश को देखकर अपनी कामशक्ति हमेशा-हमेशा के लिए खो देता है। क्या यह उस समय की स्थितियों पर तमाचा मारने वाली कहानी नहीं है?

'खोल दो' हो या 'बू', 'ठण्डा गोश्त' हो या 'काली सलवार' या कोई और कहानी, मंटो की मंशा कहीं भी दूषित नहीं है। कहानियों में सिर्फ खुले प्रसंग डालने से ही वे कोई फुटपाथी कथाकार नहीं हो सकते। मंटो हालातों से भागते नहीं। वे सच के पक्ष में आख़िर तक खड़े रहते हैं।

## संदर्भ


1. शम्भुनाथ; लेख; कथादेश (सं.-हरिनारायण); जुलाई 2012, पृ. 33।
2. सआदत हसन मंटो; गुनहगार मंटो (अनु. शकील सद्दीकी); वाणी प्रकाश्न, 21ए दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण-2010, पृ. 120।
3. वही, पृ. 40।
4. वही, पृ. 40-41।
5. वही, पृ. 45।
6. वही, पृ. 19।
7. वही, पृ. 19।
8. वही, पृ. 119।
9. मंटो की बदनाम कहानियाँ; साधना पब्लि. के-4/4, मॉडल टाउन-III, दिल्ली-9, संस्करण-2005, पृ. 18।
10. वही, पृ. 18।
11. वही, पृ. 19।
12. वही, पृ. 32।
13. मंटो की कहानी 'खोल दो'; पाकिस्तानी कहानियाँ (सं.-इंतिज़ार हुसैन); अनु. अब्दुल बिस्मिल्लाह; साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35, फीरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली-1, संस्करण-2006, पृ. 18।
14. http://www.hindikunj.com/2010/03/saadat-husan-manto-14.html, 13.05.2012, page 3.


❑


कोथलकलां,

महेन्द्रगढ़-123 028 (हरि.)




CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# मणिपुर के लोक साहित्य का लोक-तात्त्विक अनुशीलन

**सिजगुरुमयुम उमावती देवी**

मणिपुर भारत के सुदूर उत्तर-पूर्वी सीमान्त पर स्थित एक छोटा-सा पहाड़ी राज्य है। मणिपुर की राजधानी इम्फाल है। यह राज्य नौ पर्वतमालाओं से घिरा हुआ है, उसके बीचों बीच समतल भूमि बसा हुआ है। भौगोलिक दृष्टि से मणिपुर को दो भागों में बाँटा जा सकता है; पहला पर्वतीय भाग तथा दूसरा मैदानी भाग है।

सन् 2011 ई. मणिपुर राज्य की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या 27,21,756 है। इसमें स्त्रियों की जनसंख्या कुल 13,51,992 है और पुरुषों की जनसंख्या कुल 13,69,764 है। इस राज्य के मैदानी भाग में मीतै जाति के लोगों के साथ मीतै ब्राह्मण, मीतै पाङगल (मुस्लिम), जन-जातियाँ एवं भारत के अन्य प्रदेशों और भारत के बाहर से आए कुछ लोग भी मणिपुरी के मैदानी भाग में निवास करते हैं।

मणिपुर राज्य के पहाड़ी इलाका जंगल से ढका हुआ है। यह भाग पूरे मणिपुर राज्य का तीन-चौथाई अंश है। यहाँ विभिन्न जन-जातियाँ बसती हैं। आजकल जन-जातियाँ पहाड़ में सीमित न होकर मैदानी भाग में भी रहने लगी हैं। भारत सरकार द्वारा मणिपुर की तैंतीस (33) जन-जातियों को पहचान होने की मान्यता दी गयी है, वे निम्नलिखित हैं—

1. आइमोल, 2. अनाल, 3. अंगामी, 4. कबुई, 5. कोइरेङ, 6. कोम, 7. कुकी, 8. कोइराओ, 9. काचा-नागा, 10, गाङते, 11. चिरु, 12. चोथे, 13. जौ, 15. ताङखुल, 16. थादौ, 17. पाइते, 18. पुरुम, 19. पुओमै, 20. मार, 21. माओ, 22. मराम, 23. मिजो, 24. मरिङ, 25. मोनशाङ, 26. मोयोन, 27. रालते, 28. लामगाङ, 29. वाइफै, 30. सेमा, 31. सिमते, 32. सुकते और 33. हाओकिप।

इन तैंतीस (33) जन-जातियों की अलग-अलग भाषा होती हैं। उनकी भाषाओं के नाम भी उन जातियों के आधार पर रखा जाता है।



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मणिपुरी भाषा मणिपुर में बोली जाने वाली भाषा है। मणिपुरी भाषा संसार के भाषा समूह में चीनी-तिब्बती परिवार की तिब्बती बर्मा शाखा की प्रमुख भाषा है। जर्ज ग्रियर्सन मणिपुरी भाषा को कुकि-चीन शाखा के अन्तर्गत मानते हैं।[1] इस मत को डॉ. आइ.एस. काङजम भी समर्थन करते हैं।[2] लेकिन पी.के. बीनिडिक इसको तिब्बती-बर्मी, कुकि-नागा शाखा के अन्तर्गत मानते हैं। इस मत को श्री नन्दलाल शर्मा तथा डॉ. एस. तोम्बा सिंह भी स्वीकार करते हैं।[3] परन्तु मणिपुरी भाषा में भारतीय भाषाओं के प्रभाव बहुत है। इसलिए इसमें योगात्मकता के गुण परिलक्षित होते हैं और वाक्य रचना में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के जैसे कई सामान्य तत्त्व पाए जाते हैं।[4] मेरी समझ में भी मणिपुरी इन शाखा की अन्य भाषाओं से कुछ भिन्न-सी लगती है। इसका मुख्य कारण भारतीय भाषाओं और संस्कृति का मणिपुरी समाज पर प्रभाव हो सकता है।

'लोक' शब्द संस्कृत के लोक-दर्शने धातु में घञ प्रत्यय लगाने पर होता है। इसका अर्थ है—देखना। लोक ऐसा स्थान जिसका बोध प्राणी की हो अथवा जिसकी उसने कल्पना की हो। वेदों में लोक शब्द आम जनता का पर्यायवाची माना गया है। हिन्दी शब्द सागर में लोक शब्द का तात्पर्य लिखा है कि ऐसा स्थान लोक है, जिससे देखने का बोध होता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार—"लोक शब्द का अर्थ ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनकी व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती है, उनकी उत्पन्न करते हैं।"[5]

कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार—"जो लोग संस्कृत या परिष्कृत वर्ग से प्रभावित न होकर अपनी पुरातन स्थितियों में ही रहते हैं वे लोक होते हैं।"[6]

लोक साहित्य जन-जीवन का प्रतिबिम्ब है। यह जन-जीवन की क्षण-क्षण अनुभूतियाँ, मनोवेग, हृदयोद्गार तथा क्रिया-व्यापार साकार होते हैं। वह सब लोक साहित्य के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। पुत्रोत्पत्ति से लेकर मरणपर्यन्त तक माने हुए सोलह संस्कारों के अवसरों पर गाए जाने वाले गीत लोक साहित्य की अमूल्य निधि है। लोक साहित्य जनता की गोद में पलकर बड़ा होता है। ग्रामीण समाज में सभी संस्कारों के अवसर पर गीत गाए जाते हैं। विभिन्न ऋतुओं में प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों का जो प्रभाव लोक मानस पर पड़ता है उसके हर्ष, विषाद, उल्लास और आनन्द को प्रदर्शित करने वाले सभी गीत लोक साहित्य के अन्तर्गत आते हैं, वास्तव में साधारण जनता की सुख-दु:खमयी अनुभूति का सहज प्रकाशन ही लोक-साहित्य में होता है। लोक गीतों के अतिरिक्त कहानियाँ

1. Linguistic Survey of India, Vol. III, pt. III, 1904 (GA. Greirson), p. 43.
2. लोनगी वारें, आई.एस. काङजम्, पृ. 53
3. डॉ. एस. तोम्बा सिंह—मीतै लोनगी इतिहास अमसुङ बनान, पृ. 405
4. अरिबम कृष्णमोहन शर्मा—हिन्दी और मणिपुरी परसर्गों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 2
5. भारतीय लोक साहित्य कोश, भाग-1
6. वही।



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सुनना और सुनाना लोक मानस के मन बहलाव का अन्यतम साधन है। लोक-जीवन के मनोरंजनार्थ नाटकों का भी पर्याप्त प्रचलन पाया जाता है तथा भावपूर्ण मुहावरों और चुटीली लोकोक्तियों का प्रयोग कर जन-मानस अपने हृदयगत उद्‌गारों को व्यंजित करता है। इस तरह मणिपुर समाज में लोक साहित्य प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। मणिपुर के लोक साहित्य को समझने के लिए इसे पाँच विधाओं में विभाजित कर सकते हैं—

1. लोक गीत,
2. लोक कथा,
3. लोक गाथा,
4. लोक नाट्य तथा
5. लोक सुभाषित।

**1. लोक गीत**—लोक साहित्य में गीतों का प्रमुख स्थान है। लोक गीतों में मानव मन की खुशी समाहित रहती है। इस प्रकार जब मानव भाव-विभोर होकर अपनी हृदयोद्‌गार को छन्दोबद्ध एवं लय, ताल के आधार पर अभिव्यक्त करता है तो इन अभिव्यक्त भावों को गीत की संज्ञा दी जाती है। लोक-मानस की सुख-दुःखात्मक अनुभूति ही अनगढ़, गेय और मौखिक रूप में लोक गीत के रूप में फूट पड़ती है। ये लोक-जीवन की धरती से स्वत: स्फूर्त जलधारा की तरह होते हैं। इनमें लोक-मानस का आदिम और जातीय संगीत सन्निहित रहता है। लोक गीत लोक भाषा अथवा बोली में लोक-हृदय से प्रकृत, सहज और स्वाभाविक रूप से प्रस्फुटित भावमय मौखिक और गेय उद्‌गार हैं।

मणिपुरी भाषा में लोक गीत को 'खुनुङ इशै' कहते हैं। मणिपुर में प्राचीनकाल से लोकगीत का प्रचलन हो रहा है। संसार के सभी लोक साहित्यों की भाँति मणिपुरी लोक गीतों में प्रेम तत्त्व से सम्बन्धित लोक गीत, श्रम से सम्बन्धित लोक गीत, बच्चों से सम्बन्धित लोक गीत आदि का प्रचलन है। मणिपुरी भाषा में प्रेम सम्बन्धित गीतों को 'नुङशि-नुङोल इशै' कहते हैं। मणिपुरी लोक साहित्य में प्रेम गीत का बहुत प्रचलन है। इतना ही नहीं श्रम गीत का भी बहुत मात्र में मिलता है। श्रम गीत जैसे खेती कार्यों में बीज रोपन, फसल कटाई के समय, धान कुदते आदि समय गाया जाता है। इन गीतों को प्रश्नोत्तर शैली में भी गाया जाता है। इस श्रम गीत को 'खुलङ इशै' के नाम से जाना जाता है। बच्चों से सम्बन्धित लोक गीत अधिक मात्रा में गाया जाता है। इस लोक गीत के अन्तर्गत खेल गीत, लोरी गीत आदि आते हैं। माँ अपने बच्चे को सुलाने या रोना बन्द करने के लिए गाती है। खेल गीत में बच्चे लोग खेलते समय गाया जाता है। अत: मणिपुर के लोक साहित्य में लोक गीतों में लोक तत्त्व मिलता है। मणिपुरी लोक गीत का एक अंश प्रस्तुत है—

*हा इबेम्मा थम्बाल मानबी नङबु*
*नोङ्दम लाइबक चाओबना पाङगलगी*
*उसमान चाओबा ओइरगा, नुजा नङ्ना*
*शगोलशेमचादि थम्बालबु ओइरगा,*
*ङसि कौरौ नुमित्तिदि*
*शगोलशेलबु ओइखिबना,*
*पाखङ ऐना खोङदोई हुनजररोइ*
*लमतागी थाङजा निनि पानबदा,*
*पाखङ खोङदोइ हुनजगे*
*नुजा नङबु हेक्लगा*
*पाखङगी लुखुम कादबु*
*थाजगेने नुङशिबी नङबु*



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अनुवाद—

हे! कमल सी युवती तुझे,
मैं अभाग्य चाओबा, उसमान[7] चाओबा जैसा हूँ
और तू शगोलशेम थम्बाल[8] जैसी है
आज तो है वृहस्पतिवार के दिन
इसलिए नहीं आऊँगा आज के दिन
चैत्र के द्वितीय शनिवार को मैं युवक
आ जाऊँगा तेरे पास और
हे कमल-सी तुझे तोड़कर
मेरे शिरहाने पर रख दूँगा प्रियसी।

इस लोक गीत में कार्य-कारण परम्परा पर आश्रित लोक तत्त्व मिलता है। हमारे समाज में लोक विश्वास के अनुसार गुरुवार को परदेश जाने के लिए घर छोड़ना अशुभ माना जाता है। यह हमारे लोक समाज में प्रचलित लोक विश्वास है। यह इसी लोक गीत में उल्लेख किया।

**2. लोक कथा**—लोक कथाओं का लोक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोक कथाएँ लोक संस्कृति की संरक्षिका हैं। लोक मौखिक परम्परा से चली आने वाली कहानियाँ इस वर्ग में आती है। लोक की भाषा या बोली परम्परा से चली आयी हुई मौखिक रूप से प्रचलित कहानी को लोक कथा कहलाता है।

मणिपुरी भाषा में लोक कथा को 'फुङ्गा वारी' कहते हैं। फुङ्गा का मतलब है 'अलाव' और 'वारी' का मतलब है 'कथा'। अत: फुङ्गा वारी का अभिप्राय है अलाव के पास बैठकर कही या सुनायी जाने वाली कथा। कुछ लोग फुङ्गा वारी को 'चाकङाइ वारी' भी कहते हैं। चाकङाइ वारी का अर्थ हुआ है भोजन के इन्तजार की कथा।

फुङ्गा वारी का अभिप्राय घर के बुजुर्ग लोग बच्चों को सर्दी के दिन अलाव के चारों तरफ घेर कर बिठाया और आग तापते-तापते जो कथा सुनाते हैं। दूसरी ओर घर के बुजुर्ग (दादा-दादी) अपने बच्चों को भोजन के इन्तजार में घर के किसी जगह बिठाकर कहानी सुनाते हैं, क्योंकि बच्चे बिना खाये सो न जाय। इसको 'चाकङाइ वारी' कहते हैं।

लोक कथा कहने का प्रचलन मणिपुर में भी अति प्राचीनकाल से चली आ रही है। मणिपुर के लोक साहित्य में लिखी हुई सम्पत्ति लोक कथाओं की है। इनके विविध रूप और प्रकार हैं। विषयवस्तु के प्रस्तुति-उपकरणों की दृष्टि से भी ये वैविध्य से परिपूर्ण हैं। मनुष्य, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, कृषि, अन्य व्यवसायों और दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुएँ, कीड़े-मकोड़े, जल, वायु, कंकड़, पत्थर, राक्षस, भूत-प्रेत, झाड़-फूँक करने वाली, देवी-देवता, मनचाहा रूप धारण करने वाले, वरदान या शाप के कारण दिन व रात को अलग-अलग रूप ग्रहण करने को बाध्य, सत्यवाद, असत्यवादी, धूर्त, शोषक, सहायक अलौकिक शक्ति सम्पन्न, कला कुशल, जादूगर, मानव-भाषा समझने वाले मानवेतर, मानवेतर प्राणियों की भाषा समझने वाले मानव आदि लोक तत्त्व मणिपुरी लोक कथा में मिलते हैं। लोक तत्त्व से सम्बन्धित लोक-कथा प्रस्तुत है—

'सनरेम्बी-चाइश्रा' लोक कथा में सनरेम्बी की माँ को चाइश्रा की माँ द्वारा मार दिया जाता है। उसकी माँ सनरेम्बी के सपने में आकर कहा—''बेटी मुझे मार दिया गया है, तुम झील में जाकर कछुआ पकड़ लेना। उस

7. उसमान—मणिपुरी के लोक प्रचलित दुखान्त कथा 'उसमान थम्बाल' का नायक।
8. शगोलशेम थम्बाल—'उसमान थम्बाल' कथा की नायिका।



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कछुए को घड़े में डालकर सात दिन रखो तो फिर से मैं मनुष्य बन जाऊँगी। यह सपना यथार्थ हो जाती है ौर सनरेम्बी कछुआ पकड़ लाती है। सात दिन न रख पाने के कारण फिर से मनुष्य बन नहीं पाती। इस कथा में सपना सच हो जाना और यहाँ सात दिन की संख्या का अभिव्यक्ति करना यह भी लोक तत्त्व है।''

**3. लोक गाथा**—लोक भाषा या बोली में पारम्परिक, स्थानीय या पुरा-आख्यान-मूल गेय अभिव्यक्ति लोक गाथा है। लोक साहित्य के अन्तर्गत ऐसे गीत गाये जाते हैं जो बहुत लम्बे होते हैं तथा जिनमें कथावस्तु की ही प्रधानता होती है, इन गीतों को लोक गाथा नाम से अभिहित किया जाता है।

ऐतिहासिक तथा अर्द्ध-ऐतिहासिक घटनाओं, वीरता, प्रेम, रहस्य, रोमांच, जादुई कल्पना, धार्मिक, पौराणिक, विश्वास, सांस्कृतिक, परम्पराओं, मैदानी-पर्वतीय, जन-जीवन, पशु-पक्षी, अद्‌भुत कल्पना, राजा-राजन्य वर्ग, सामन्तों और साधारण प्रजा के सम्बन्धों, मानव व पशुओं की चतुराई, सतीत्व, पाति-वत्य, वैयक्तिक व सामाजिक आदर्शों तथा वैविध्यपूर्ण जीवन-मूल्यों, अभिजात वर्ग और जन-जातीय चरित्रों, जातीय महाकाव्यों आदि पर आधारित लोक-गाथाएँ मणिपुरी लोक जीवन में पर्याप्त संख्या में विद्यमान हैं। 'खम्बा-थोइबी' मणिपुर की प्रसिद्ध लोक गाथा है। यह लोक गाथा प्रेम और वीरता से आधारित लोक गाथा है। 'मोइराङशा' नामक एक लोक गाथा है। यह गाथा पशु पर आधारित है। इसमें प्रेम, वीरता, चतुराई को भी अपनाता है। 'जिला दरबार' नामक लोक गाथा राजनैतिक घटना पर केन्द्रित है। 'खोङजोम पर्व' भी वीरता पर आधारित गाथा है। मणिपुर लोक गाथा अधिकतर वीरता पर आधारित है। मैं यहाँ 'मोइराङशा' नामक लोक गाथा का एक अंश उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर रही हूँ—

*परि इबुङो मोइराङशा*
*खोमलेन तुङ्खुल ताल्लिबरा*
*लाङगोइ नङबु याहौरोने*
*पलेम इमा लाकलेने*
*इचाबु थागोन्नदबा कुइरकले*
*ङसि नुमिदाङ अथेङ्बा*
*इमागी इथानुङदा थागोनगे लाओने*
*हयेङ इनुङ ङालबदि*
*मपु सना याथङ्ना*
*अवाङ कौब्रु लौखादा*
*पारि इबुङो नङ्दि*
*कौब्रु लाइशा अङाओबा*
*फाबा चत्कदौरि*
*यारबदि चत्लुनु*
*इमागी इबुङो मोइराङशा*
*थासि मायोकनगनी*
*अवाङ कोब्रु लाइखादा*
*पारि इबुङो नङ्ना*
*शमु फाबा चत्लबदि*
*इचागी मृत्यु ओइगनि*
*यारबदि चत्लुनुको।*

**अनुवाद**—बेटा मोइराङशा, क्या तुम सो रहे हो, जागो! तुम्हारी माँ आयी हैं। बहुत दिनों से तुम मेरी गोद में नहीं खेले हो। आज देर रात तक मैं तुम्हें गोद में रख सुलाऊँगी। तुम्हें कल सूर्य निकलते ही राजा की आज्ञा से उत्तरी दिशा में कोब्रु लाइखा नामक स्थान में कौब्रु लाइशा को पकड़ने जाना है। लेकिन सम्भव हो तो तुम मत जाना, क्योंकि उस ओर जाना तुम्हारे लिए अशुभ है। अगर तुम जाओगे तो तुम्हारी मृत्यु अवश्य होगी। इसलिए मत जाओ बेटा।



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

इस गाथा के अंश में स्वप्न को यथार्थ की तरफ ले जाता है कि मोइराङशा के स्वप्न में उसकी माँ उसके निकट भविष्य में आने वाली घटना के बारे में पूर्व चिन्ता देकर उससे बचने के लिए कहती हैं। इस लोक गाथा में कई लोक तत्त्व समाविष्ट होते हैं। जैसे सपने में विश्वास करना उसी विश्वास को यथार्थ रूप में देखना, लोक विश्वासों पर आधारित कई बातों का उल्लेख करता है। इस प्रकार मोइराङशा के सपने में माँ आकर सावधान करना और लोक विश्वास में जैसे 'थासी माइकै थोकपा'[9] के दिन घर से बाहर कहीं सफर करते समय वह दिशा अगर थासी माइकै होगा तो सफर अशुभ हो जाता है या कई संकटों का सामना करना पड़ता है आदि विश्वासों को मोइराङशा के मृत्यु के बाद यथार्थ रूप में प्रकट करता है।

**4. लोक नाट्य**—लोक नाट्य लोक और नाट्य का संयुक्त रूप है। लोक शब्द के द्वारा जो जन-समूह हमारे सामने आता है, उसके कृति जब नाट्य रूप में कथोपकथन के माध्यम से किसी कथावस्तु को उपस्थित करती है, उसे लोक नाट्य कहते हैं।

नाट्य में गीत, नाट्य और संगीत की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। गीतों में संगीत योजना बड़ा आनन्द प्रदान करती है परन्तु साथ ही यदि नृत्य का भी सहयोग हुआ तो आनन्द की सीमा नहीं रहती है। ग्रामीण जनता नाटक देखकर जितनी प्रसन्नता का अनुभव करती है उतना किसी दूसरी वस्तु से नहीं। लोक समाज में उल्लास के क्षणों को इनके द्वारा ही उचित अभिव्यक्ति मिलती है। इनमें लोक जीवन का यथार्थ चित्रण होता है। लोक नाट्य सामूहिक आवश्यकताओं और प्रेरणाओं के कारण निर्मित होने से लोक कथानकों, लोक विश्वासों और लोक तत्त्वों को समेटे हुए चलता है और जीवन का प्रतिनिधित्व करता है।

लोक नाट्य की विशेषता को प्रकट करते हुए डॉ. श्याम परमार ने लिखा है कि—"लोक नाट्यों की विशेषता उसके लोकधर्मी स्वरूप में निहित है। लोक जीवन से उसका नाता अंग-अंगी का है। बाह्याडम्बरों एवं सुसंस्कृत नागरिक चेष्टाओं के बिना लोक के मनोभावों और प्रतिक्रियाओं का स्वतंत्र विकास केवल लोकधर्मी नाट्य शैली में ही सम्भव है।"[10]

'शुमाङ लीला' मणिपुर की एकमात्र लोकदर्मी नाट्य शैली है। नामकरण की दृष्टि से इसका नाम शुमाङ (आँगन) को जोड़कर बनाया है, जिसके अन्तर्गत नाट्य प्रस्तुतियाँ आँगन में सम्पन्न होती हैं। इसका रंगमंच खुला मंच होता है। यह 'शुमाङ लीला' आँगन में ही खेला जाता है। साधनहीन अवस्था में नाट्य-आयोजन करके जनसाधारण का मनोरंजन करना और लोक धर्मानुसार जीवन की प्रकृ प्रस्तुति करना इसका लक्ष्य है। इसमें हास्य, व्यंग्य, सहज, यथार्थ, उन्मुक्त अभिनय पूर्व निर्धारित स्थितियों, संवादों, घटनाओं में अवसर और आवश्यकतानुसार जोड़-घटाव, लोक-व्यवहृत भाषाई मुहावरे के अनुसार नाट्य भाषा का चयन आदि की विशेष भूमिका होती है। शमाङ लीला के पात्र अपने सम्पूर्ण प्रभाव में भीड़ का हिस्सा प्रतीत होते हैं तथा भीड़ नाट्य-प्रस्तुति का हिस्सा बन जाती है।

---

9. थासी माइकै थोकपा—मणिपुरी समाज में जिन-जिन दिशाओं में तीन-तीन महीनों में अशुभ मानता है। इन महीनों और दिशाओं के सूची निम्नलिखित हैं—1. वैशाख, भद्र, पौष महीनों में ईशा कोण (उत्तर-पूर्वी कोण) में जाना अशुभ माना जाता है। 2. जेष्ठ, आश्विन, माघ ये तीन महीनों में उत्तर दिशा में जाना अशुभ माना जाता है। 3. आषाढ़, कार्तिक, फाल्गुन, महीनों में पूर्वी दिशा में जाना अशुभ माना जाता है। 4. श्रावण, अगहन और चैत्र महीनों में वायव्य कोण (पश्चिम और उत्तर) में जाना अशुभ माना जाता है।
10. डॉ. जयदेव कुमार शर्मा—रीतिकालीन रीतिमुक्त काव्य में लोक तत्त्व, पृ. 23।



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मणिपुर के परम्पराओं में प्रचलित शुमाङ लीलाओं का नाम इस प्रकार है:—

1. फागी लीला,
2. थोक लीला,
3. इपोम लीला तथा
4. इशै लीला।

पहले की तीन लीलाएँ हास्य-व्यंग्य पर आधारित लीलाएँ होती हैं। पहले जमाने में इशै लीला में गीत प्रधान होती थी। इसमें हर बात पर गीत गाकर अपनी बात प्रकट करते थे। अब इशै लीला का रूप परिवर्तन हो गया है। शुमाङ लीला और इशै लीला का समन्वय हो गया है कि एक-दूसरे का पूरक बन गया है। अब शुमाङ लीला गीत ही नहीं छोड़ सकता।

**5. लोक सुभाषित**—लोक साहित्य में लोक गीत, लोक कथा, लोक गाथा, लोक नाट्य के अलावा ऐसी भी मौखिक साहित्य प्राप्त होता है जिसमें लोकोक्ति, मुहावरे, पहेलियाँ आदि लोक सुभाषित में सम्मिलित हैं। मणिपुर में ये तीनों सुभाषित प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इन तीनों सुभाषितों का इस प्रकार चर्चा करेंगे—

**लोकोक्ति**—लोक की अभिव्यक्ति लोक वाणी के विभिन्न रूपों में रूपायित होती हैं। वाणी के रूप सामान्यत: लोक की उक्ति या कथन को लोकोक्ति कहा जाता है। मणिपुरी भाषा में लोकोक्ति को 'पाओरौ' कहा जाता है। मणिपुरी लोकोक्ति का एक उदाहरण देखिए—'अहल मथिना चफु मेल्ली', इसका शाब्दिक अर्थ है—बड़ों के मल से घड़े का छेद बन्द करना। इसका अर्थ यह है—बड़ों के शिक्षा से सबका काम सिद्ध होता है। यह भी लोक तत्त्व है।

**मुहावरे**—मुहावरा शब्द मूलत: अरबी भाषा का है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—आदी, अभ्यास या बातचीत। मुहावरे का अर्थ अभिधा पर नहीं बल्कि लक्षणा और व्यंजना शब्द-शक्तियों पर अवलम्बित होती है। उदाहरणार्थ 'नाकों चने चबाना' चने चबाने की क्रिया मुख से होती है न कि नाक से। अत: लक्षणा शब्द-शक्ति के आधार पर मुहावरे का प्रचलन अति प्राचीन है। मणिपुरी भाषा में मुहावरे को 'पान्थै' कहा जाता है। मणिपुरी भाषा में मुहावरे का एक उदाहरण प्रस्तुत है—'ङक हाइगतपा' इसका शाब्दिक अर्थ है—'गर्दन उठाना'। इसका अर्थ हुआ—घमण्डी होना।

**पहेली**—पहेली शब्द संस्कृत के प्रहेलिका से विकसित है। पहेली के लिए 'ब्रह्मोदय' और 'बुझौवल' शब्द भी प्रचलित हैं। पहेलियाँ लोक-मानस के मनोरंजन और बुद्धि परीक्षा की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। इनके द्वारा बालकों के मानसिक विकास को भी परखा जाता है। मणिपुरी भाषा में पहेली को 'पाओखोङ' कहा जाता है। यह भी मणिपुरी लोक साहित्य का प्रमुख तत्त्व है। यहाँ उदाहरण प्रस्तुत है—

*''देश है मगर वहाँ कोई राजा नहीं*
*शहर है मगर बिल्कुल सुन-सान है,*
*नदी है वहाँ पानी नहीं।'' वह क्या है?*

उत्तर—नक्शा

दूसरा— *मरिज खड़ा रहता है,*
*इलाज करने वाले लेटता है।*
*बोलो वह क्या है?*

उत्तर—गाड़ी ठीक करना

**निष्कर्ष**—मणिपुर के लोक साहित्य का लोक तात्त्विक अनुशीलन में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लोक गीत में कार्य-कारण आधारित लोक तत्त्व मिलता है, जैसे—गुरुवार को घर से निकलकर परदेश जाना अशुभ माना जाता है। उसी प्रकार मणिपुरी लोक कथा में सपना को यथार्थ के रूप लेकर दिखा देता है कि सनरेम्बी



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के सपने में उसकी माँ आ जाती है और कहती है कि तुम कल झील में जाकर कछुआ पकड़ लाना और उसको घड़े में सात दिन तक रखो और फिर मनुष्य बनना, सपना सच होना आदि लोक कथा में निहित लोक तत्त्व हैं। इतना ही नहीं, लोक गाथा में भी इस प्रकार का लोक तत्त्व मिलता है। लोक नाट्य में मनोरंजन, सहज, हास्य-व्यंग्य पर आधारित होती है। लोक सुभाषित में लोकोक्ति, मुहावरे, पहेलियों में लोक तत्त्व मिलती है। हर लोक सुभाषित में लोक तत्त्व निहित है, जैसे—बड़ों के मल से घड़े का छेद बन्द किया जाता है। इसका आशय है कि—बड़ों द्वारा कही गई बात या किया गया काम व्यर्थ नहीं जाता। यह कार्य-कारण परम्परा पर आश्रित है।

## संदर्भ


1. भारतीय लोक साहित्य कोश (मणिपुरी), भाग-1, 7।
2. लोक साहित्य की भूमिका, डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद-3, संस्करण-2002।
3. लोक साहित्य विज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र, शिवलाल अग्रवाल, कं. लिमिटेड, आगरा, द्वितीय संस्करण-2007।
4. लोक कथा विज्ञान, श्रीचन्द्र जैनट, मंगल प्रकाशन, जयपुर-1, प्रथम संस्करण-1976।
5. रामवीर सिंह—समन्य पूर्वोत्तर उत्तरी-पूर्वी भारत का सांस्कृतिक झरोखा, अंक-7, अप्रैल-जून-2010।
6. हिन्दी और मणिपुरी की समान शब्दावली (व्यतिरेकी अध्ययन), सि. ब्रजेश्वर शर्मा, 2000।
7. Linguistic Survey of India, Vol. III, pt. III, 1904 (G.A. Greirson).
8. लोनगी वारें, आई.एस. काङजम्, पृ. 53।
9. डॉ. एस. तोम्बा सिंह—मैतै लोनगी इतिहास अमसुङ बनान, पृ. 405।
10. अरिबम कृष्णमोहन शर्मा—हिन्दी और मणिपुरी परसर्गों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 2।


❑


शोधार्थी : हिन्दी विभाग,
मणिपुर विश्वविद्यालय,
काँचीपुर




CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# मणिपुरी नाटककार श्रीबीरेन और उनके नाटक 'हल्लकपा'

## (आधुनिक सभ्यताजन्य अस्तित्वगत संकट के विशेष संदर्भ में)

**बिनिता अकोइजम**

**श्री**बीरेन, जिन्हें हम मणिपुरी साहित्य जगत् के एक महान् हस्ताक्षर के रूप में पहचानते हैं, मणिपुरी असंगत नाटक के संवाहक भी रहे हैं। उन्होंने अपने जीवनकाल में कुल चार नाटकों की रचना की है, जिनमें हैं—खोङ्चत, हल्लकपा, अनी तथा कैराक। प्रथम तीन नाटकों का प्रकाशन संकलित रूप में 'हल्लकपा' (1973) शीर्षक से हुए तथा अंतिम नाटक 'कैराक' अराम्बम समरेंद्र के संपादन में 'खोमजिल्लबा मणिपुरी लीला मचाशिङ्' (1997) नामक मणिपुरी नाट्य संग्रह में प्रकाशित हुआ। उनके चारों नाटकों में कहीं न कहीं आधुनिक जीवन के भयावह रूप का चित्रण किया गया है। उनके नाटकों में आधुनिक मानव की उद्देश्यहीनता, मूल्यहीनता, अस्तित्व संकट, घुटन तथा अपनी पहचान न बना पाने की छटपटाहट आदि सामान्य रूप में परिलक्षित होते हैं।

श्रीबारेन के चारों नाटकों में से 'हल्लकपा' नाटक, जिसकी चर्चा इस आलेख में की जा रही है, मणिपुरी असंगत नाटकों की अगुआई करने वाला नाटक है। नाटक में केवल दो ही पात्र हैं—स्त्री तथा पुरुष। नाटक का मंचन आदि से अन्त तक एक ही घटना स्थल—किसी घर के आँगन में बिना किसी साज-सज्जा के होता है। घर छोड़कर चले जाने के वर्षों बाद पुरुष के पुन: घर में वापस लौटने की घटना से नाटक का आरम्भ होता है। पुरुष की पत्नी, जो स्वयं को उस घर की एकमात्र अधिकारिणी समझती आयी है, पुरुष को पहचानने से इन्कार करती हुई उसे घर के अन्दर प्रवेश करने से रोकती है। इस बात पर स्त्री-पुरुष दोनों के बीच कुछ देर तक काफी तू-तू, मैं-मैं हो जाती है जो अचानक रुक जाती है और एक-दूसरे के साथ समझौता करते हुए जीवन को फिर से एक नये सिरे से शुरुआत करने की बात में बदल जाती है। लेकिन दूसरे ही पल तुरन्त स्त्री का तेवर बदल जाता है और वह अपने घर के अन्दर से कुछ कपड़े और तस्वीर लाकर पुरुष को देती है जो असल में पुरुष की अपनी निधि निकलती है।


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अपने कपड़े होने के बावजूद भी वे कपड़े कुछ बड़े निकलते हैं जो पुरुष द्वारा पहनने पर ढीले पाये जाते हैं। स्त्री की दी हुई तस्वीर, जिसे वह अपने पति की बताती है, हू-ब-हू पुरुष की शक्ल से मिलती है लेकिन इतना सब होने के बावजूद भी स्त्री पुरुष को अपना पति मानने से इन्कार करती हुई अपने निश्चय पर दृढ़ रहती है और उसे घर में प्रवेश करने नहीं देती है। स्त्री की उन हरकतों से तंग आकर पुरुष भी अपने साथ लायी अपनी पत्नी की एक तस्वीर स्त्री को दिखाता है और स्त्री से भी अपनी पहचान देने का आग्रह करता है। वह तस्वीर स्त्री की शक्ल से हू-ब-हू मिलती है लेकिन पुरुष भी उसे अपनी पत्नी मानने से इन्कार कर देता है। दोनों एक-दूसरे को पहचान ही नहीं पाते हैं। दोनों एक-दूसरे की पहचान देने की, अपने अस्तित्व का कोई एक चिह्न या प्रतीक प्रस्तुत करने की माँग करते हैं, जो दोनों नहीं दे पाते हैं। तरह-तरह की ऊल-जलूल भरी बातें तथा अपनी पहचान न बता पाने की छटपटाहट के साथ नाटक का अन्त होता है।

नाटक में चूँकि कोई कथा विशेष नहीं है बल्कि एक स्थिति भर है जो देखने में अति साधारण प्रतीत होती है। लेकिन इस साधारण प्रतीत होने वाली कथावस्तु के पीछे एक गम्भीर एवं ज्वलंत समस्या छिपी हुई है। नाटक में आये दोनों पात्र—स्त्री तथा पुरुष दोनों प्रतीकात्मक हैं। उनकी प्रतीकात्मकता के भीतर कई ऐसे पहलू छिपे हुए हैं जिनको परत-दर-परत उजागर किया जा सकता है।

'हल्लकपा' दरअसल मानव की अपनी संस्कृति के प्रति लापरवाही, उपेक्षा, अवहेलना, परायी चीजों को अपना समझने और पॉस्टकलोनियल और न्योकलोनियल के सभ्य समाज के अन्तर्द्वन्द्व से उत्पन्न नाटक है।[1] इस नाटक को हम वैश्विक एवं राष्ट्रीय संदर्भ में देख सकते हैं। वैश्विक संदर्भ में यदि हम देखें तो पुरुष उस मानव जाति का प्रतीक है जिसकी पहचान एवं अस्तित्व आधुनिक सभ्यता जनित औद्योगिक दबावों, निर्वैयक्तिक शक्तियों जैसी बड़ी-बड़ी शक्तियों से दबकर कहीं खो-सा गया है। यह उस आधुनिक परिवेश में जी रहे निस्सहाय, संकटग्रस्त, अकेलेपन से जूझता हुआ एवं अपने अस्तित्व की पुन: खोज में निकले उस आधुनिक मानव का प्रतीक है जो अन्त में निराशा, संत्रास एवं अकेलेपन का शिकार होता है। जिन मानवीय संस्थाओं, निर्वैयक्तिक शक्तियों से आज का मानव दब रहा है, उन शक्तियों की प्रतीक है—स्त्री। स्त्री का पुरुष को घर में प्रवेश करने से तथा वहाँ रहने से रोकना पृथ्वी में अपनी पहचान बनाने में बाधाएँ उत्पन्न करने की प्रक्रिया का प्रतीकात्मक रूप है। घर इस विशाल पृथ्वी का प्रतीक है। इस सम्बन्ध में मणिपुरी नाटक साहित्य के विशेषज्ञ हाओबम गौरदास सिंह के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—''समकालीन परिवेश में, विशेष रूप से पश्चिमी समाज में स्टेट की, राजनीति की, संस्कृति की और संघ-संस्थानों की शक्तियाँ ज्यों-ज्यों बढ़ी, त्यों-त्यों उनके हाथ बढ़ गये जिसके कारण व्यक्ति का अस्तित्व भी त्यों-त्यों छोटे पड़ने के साथ-साथ स्वयं भी क्षुद्र व क्षीण होता जा रहा है और मशीन एवं उत्पादन की मात्रा बढ़ जाने से आत्मा को मारने वाली (सोल किलिंग) सभ्यता ने मनुष्य के समस्त व्यक्तित्व को पीसकर नष्ट कर दिया है जिसके कारण समान रेजिमेंट (संगठन) में एक प्रकार की ज़िन्दगी को लाया गया है, साथ ही समस्त ट्रडिशनल वैल्यूस (परम्परागत मूल्यों) का ह्रास हो रहा है, इन सबके कारण क्षुद्र व क्षीण होती हुई आइडेंटीटि (पहचान), खोये हुए तथा भयावह रूप से परिवर्तित एक हालात को एब्सर्ड थियेटर (असंगत रंगमंच) के एक्सोटिक (विजातीय) आवरण में प्रदर्शित किया गया है।''[2]

आज निर्वैयक्तिक शक्तियों, उद्योगों, यंत्रों आदि का बोलबाला है। मानव जाति इनके चंगुल में फँसकर उनकी दास हो गई है। इनसे प्राप्त सुख-सुविधाओं की यह इतने अभ्यस्त हो गई है कि इनको छोड़कर, इनसे अलग होकर जीने की हिम्मत नहीं जुटा पा रही है। मानव जाति


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के साथ ये इतने घुले-मिले हुए हैं कि अब इनके जड़ या कहें उद्गम के बारे में प्रश्न करना ही व्यर्थ हो गया है। इस संदर्भ में स्त्री का यह कथन उल्लेखनीय है—

स्त्री : *मैं नहीं जानती कि मैं किस दिन इस घर में आयी थी। याद भी नहीं रहा। इस घर में मैं ऐसी ही रह रही थी, रहती आयी हूँ। इस तरह मैं इस घर के साथ एक हो गयी हूँ।*[3]

आज मानव जाति इस आधुनिक सभ्यता एवं इसके उत्पादनों का दास होकर भटक रही है। आज उसका धर्म, संस्कार तथा मूल्य कहीं खो गये हैं। निष्ठा, श्रद्धा जैसे कई पारम्परिक मानवीय मूल्यों का ह्रास हो गया है जिसके चलते आज इसकी पहचान कगार पर है। निर्वैयक्तिक शक्तियाँ उससे कहीं ज्यादा शक्तिशाली होकर उसके अस्तित्व को खायी जा रही है। इन शक्तियों के प्रतीक रूप में आयी स्त्री के संदर्भ में कहे गए पुरुष के शब्दों में इस यथार्थ का भयावह चित्र देखा जा सकता है—

*पुरुष : तुम्हारा मुँह कितना चौड़ा, जैसे इस जगत को निगल लेगा। जितना खाये उतना भूखा, जितना भरता जाए उतना अधूरा हो जैसे। हमेशा अपनी जीभ निकालकर खाने को लपकता रहता हो।*[4]

यहाँ इन उपर्युक्त शब्दों में आज विश्व भर में पनप रही उपभोक्तावादी संस्कृति तथा इसकी शक्तियों का आभास भी मिलता है। विशेष रूप से इन शक्तियों के ही कारण आज मानव आधुनिक सभ्यता का दास बनकर छटपटा रहा है। उनके लिए आज विश्व में वो जगह नहीं रही जैसे पहले थी। अपने अस्तित्व एवं पहचान की खोज, उसे पुनः स्थापित करने की छटपटाहट उसे हर पल कोसती रहती है। इस छटपटाहट को नाटककार इस प्रकार व्यक्त करता है—

*पुरुष : ख़त्म हो गया, ख़त्म हो गया, खेल पूरी तरह ख़त्म हो गया।*
*आगे बढ़ाने के लिए कुछ न रहा।*
*मेरे अस्तित्व का क्या प्रमाण है?*
*मेरे अस्तित्व का प्रमाण,*
*मेरे अस्तित्व का प्रमाण खो गया।*
*मेरी पहचान न रहा*
*इस विश्व में खुद की पहचान नहीं दे पा रहा हूँ।*[5]

एक तरह से इस नाटक में भारतीय पुरातन संस्कृति तथा भारत में प्रविष्ट पश्चिमी संस्कृति के संघर्ष का परिपाक भी आंका जा सकता है। यहाँ स्त्री पश्चिमी संस्कृति का प्रतीक है जो शनैः-शनैः देश का अभिन्न अंग बन गयी है। इस देश के धर्म, वेश-भूषा, खान-पान, भाषा, रहन-सहन—ऐसा कोई भी क्षेत्र हो जो इस नई संस्कृति से अछूते रहे हों। आधुनिक सभ्यता के चलते आज हमारा असली रूप, असली पहचान कहीं खो गये हैं। वर्षों से विदेशी संस्कृति को अंगीकृत करने के बाद हम आज उस मुकाम पर पहुँचे हैं जहाँ पूर्ण रूप से उस संस्कृति को छोड़ भी नहीं सकते, न ही उसे पूरे अधिकार सहित अपना सकते हैं बल्कि पूरे विश्व में अपनी एक पहचान न बना पाने के कारण छटपटा रहे हैं। आज हम उस धोबी के कुत्ते की तरह जी रहे हैं जो पूर्ण रूप से न अपने मालिक की सम्पत्ति होता है न ही घाट का। इस विश्व में अपनी एक जगह, अपना एक अस्तित्व जनाने में हमें कोसों दूर इतिहास के गर्भ में डुबकी लगानी पड़ेगी। हमें अपने आपको ढूँढ़ना होगा। हमारे पूर्वजों के बताये नक्शे कदम की पुनः खोज अति आवश्यक हो गयी है। इस बात पर दो मत होने की कोई गुंजाइश नहीं हो सकती है। स्वयं नाटककार के ही शब्दों में—"प्रश्न निकलते हैं—हमारे पूर्वज हमारे लिए क्या छोड़ गए हैं? हमने अपने पूर्वजों से क्या-क्या लिया है? ऐसी क्या चीज हमारे लिए छोड़ गए हैं जो इस युग के अनुकूल सिद्ध हो? हमारे आदि पूर्वजों का धर्म क्या था? ... हम जिस शिक्षा को अर्जित कर रहे हैं, क्या वह हमारे लिए उचित शिक्षा है?"[6] इन प्रश्नों के उत्तर में ही हमारी अपनी असली पहचान छुपी होगी। इसमें दो


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मत नहीं हो सकता। आज बाहर से आयी नयी संस्कृति हम सबको बहा ले जा रही है। साथ में हमारे पूर्वजों के धर्म, मूल्य, संस्कृति आदि को भी बहाकर ले जा रही है। नई संस्कृति हमारी रगों में इस कदर दौड़ गयी है कि हम चाहें तो भी इसे अपने से जुदा नहीं कर पा रहे हैं बल्कि हम पर हावी हो रही है। नाटक में इसके प्रतीक रूप में स्त्री के कथन का उल्लेख करना इस प्रसंग में उचित होगा—

*स्त्री : मैं, जब से मैंने जाना है इस घर में रहती आयी हूँ। यह घर मेरा ही होता रहा है। इस पर भी यदि यह मेरा घर नहीं होगा तो किसका होगा?*[7]

असल में हमारी यह दशा हमारे ही किये का फल है। स्वयं हमारी ही लापरवाही से या कहें अपनी चीजों से ज़्यादा दूसरों की चीजों पर आकृष्ट हो जाने के कारण या कहें हमारे ही आमंत्रण पर यह हमारे देश में शान से आयी थी। अब इसको आये हुए युग बीत गए। काफी कुछ ओढ़कर जीने के बाद हम काफी हद तक बदल गए हैं। अपना असली रूप खोकर हम कुछ और बन गए हैं जिसकी कल्पना न कभी हमने की थी, न ही हमें अभिष्ट था। इस बात को नाटककार ने पुरुष के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किया है—

*पुरुष : अपना नाम भूल गया हूँ मैं*
*मैं, मैं नहीं रहा*
*कोई और बन गया हूँ मैं?*
*कौन बन गया हूँ मैं?*
*कौन? कौन? कौन?*
*मुझसे परिवर्तित यह व्यक्ति कौन है?*[8]

आज हम अपने ही देश में निर्वासित हैं। अपनी भाषा से कहीं ज़्यादा विदेशी भाषा हमें प्रिय लग रही है, अपनी वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन सभी में हम अपने से कहीं ज़्यादा दूसरों को अपना रहे हैं। हमने अपना सब कुछ दाँव पर लगा दिया है। इस नई संस्कृति की चमक-दमक में हमने अपने पूर्वजों की समस्त देन को स्वाहा कर दिया है। हमारी इसी नादानी की बदौलत आज हम पूरे विश्व में अपनी पहचान तो खो ही रहे हैं लेकिन साथ ही अपनी नई पहचान भी स्थापित नहीं कर पा रहे हैं। तमाम कोशिशों के बावजूद भी जब हमें निराशा हाथ लगी तब इस नाटक में आये पुरुष की तरह हताश होकर 'ऐसा क्यों? क्यों हुआ ऐसा?' जैसे सवालों को बड़बड़ाना ही उचित है।

आज भूमण्डलीकरण का दौर है। हमारा देश भारत भी इससे अछूता नहीं है। इसके प्रभाव से आज दुनिया बहुत छोटी प्रतीत हो रही है। सभी देश, सुदूर प्रान्त, सब एक-दूसरे के बहुत करीब आ गये हैं। इसके विपरीत आज परिवार के सदस्य, रिश्ते-नाते, मुहल्ले सब एक-दूसरे से दिन-ब-दिन दूर होते जा रहे हैं। आज विश्वास, श्रद्धा आदि मूल्यों को भी तर्क एवं यथार्थ की तराजू पर तोला जा रहा है। ईश्वर के प्रति पहले जैसी हमारी श्रद्धा नहीं रही। आज की भाग-दौड़ भरी ज़िन्दगी में हम ्पनों के लिए समय नहीं निकाल पा रहे हैं। हम एक-दूसरे से दिन-ब-दिन दूर होते जा रहे हैं। हमारे बीच घुटन, संत्रास, अजनबीपन, सम्पर्कहीनता इस कदर घर कर गयी है कि हम अन्दर से टूट रहे हैं। आज हम समझौते के बलबूते पर मजबूरन एक शुष्क जीवन जी रहे हैं। नाटक के निहितार्थ में न जाकर केवल ऊपरी कथावस्तु की यदि हम चर्चा करें तो इन उपर्युक्त चर्चित बिन्दुओं की स्पष्ट झाँकी हमें प्राप्त होती है। नाटक में आये दोनों पात्र—स्त्री एवं पुरुष पति-पत्नी हैं लेकिन दोनों एक-दूसरे के लिए अजनबी जैसे हैं। दोनों के बीच विश्वास, श्रद्धा का लेस मात्र अंश भी नहीं है। सम्पर्कहीनता उनके संवाद की विशेषता है। असल में दोनों एक-दूसरे के बीच कोई ऐसा उचित सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते हैं जिसकी उनसे अपेक्षा थी। यही आज के मानव की विडम्बना है।


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मणिपुरी नाट्य-साहित्य के मर्मज्ञ आलोचक श्री लोङ्जम शरतचन्द्र सिंह के शब्दों में हम इस नाटक में अंकित अस्तित्व संकट की समस्या को इस प्रकार निष्कर्षत: रख सकते हैं—''श्रीबीरेन का 'हल्लकपा' मानव के खुद को न पहचान पाने की, एक-दूसरे के बीच सार्थक एवं उचित सम्बन्ध स्थापित न कर पाने की निराशा को चित्रित करने वाला नाटक है। खुद की पहचान की खोज में निराशा के शिकार होकर मानव को असफलता ही हाथ लगती है। उसका अस्तित्व ज्यों-ज्यों क्षीण हो जाने से इस विशाल विश्व में अपनी एक जगह भी न स्थापित कर पाना, जिससे उत्पन्न निरर्थक जीवन के निराशपूर्ण रूप को नाटककार ने अंकित किया है। इस युग की मशीनी सभ्यता जनित प्रभाव के कारण मानव की पहचान कहीं खो गयी है, व्यक्तिगत जीवन से समष्टिगत जीवन कहीं ज्यादा शक्तिशाली हो गयी है जिसके कारण पहले से प्रचलित कई मूल्यों का ह्रास हो गया है। नाटककार ने इन सबकी झलक नाटक में अंकित करने का प्रयास किया है।''[9] पुरुष के बड़े कोट, पतलून उसके अस्तित्व के क्षीण हो जाने का प्रतीक है—

पुरुष : *(आश्चर्यचकित होकर) सब ढीला पड़ गया। एक भी नहीं आ रहा है। मेरे पहने हुए सारे कपड़े बड़े हो गए! मैं छोटा हो गया! मैं बहुत छोटा हो गया। मेरे सारे कपड़े बड़े हो गए! बड़े हो गए। क्या यह हो सकता है? क्या यह हो सकता है? नहीं, नहीं, यह नामुमकिन है। यह नहीं हो सकता। यह तो सपने में ही हो सकता है। मेरे पहनने के कपड़े नहीं रहे। मेरे अपने कपड़े। मेरे अपने कपड़े! (अस्वस्थ हो जाता है)।*[10]

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि श्रीबीरेन ने मणिपुरी नाट्य साहित्य जगत् में असंगत दिशा का प्रवर्तन किया। वर्तमान मणिपुरी समाज जिस अस्तित्व संकट से जूझ रहा है—जो विसंगति, विद्रूपताएँ, संत्रास, अजनबीपन यहाँ व्याप्त है उनका 'हल्लकपा' नाटक उसे आवाज़ देता है।

## संदर्भ


1. लाईश्रम निपामचा—श्रीबीरेनगी साहित्य नैनबा, अप्रकाशित शोधालेख, मणिपुरी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय-2008, पृ. 117।
2. हाओबम गौरदास—हौजिक्की मणिपुरी साहित्य-ड्रामा, ऋतु, खण्ड-7, सं. 5, वर्ष 16, पृ. 22।
3. श्रीबीरेन—हल्लकपा, राज स्टोर, पाओना बाज़ार, इम्फाल, मणिपुर, पहला संस्करण, 1973, पृ. 46।
4. वही, पृ. 46।
5. वही, पृ. 65।
6. श्रीबीरेन—'अनौबा मित्येङ्गी अचुम्बा', हल्लकपा, राज स्टोर, पाओना बाज़ार, इम्फाल, मणिपुर, पहला संस्करण, 1973, पृ. x-xi।
7. श्रीबीरेन—हल्लकपा, राज स्टोर, पाओना बाज़ार, इम्फाल, मणिपुर, पहला संस्करण, 1973, पृ. 49।
8. वही, पृ. 55।
9. श्री लोङ्जम शरतचन्द्र सिंह—श्रीबीरेनगी साहित्यगी खुतङ, अप्रकाशित शोधालेख, मणिपुरी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय, 1988, पृ. 205।
10. श्रीबीरेन—हल्लकपा, राज स्टोर, पाओना बाज़ार, इम्फाल, मणिपुर, पहला संस्करण, 1973, पृ. 65।


❑


शोधार्थी : हिन्दी विभाग,
मणिपुर विश्वविद्यालय,
काँचीपुर, इम्फाल (मणिपुर)




CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# लम्बी कविताओं में राजनीतिक संदर्भ

**डॉ. रजनी बाला**

आज़ाद भारत में लोकतन्त्र के नाम पर अधिनायकवाद इस तरह पनपा कि परिचित शब्दों के अर्थ और संदर्भ बदल गये। लोग उन शब्दों को पकड़ने-समझने की कोशिश करने लगे जो उन्होंने अब तक न पढ़े थे, न सुने थे। देखते ही देखते नेहरू के समाजवाद का अर्थ इन्दिरा, संजय, राजीव, सोनिया और प्रियंका-राहुल की वंश परम्परा तक सिमटकर रह गया और इस तरह एक बार फिर राजतन्त्र की स्थापना हुई। अनगिनत मुखौटों में वास्तविकता छुपाने वाला नट नेता हो गया और लोकतन्त्र का अर्थ भोगतन्त्र में तब्दील हो गया।

स्वतन्त्रता के साथ विरासत में मिला विभाजन मोहभंग का पहला चरम रूप है जिसका फैलाव कालान्तर में भारत-पाक और भारत-चीन के विभिन्न युद्धों, आपातकाल, 1984 के उग्रवाद, 1990 के कश्मीरी पंडितों के विस्थापन, क्षेत्रीय-प्रान्तीय धरातल पर उठते-गिरते साम्प्रदायिक-भाषायिक तनाव के साथ आटा, दाल, चावल और रोटी, कपड़ा, मकान की जुगाड़ में टूटते, घिघियाते आम आदमी की तस्वीर में बेतुके रंग भरने में हुआ है।

आज़ादी से पहले विदेशी सत्ता के प्रति विद्रोह था अतः स्थिति उतनी दयनीय नहीं थी लेकिन आज प्रजातान्त्रिक प्रणाली अपनों द्वारा, अपनों का, अपनी सत्ता के स्वार्थ हेतु राजनीतिक प्रयोग कर हमें पहले से कहीं अधिक बेबस और बेचारा बनाये दे रही है। इसी तनाव को लम्बी कविता ने जाना-पहचाना है।

मोहभंग को सीधी-सीधी किन्तु तनावपूर्ण शैली में स्पष्ट करने वाली लम्बी कविताओं में धूमिल की पटकथा बहुचर्चित है। कवि ने स्वतंत्रता के उजाले के साथ ही अहिंसावादी नेहरू युग की अन्दरूनी निर्मम जाँच की कि पेट की भूख मिटाने की आशा गँवाने से आम आदमी अपनी ही नजरों में गिरता जा रहा है, इसीलिए सब संवेदनाशून्य हो गये हैं। कविता का सबसे अहम् पक्ष कवि



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के हमशक्ल के नाटकीय रूप में हिन्दुस्तान के माध्यम से हिन्दुस्तान बनाम भारत माँ के आसुओं के कारण की जाँच करना है। धूमिल ने ऐतिहासिक तनाव को राजनीतिक अराजकता और खण्डित होते मानव मूल्यों के संदर्भ में तानकर देखा है। इस प्रकार व्यवस्था की अमानवीय परिस्थितियों से संघर्ष और उनके नकारात्मक परिणाम की गाथा है 'पटकथा'।

आज़ादी के दिन से ही साम्प्रदायिक तनाव के बीच मानवीय त्रासदी और विसंगति का जो दौर चला वह आज तक नहीं थमा है। लम्बी कविता की केन्द्रीय वस्तु में इस तनाव को अनेक विचारशील कवियों ने अलग-अलग संदर्भों में अभिव्यक्ति दी। भारत विभाजन की त्रासदी से विक्षुब्ध हिन्दू-मुस्लिम आज भी साम्प्रदायिकता की आग में एक-दूसरे को झोंकते हुए स्वयं झुलस रहे हैं। नरेन्द्र मोहन की 'एक अग्निकाण्ड जगहें बदलता' में विभाजन की विभीषिका में कवि के बालपन के छीन जाने का आत्मगत् तनाव स्मृति के सहारे केन्द्रीय चरित्र युसूफ के माध्यम से वर्तमान के साम्प्रदायिक और राजनीतिक अमानवीय छद्म पर कटाक्ष करते हुए अपनी जातीय मिट्टी की जड़ों तक पहुँचता है किन्तु तनाव है कि ढीलता नहीं और प्रश्न शेष रह जाता है कि मानवीय त्रासदी से मुक्ति पाने का हिंसा के अतिरिक्त 'कोई और रास्ता नहीं है क्या!'

नरेन्द्र मोहन की एक और लम्बी कविता 'एक अदद सपने के लिए' में केन्द्रीय स्थिति के रूप में पंजाब की 1984 की त्रासदी और उग्रवाद है। उग्रवादी की दिमागी स्क्रीनिंग करने वाली यह कविता साम्प्रदायिकता, राजनीतिक, दुष्चक्र, सांस्कृतिक बिखराव के साथ जलियांवाला काण्ड, विभाजन, वर्तमान विसंगत व्यवस्था, विद्रोह और इसके कारण टुण्डे बने आदमी की त्रासदी को भी दिखाती है। इसी की आवाज विनय ने 'यात्रा के बीच' में सुनी। यहाँ कवि निर्धारित समय पर घर न पहुँचने की सफाई अपनी पत्नी को देते हुए आत्मगत से व्यापक संदर्भों में फैलकर देश में चारों ओर के जहरीले वातावरण के बीच मानव की बेबसी और तत्जनित तनाव के समाचार सुनाता है।

रामदरश मिश्र की 'फिर वही लोग' राजनीतिक विसंगति को सामने लाती है। यहाँ छोटे-छोटे घटना चित्रों से केन्द्रीय स्थिति पर बराबर दबाव बना रहा है। यहाँ तनाव का स्तर महज़ कवि के विचारशील आग्रह तक सीमित नहीं है। यह तनाव उस सड़क का भी है जो स्वार्थी राजनीतिबाजों के हित में सीधी-नासमझ भीड़ द्वारा रौंदी जा रही है। उन खण्डों का भी है जो अपने वजूद को खोकर रोज नये-नये उगने वाले स्वार्थी कुकुरमुत्तों का प्रतिनिधित्व करने वाले झण्डे थामे हुए हैं। उस जनता का भी जो चन्द टुकड़ों के लिए बलि का बकरा बन रही है।

आज़ाद भारत में प्रजातन्त्र की कड़वी सच्चाई उस दृश्य से भी भयंकर है जो रमेश गौड़ ने 'पतनगाथा' के प्रारम्भ में ग्रामीणों और जमींदार के सन्दर्भ में दिखायी है। अब तो नौकरशाह और व्यवस्था, हत्यारे और मुंसिफ का चोली-दामन का साथ है। नेता गोलघर अर्थात् संसद के चक्कर में फँस गये और सारा चक्कर इसी चक्कर/घेरे में फँसे रहने के लिये चलाया जा रहा है। देश का वह स्थल जो सबसे ज्यादा जागरूक, सचेत होना चाहिए खर्राटें भर रहा है। पद और प्रतिष्ठा से लिसड़े बुद्धिजीवी इन नेताओं के वृंदगान गाने में लगे हैं। कुछ अन्य जो अपने कर्त्तव्य और परिवेश को लेकर संवेदनशील थे, जो सत्ता के समक्ष चुनौती प्रस्तुत कर सकते थे उनकी कुर्सी छीनकर उन्हें पागल करार दे दिया गया है। नौकरशाह, चापलूस अफसर, नेता, अधिकारी जो सब उस शख्स के नीचे के पायदान पर है, वे पहले दर्जे के घाघ हैं जो पीठ में छुरा घोंप कर सामने आँसू बहाते हैं। इन सबकी नकेल उसी शक्तिशाली



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

व्यक्ति के हाथ में है जो गाँव में जमींदार था और आज प्रधानमंत्री है।

इसी प्रकार भवानीप्रसाद मिश्र की 'तुम भीतर बन्द हो और हम बाहर' में *''पुराने सूत्रधार राजा थे सामन्त थे/ अब के प्रजातन्त्री हैं।/पुराने शाह थे सुल्तान थे/अब राष्ट्रपति हैं। प्रधानमन्त्री हैं''*[1] यह लम्बी कविता जयप्रकाश नारायण के आपातकाल विरोधी आन्दोलन, उनकी जेल यात्रा और सत्ता द्वारा उन पर किये अत्याचारों का कच्चा चिट्ठा खोलती है। कभी बर्फ युग में रहने वाला मानव आज हर्फ युग में रहने को विवश है। सत्ता के सूत्रधारों के दस-बीस सूत्री कार्यक्रमों का आलम यह है कि अनुशासन के नाम पर महाभारत की नपुंसक सभा की तरह सारे भीष्म-द्रोण सिर झुकाये, सच से सत्ता को बड़ा मानकर चुप बैठे हैं।

राजनीतिक मोहभंग ने बुद्धिजीवी के साथ आम आदमी के सामने सवालों के जो कैक्टस खड़े किये हैं, उनकी चुभन बसन्तकुमार परिहार की लम्बी कविताओं *'चिन्दी-चिन्दी अस्तित्व'*, *'उन्नीसवाँ अध्याय'*, *'भ्रमों के जंगल'*, *'आरम्भ होती है कविता'*, *'गुमशुदा चेहरे की तलाश'* और *'नक्शे पर नुक्ता'* में महसूस की जा सकती है। 'चिन्दी-चिन्दी अस्तित्व' में आज़ादी के पश्चात् मोहभंग की स्थिति है जिसके चलते व्यक्ति का अस्तित्व खण्ड-खण्ड हुआ है। एक तरह से कहें तो व्यक्ति खण्डित होकर अस्तित्वहीन हो गया है, क्योंकि जिन स्वप्नों या अधिकारों को लेकर स्वतंत्रता पायी थी उनकी पूर्ति अभी तक नहीं हो पायी है जिसके कारण व्यक्ति स्वयं को अति अपमानित या लज्जित होकर आधा-अधूरा अनुभव करता है। 'उन्नीसवाँ अध्याय' लम्बी कविता प्रत्यक्ष रूप से व्यवस्था के विरोध में साधारण व्यक्ति को खड़े होने के लिए प्रेरित करती है। जितनी भी मारक या संहारक स्थितियाँ हैं उनको नष्ट करने के लिए एक संघर्षकामी चेतना भरने का कार्य इस कविता में हुआ है। 'आरम्भ होती है कविता' में नौ ब्यौरेनुमा अन्तराल हैं जिनके माध्यम से कवि आज की भद्दी या बदरंगी दुनिया का चेहरा हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। एक विद्रोही व्यक्ति का विद्रोह क्यों असफल हो जाता है, यहाँ इस पर प्रकाश डाला गया है। इसके भी दो कारण मिलते हैं, एक तो उसे सही दिशा का ज्ञान नहीं है, दूसरा पेट की भूख एवं लालच के कारण इतना फँस जाता है कि सत्ता द्वारा किये जाने वाले मन लुभावने नारों में चिपक कर रह जाता है। इसमें गाँधी के सपनों का खण्डित भारत मिलता है। परिहार ने गाँधीजी के स्वप्निल भारत नहीं वरन् असली भारत को दिखाया गया है और गाँधीगिरी की आड़ में आज के नेता क्या-क्या कर रहे हैं इस बात की भी झलक मिलती है। 'भ्रमों के जंगल' लम्बी कविता में व्यक्ति के मानस पटल पर फैले भ्रमों को हटाने का कवि ने सफल प्रयास किया है ताकि सादारण व्यक्ति आज की व्याप्त विसंगतियों में न उलझे, या ऐसी विसंगत परिस्थितियों में अपना विद्रोह प्रकट करने के लिए स्वयं को सक्षम समझे। लेकिन यहाँ आम आदमी अपने कर्त्तव्य के प्रति इतना दिशाहीन हो गया है कि व्यवस्था के प्रति किस औज़ार से संघर्, करना है, उसे मालूम नहीं है। वह व्यवस्था के तन्त्र में आकर उनकी ही साजिशों का शिकार होकर इतना भ्रमित हो जाता है कि अपने अन्दर समाये तीव्र आवेश को हिम नदी को समर्पित कर देता है। यहाँ तक कि अपनी मुट्ठियों में बर्फ दबाकर सत्ता से विद्रोह करने के लिए निकल पड़ता है लेकिन ऐसी विपरीत स्थितियों से कवि असहमत है। विद्रोही व्यक्ति के हाथ में बर्फ नहीं बल्कि वह लोहार की भट्ठी और ठनठनाता हुआ हथौड़ा थमाना चाहता है ताकि ऐसी परिस्थितियों से निपटा जा सके। 'टुण्डे आदमी का बयान' में स्वतंत्रता के पश्चात् आम आदमी की, हिन्दुस्तान की क्या स्थिति रही उसे परिलक्षित किया गया है। टुण्डा आदमी है आज़ादी के बाद के मोहभंग से कुण्ठाजनित भारतीय जन-मानस। टुण्डेपन



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

से अभिप्राय उसके स्वप्नों का खण्डित होना। इस मोहभंग के लिए कवि परिहार मध्यवर्गीय सुविधाभोगी संस्कार को जिम्मेदार मानते हैं जो ऐन वक्त पर निष्क्रिय हो जाता है। वह न कुछ स्वयं करता है और न ही दूसरों को करने देता है। रोटी, कुर्सी, पद, प्रतिष्ठा का लालच उसे सत्ता के समक्ष कब पंगु बना दे, कोई पता नहीं; यही टुण्डे आदमी का बयान है। इसके बावजूद कुछ कर गुजरने का जज़्बा 'टुण्डे आदमी' को शक्तिशाली बनाता है।

गणेश पाण्डेय की 'सबद एक पूछिबा' राजनीति से प्रेरित और सत्तानुकूलित पुलिस प्रशासन पर सवाल दागती है। छोटे बाबा द्वारा बड़े बाबा से प्रश्न करने के क्रम में लिखी गयी यह कविता व्यवस्था के काले चिट्ठे को खोलती है। बड़ा बाबा शायद सारी स्थिति के पीछे के कारणों और समाधान को बता सके, क्योंकि वह दूरद्रष्टा है। इसलिए छोटे बाबा के माध्यम से कवि सवाल पर सवाल किये जाता है जिनका जवाब स्वयं पाठक को खोजना और सोचना है। कर्फ्यू का उदाहरण देते हुए कवि पूछता है—

*कर्फ्यू/जन भावनाओं को चोट पहुँचाने का क़ानून/है कि नहीं*
*प्रशासन की नाकामी को छिपाने का क़ानून/है कि नहीं*
*दूसरों के किये की सजा/भोली-भाली जनता को भुगतने का क़ानून/है कि नहीं*
*यह क़ानून अंग्रेज़ों के ज़माने का क़ानून/है कि नहीं*[2]

कर्फ्यू से जुड़े ये सवाल स्पष्ट करते हैं कि जिस शहर, प्रान्त पर यह लगता है वहाँ की नसें, स्पंदन बन्द हो जाते हैं, जिन्दगी ठहर जाती है और अधिकार छिन जाते हैं।

इंटरनेट पर उपलब्ध हरीश वाढेर की 'माया में माया' सीधे-सीधे आज की राजनीति और लालू जैसे नेताओं पर व्यंग्य करती है—"*आज के चरवाहे भैंसों की जीभ वाले/कलम को लट्ठ की तरह पकड़े/हथिया लेते काठ की कुर्सी/सारा देश/देश की सम्पदा देश का संविधान/और मानवीय विधान को/चरागाह में तब्दील कर/चर जाते जुगाली करते पीढ़ी दर पीढ़ी/जिसमें गुर्गे भी शामिल तमाम*"[3] चारा खाने वाले इन नेताओं की कृपा है कि हरित क्रान्ति आन्दोलन में भी खेत सूखे पड़े हैं। उस पर आलम यह है कि मीडिया और राजनीति के गठजोड़ के कारण आँखों को देखने की मनाही है। सिर्फ वही देख सकते हैं जो दिखाया जाता है। यह स्थिति आँखें होते हुए भी आँखें फोड़ देने जैसी है। उस पर समस्या यह है कि कोई शिकायत नहीं कर रहा। सभी चेहरों की पहचान छीनकर उन्हें देह में बदल दिया गया है।

राजनीतिक अव्यवस्था को मिटाने का संघर्ष आम तौर पर सफल नहीं हो पाता, क्योंकि विद्रोह की प्रक्रिया ठण्डी होती है और वह एक नपुंसक आक्रोश बनकर रह जाता है। दूसरी तरफ कहीं-कहीं कवि का अतिरंजनापूर्ण स्वर अपनी शक्ति को अधिक और स्थिति को कमतर आँकता है। कमर मेवाड़ी की 'आखिर कब तक' व्यवस्था के खिलाफ समाजवादी सोच की कविता है किन्तु कवि ने इसके लिए जो सम्भावना व्यक्त की है उसकी गुंजाइश दिखायी नहीं देती—"*पर वह दिन दूर नहीं/जब पूरा माहौल सुर्ख़ हो जायेगा/और तुम्हारे जैसे टुच्चे लोग/अपनी जान की सुरक्षा के लिए/संडास में घुसकर अन्दर की सिटकनी लगा लेंगे*"[4] इसी प्रकार यह घोषणा कि '*एक दिन आग लगा दूँगा इस पृथ्वी में*' जैसे अतिरंजनापूर्ण स्वर तनाव को कमतर आँकने के कारण दिये जाते हैं लेकिन वह आग कभी लग नहीं पाती।

मानबहादुर सिंह की 'लेखपाल' स्वतंत्र भारत में नीचे से ऊपर तक के स्तर पर फैली अफ़सरशाही, भ्रष्टाचार को सामने लाती है। इसके लिए कवि को लगता है कि कलम को तलवार की बजाय कुल्हाड़ी में बदलना ज़रूरी है, क्योंकि तलवार व्यक्ति को जबकि कुल्हाड़ी पूरे जंगल/व्यवस्था को काटती है।



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तीन खण्डों 'आदमखोर', 'अनास्था', 'यन्त्रस्थ पीढ़ी' वाली 'तलघर' में प्रमोद सिन्हा की राजनीति के बारे में राय है कि व्यवस्था गर्भपात का विषय बन गयी है। स्पष्ट है कि राजनीतिक विसंगति और अव्यवस्था 'तलघर' में समायी हुई है। इसके पहले भाग में मोहभंग की पीड़ा के साथ स्वतंत्रता के मायनों को नकारती राजनीति है। दूसरे खण्ड में इस स्थिति से उत्पन्न आदमी में ठहरे अनास्था के स्वर सुनने की कोशिश है। तीसरे अन्तराल में इस स्थिति की अभ्यस्त पीढ़ी के हवाले हैं जो अब संघर्ष के लिए प्रतिबद्ध है।

'नाटक जारी है' संग्रह में लीलाधर जगूडी की राजनीतिक व्यवस्था को रूपायित करने वाली दो लम्बी कविताएँ 'इस व्यवस्था में' और 'नाटक जारी है' हैं। पहली में आज़ाद भारत की दुरावस्था, नारे और हक़ीकत की तस्वीर का खुलासा है—*''लुट जाने के बाद हालत इतनी बकवास हो गयी/कि हर किसी को आजादी के नाम पर/अदालत जाने की लत पड़ गयी''*[5] पूरी कविता में व्यवस्था के दुष्चक्र के हवाले हैं और विरोध के असफल होने के कारणों की मीमांसा भी की गयी है कि मौका और धोखा लेकर भीड़ जिधर भी मुड़ेगी उधर ही उसकी अक्ल औंधी पड़ जायेगी। दूसरी कविता में भी व्यवस्था और तन्त्र का नाटक जारी है। इस स्थिति को दिखाने के लिए जो ऐतिहासिक संदर्भ संकेतित किये गये हैं उनमें बड़बोलापन अधिक और नाटकीयता कम है। स्थितियों के विवरण तो हैं पर उनमें टकराहट नहीं है।

दूसरी तरफ प्रणवकुमार वन्द्योपाध्याय 'मुर्दागाड़ी' में इस तरह की स्थिति से जूझने के लिए संघर्षशीलता को ज़रूरी मानते हैं। आग के गीत गाना और सचमुच आग बनकर खुद को जला डालना दो अलग बाते हैं। कवि की सलाह है कि संघर्ष ज़रूरी है चाहे उसका फायदा आने वाली पीढ़ी को ही मिले। रोशनी के कपड़ों की चाह न रखते हुए हमें अंधेरा देने वाले खुद जिस रोशनी की महफ़िल में बैठे हैं उसे तहस-नहस करना है। 'मुर्दागाड़ी' में व्यवस्था, आपातकाल के शिकार लोग, साम्राज्यवादी ताकतों के शिकार तीसरी दुनिया के देश भरे पड़े हैं। पूरी कविता में सच को पहचानने और खुद जलने की ज़रूरत का अहसास है। सच और कर्म की राह पर आने वाली बाधाओं से जुड़ा तनाव वैचारिक आवेग को प्रभावित करता है। 'मुर्दागाड़ी' अनवरत चलने वाली लम्बी कविता है जिसे कहीं पर भी खत्म समझा जा सकता है और कहीं से भी शुरू किया जा सकता है।

सत्ता के खिलाफ कदम उठाना आग मौत से खेलने के बराबर है इसलिए राजकुमार कुम्भज 'कविता समय' में थके हुए कदमों को घाटी के पीछे ही रुकने की सलाह देते हैं। दूसरी तरफ यह भी कहते हैं कि यह संघर्ष पानी पीकर नियमित रखना पड़ता है। हिंसा ज़रूरी है मात्र उपवास, शिकायत, चुपचाप मुखौटे बदलने से परिवर्तन नहीं होता लेकिन साथ ही कवि का विश्वास है कि रास्ते पर केवल कविता पहुँचती है। इस प्रकार द्वन्द्व और विभ्रम की स्थिति है। हालाँकि पूरी कविता में सशस्त्र क्रान्ति पर बल है किन्तु सुझाये गये विकल्प के बावजूद कवि किसी निश्चित विकल्प तक नहीं पहुँचता, क्योंकि वह उपदेशक या नेता नहीं है इसलिए कवि के स्वर में बड़बोलापन नहीं है। *''यकबयक/एक नरक सुलगता है/और पार्लियामेण्ट/कागज़ों के नीचे दुबककर/आँसू बहाने की चेष्टा करते हुए/अपना भत्ता/समेट लेती/है।''*[6] कवि अब आश्वासनों के खण्डहरों में और नहीं रहना चाहता। अंधेरे और ठण्डे कमरों से युद्ध शुरू करना चाहता है लेकिन हक़ीकत यह है कि गति कनपटी से शुरू होकर ओवरकोट की जेब तक रुक जाती है और *''जोखिम भरी सड़क/बेवकूफ मुहावरों को/अपनी पीठ पर उठाये/होटल की तरफ मुड़ जाती है।''*[7] सही वक्त पर सही चीज़ों का ग़लत प्रयोग



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हो रहा है और ऐसे माहौल में कवि जीने की कोशिश कर रहा है। कुल मिलाकर 'कविता समय' व्यवस्था के विरोध में शब्दों की व्यवस्था है।

जनशक्ति में अथाह विश्वास रखते हुए समाधान सुझाने की दृष्टि से लक्ष्मीकान्त वर्मा की 'एक इति के बाद' देखी जा सकती है। इस जनता को ज्वाला, आग, अंगारे चाहिए; बर्फ के दस्तानों में बंधी चिंगारी नहीं। कवि का मानना है—शासक मरता है, जनता नहीं लेकिन यह भी सच है कि शासक के मरने के बावजूद शासकीय मानसिकता नहीं बदलती। प्रत्येक शासनकाल में इस तरह के दृश्य देखे जा सकते हैं—

**स्याह काली पेशानियाँ**
*झुकी हुई रीढ़ और दुबकी हुई छातियाँ*
*और एक नंगी लाश जो हर मिनट सड़क पर*
*मिलती है*
*और एक अजनबी बच्चा जो हर पाँच मिनट*
*पर मतदाता बन जनमता है*
*और एक दुर्गा जो हर क्षण आवारा फाहिशा*
*होने पर मजबूर है*
*और एक नवजवान जो रेल की पटरियों पर*
*कत्ल होता है।*[8]

इस विसंगति को देखकर कवि जनशक्ति और उसी संग्रह शक्ति को लेकर तीन विकल्प सुझाता है कि चाहो तो इसे दावाग्नि में बदल दो। चाहो तो उसकी वेणु से सारा तिमिर प्रान्त भर दो या फिर नया सूर्य-आलोक उगा दो। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस जनता का कोई घर नहीं इसलिए सारा देश, सारी पृथ्वी ही उसका घर है।

लक्ष्मीकान्त वर्मा की 'एक इति के बाद' से बिल्कुल अलग हटकर भारतभूषण अग्रवाल की 'परिदृश्य 1967' है। सातवें दशक के परिदृश्य में विदेशी घुसपैठ से होते सांस्कृतिक-राजनीतिक अधोपतन से बचने का कोई समाधान भारतभूषण को नज़र नहीं आता। हर आदमी रास्ते पर खड़ा होकर दूसरे से रास्ता पूछ रहा है। ऐसा सब इसलिए है कि—*"संसद भवन में शहद का एक छत्ता लगा है/जिसकी मक्खियाँ फूलों से नहीं/घावों से मधु चूसती हैं/और रानी मक्खी कुछ नहीं करती/बस मिंक कोट पहनती है।"*[9] ज़ाहिर है जब प्रधानमंत्री कैबिनेट से कोई सलाह न ले तब तक्षक की शक्ल में मन्त्री अपने सरमायेदार के इन्द्रासन से लिपटे ही रहेंगे। इतना सब जानते हुए भी कोई कुछ नहीं कर पाता। केवल बातचीत तक सीमित होकर संघर्ष नहीं होता इसी पर कवि व्यंग्य करता है—*"कल एक बड़े पुराने साथी से भेंट हुई/ बोले : 'क्रान्ति'!/मैंने कहा, 'क्रान्ति'/और दोनों हाथ हिलाते रेस्तरां में जा बैठे।"*[10] ऐसे माहौल और ऐसी सोच में गाँधी भी टूरिस्ट लगता है जिसे राजघाट पर एक माला पहनाओ और मुक्त हो जाओ। इस तरह की अकर्मण्यता को मार्क करते हुए कवि वास्तव में अव्यवस्था बने रहने के कारणों का संकेत करता है।

इस प्रकार लम्बी कवता में राजनीतिक संदर्भ विशेष रूप से सत्ता की गैर-ज़िम्मेदारी से जनता में जन्मे मोहभंग से जुड़े हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि विसंगत स्थितियों के चक्रव्यूह से बाहर निकलने का ज्ञान आम आदमी को नहीं है, क्योंकि उसके सामने सही दुश्मन और सही रास्ता स्पष्ट नहीं है। प्रलोभन और भूख उसके विद्रोह को शान्त कर देते हैं और विपरीत स्थितियाँ ज्यों-की-त्यों क्रियाशील रहती हैं। ऐसे में कई लम्बी कविताओं में कवि जब आक्रोश में आकर अतिरंजनापूर्ण घोषणा करता है, तब समाधान यथार्थ के धरातल पर प्रतिफलित नहीं हो पाता। कुल मिलाकर व्यक्ति बेबसी के माहौल में जीने के लिए अभिशप्त है।



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

## संदर्भ

1. भवानीप्रसाद मिश्र—तुम भीतर बन्द हो और हम बाहर : त्रिकाल संध्या, पृ. 136।
2. गणेश पाण्डेय—सबद एक पूछिबा : यात्रा पत्रिका; अक्टूबर-दिसम्बर, 2008, पृ. 27।
3. हरीश वाढेर—माया में माया : वेव पत्रिका।
4. कमर मेवाड़ी—आखिर कब तक, पृ. 10।
5. लीलाधर जगूड़ी—इस व्यवस्था में : नाटक जारी है, पृ. 49।
6. राजकुमार कुम्भज—कविता समय, अथवा पत्रिका, अंक-एक, पृ. 12।
7. वही, पृ. 24।
8. लक्ष्मीकान्त वर्मा—एक इति के बाद : तीसरा पक्ष, पृ. 95।
9. भारतभूषण अग्रवाल—परिदृश्य 1967 : एक उठा हुआ हाथ, पृ. 54।
10. वही, पृ. 52।

❑

हिन्दी विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू (तवी)-180 006

## लेखकों से निवेदन

☞ यह एक शोध-पत्रिका है, अतः लेखकगण अपने शोधालेख ही प्रकाशनार्थ भेजें।

☞ शोधालेख स्तरीय, मौलिक तथा नयी शोधदृष्टि के परिचायक हों।

☞ शोधालेख कागज के एक ओर टाइप किए/लिखे हुए (यथासम्भव टाइप किए) हों। लेखक यह भी ध्यान रखें कि लिखे लेख सुपाठ्य हों।

☞ 'पंचशील शोध समीक्षा' में शोधालेख प्रकाशित होने की स्वीकृति लेखकों को एक माह के अन्दर दे दी जाएगी। अस्वीकृत आलेखों को तभी वापस भेजा जा सकेगा जब उनके साथ उपयुक्त डाक टिकिट लगा लिफाफा हो।

☞ शोधालेख हिन्दी भाषा और साहित्य के किसी भी विषय पर हो सकते हैं। पर उनमें मौलिक उद्‌भावनाओं का होना आवश्यक है।

☞ लेखक अपने शोधालेख इसी प्रारूप में भेजें, जिसमें लेख प्रकाशित किए गये हैं। संदर्भ सूची शोधालेख के अन्त में दें।

☞ लेखक चाहें तो अपने शोधालेख सी.डी. के रूप में भी भेज सकते हैं, किन्तु उनका प्रारूप पत्रिका के अनुरूप होना चाहिए।

—प्रबन्ध सम्पादक



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# हिन्दी की सामासिक संस्कृति और आधुनिक हिन्दी साहित्य की पूर्वपीठिका

## (आदिकालीन, मध्यकालीन व रीतिकालीन हिन्दी साहित्य के विशेष संदर्भ में)

**डॉ. रामायणप्रसाद विश्वकर्मा**

सामासिक संस्कृति के अर्थ गाम्भीर्य और उसकी गरिमा को ध्यान में रखकर यदि विचार करें तो मन-मस्तिष्क में विविध भाषा-भाषी एवं संस्कृतियों से सम्पृक्त एक ऐसे समाज की तस्वीर परिलक्षित होती है जिसमें हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, यहूदी, पारसी आदि युगों से एक साथ रहते आ रहे हैं। जो रीति-रिवाजों, मान्यताओं, परम्पराओं और अन्धविश्वासों में अलग हैं लेकिन सामासिक दृष्टि से वे एक-दूसरे से अभिन्न एवं सम्पृक्त दिखाई देते हैं। यही विलक्षणता ही भारत की पहचान है, भारतीय सामासिक संस्कृति की पहचान है। तब प्रश्न उठता है कि सामासिक शैली के समानान्तर अर्थद्वन्द्व गूँजते प्रतीत होते हैं। जैसे 'समासितम् पदम् इति समासः'। अर्थात् परस्पर अच्छी तरह पदों को बैठाना। उसी प्रकार भाषा का सामासिक गठन भी सामासिक शैली का उद्देश्य है। अतः दोनों शब्दों के अर्थों का उद्देश्य जोड़ना ही प्रतीत होता है। वहीं यदि रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों में संस्कृति को परिभाषित करूँ तो—''संसार में जो सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं उनसे अपने आपको परिचित कराना संस्कृति है।''[1]

अतः कहा जा सकता है कि संसार की सर्वोत्तम बातें या विचार चाहे वे किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, जाति एवं भाषा के हों, उन्हें एक सूत्र में पिरोकर समरस समाज की स्थापना ही सामासिक संस्कृति का उद्देश्य है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि एक ऐसा समाज जिसमें विभिन्न भाषा, सम्प्रदाय, जाति एवं संस्कृतियों के लोग अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को बनाये रखते हुए अपने सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन कर एक साहिष्णु समाज की संरचना करते हैं। वह समाज सामासिक संस्कृति का परिचायक है।

अब जहाँ तक प्रश्न हिन्दी की सामासिक संस्कृति का है तो चूँकि भाषा संस्कृति की वाहिका होती है और



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उसके साहित्य में उसकी संस्कृति की गहरी झलक मिलती है इसलिए भाषा और संस्कृति में अविच्छेद्य सम्बन्ध होता है।

**मैडलवान** लिखते हैं कि ''प्रत्येक संस्कृति का सारतत्त्व उसकी भाषा में अभिव्यक्ति पा सकता है और पाया करता है। भाषा न केवल संस्कृति का अविभाज्य अंग है अपितु उसकी पूँजी भी है। भाषा के बिना यदि संस्कृति पंगु है तो संस्कृति के अभाव में भाषा अन्धी है।''[2]

प्राचीनकाल से सम्पर्क स्थापित करने का कार्य संस्कृत भाषा के माध्यम से किया जाता रहा है आज वही कार्य उसकी दुहिता हिन्दी कर रही है। ऐतिहासिक प्रलेखों और लिखित साहित्य से ज्ञात होता है कि एक हजार वर्षों से हिन्दी सम्पर्क भाषा के रूप में देश को अपने माधुर्य का पान करा रही है। भारतवर्ष के विस्तृत भू-भाग में फैले समाज में संगठित कर उसमें सामासिकता बनाये रखने के कार्य को हिन्दी ने बड़े गरिमामय ढंग से निभाया है और आज भी निभा रही है हिन्दी के सामासिक संस्कृति के प्रश्न पर **डॉ. परमानन्द पांचाल** का मत है कि—''भारत एक विशाल देश है जहाँ कई भाषाएँ, अनेक बोलियाँ तथा उपभाषाएँ हैं। भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में आज 22 भाषाएँ हैं। इन सभी की कई उपभाषाएँ और बोलियाँ हैं हिन्दी की अपनी-अपनी बोलियाँ है, इन्हीं बोलियों और उपभाषाओं का सामूहिक नाम हिन्दी है। इनकी सामूहिकता इनकी सामासिकता का प्रमाण ही तो है।''[3] **श्री नर्वदेश्वर चतुर्वेदी** के शब्दों में—''हिन्दी वास्तव में किसी एक ही भाषा अथवा बोली का नाम नहीं है अपितु एक सामासिक भाषा परम्परा की संज्ञा है जिसका आकार प्रकार विभिन्न उपभाषाओं और बोलियों के ताने-बाने द्वारा निर्मित हुआ है इस प्रकार हिन्दी एक भाषा समष्टि का नाम है।''[4]

हिन्दी की सामासिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए यदि हम उसके मुहावरों और लोकोक्तियों पर दृष्टिपात करें तो बात और स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि मुहावरे और लोकोक्तियाँ किसी भी जीवित भाषा का प्राण होती हैं। ये जनसामान्य की अभिव्यक्ति का समान रूप से माध्यम होती हैं, किसी वर्ग विशेष की नहीं। यदि हम हिन्दी भाषा में प्रचलित मुहावरे और लोकोक्तियों पर प्रकाश डालें तो पाते हैं, कि इनके पीछे जो जातिगत संस्कार छिपे हैं। ये स्वतः ही हिन्दी की सामासिक संस्कृति की कहानी कहते हैं, जो भारत के विशिष्ट वर्ग, सम्प्रदाय या धार्मिक मान्यताओं के लिए नहीं वरन् सभी के लिए समान हैं। उदाहरणस्वरूप—मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक, गए थे नमाज छुड़ाने रोजे गले पड़ गए, मिल गई तो रोजी नहीं तो रोजा, खुदा अपने घोड़ों को हलुआ खिलाता है, खैरात बाँटना, ईद का चाँद होना, खलीफा बनना, नमक हलाल होना आदि ऐसे न जाने कितने मुहावरे और लोकोक्तियाँ हमारी इस मिली-जुली संस्कृति को वाणी देते हैं। इन मुहावरों को क्या हिन्दू, क्या मुसलमान सभी बोलते हैं, यही हिन्दी की सामासिक विरासत है।

सामासिक संस्कृति के संदर्भ में यदि हम हिन्दी साहित्य के कालक्रम की पड़ताल करें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी भाषा और साहित्य का समग्र इतिहास हमारी सामासिक संस्कृति का इतिहास है। इसके विकास में आरम्भ से ही विभिन्न मतानुयायियों और धर्मविलम्बियों का योगदान रहा है। साहित्य की इस गंगा-जमुनी वाग्धारा के प्रवाह में माँ सरस्वती के न जाने कितने उपासकों ने अपने श्रद्धाकलश उड़ेले हैं, न जाने कितने भगीरथ पुत्रों ने इसके लिए कठोर परिश्रम किया है, न जाने यह कितने संतों और फकीरों के उपदेशों का माध्यम रही हैं। आदिकाल में सिद्धों, जैनों, नाथों, सन्तों और सूफियों ने इसी भाषा में जनता को संदेश दिए हैं। इनकी भाषा में हिन्दी का वो प्राचीन रूप मिलता है जो प्राकृत और अपभ्रंश के समीप है। नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोरखनाथ की यह वाणी—

*''तुम्बी में तिरलोक समाया त्रिवेणी रिब चंदा*
*बूझा रे ब्रह्मज्ञानी अनहद नाद अभंगा''*



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भी इसी भाषा के माध्यम से जनसामान्य तक पहुँची। सिद्ध साहित्य में कण्हपा की यह उक्ति—

*जिमि लोण विलिज्जई पाणिरगहं, तिम धरणि लइचित।*

*समरस जाइ तक्खणे जइ पुणुते समणित।*

जिस प्रकार पानी में नमक घुल जाता है उसी प्रकार धरती से प्रेम में लीन हो जाने पर तत्काल समरस की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसके पश्चात् आदिकालीन कवि अमीर खुसरो की हिन्दी के प्रति रुचि से सिर्फ हिन्दी का भण्डार ही नहीं भरा अपितु उन्होंने पहेलियों और मुकरियों का ऐसा जादू चलाया कि वे सर्वसाधारण के कण्ठहार बन गए।

**रामस्वरूप चतुर्वेदी** अपने ग्रन्थ हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास में लिखते हैं कि—''खुसरो के कृतित्व से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य उजागर होता है कि हिन्दी का चरित्र प्रारम्भ से ही असाम्प्रदायिक रहा है, वह सामासिक संस्कृति की सच्ची रचना है। हिन्दू मुसलमानों का जहाँ सीधा द्वन्द्व हिन्दी कवि ने चित्रित किया है वहाँ भी वह वीरों का युद्ध है, किसी एक पक्ष के प्रति घृणा या द्वेष उत्पन्न करने का प्रसंग नहीं, चाहे वह चन्दरबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' या कि मलिक मोहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत'। खुसरो के यहाँ तो साहित्य और संगीत की जरूरतें एक-दूसरे में घुल-मिल गई हैं। अरस्तू ने संगीत को समाज के लिए उपादेय माना, क्योंकि वह धार्मिक उत्तेजनाओं को शामिल करता है और कविता का वह वांछनीय मानता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में कविता वासनाओं को परिष्कृत करती है। खुसरो ने दोनों को मिला दिया। साहित्य और संगीत को और इसलिए हिन्दू और तुरक को भी। यह दृष्टि हिन्दी की सिद्धों-नाथों से आरम्भ अद्वैती रहस्य परम्परा से सीधे जुड़ी है। साथ ही आदिकाल के धार्मिक साहित्य सिद्धों, नाथों और जैन कवियों की रचनाओं में जैसे रहस्य भावना कर्मकाण्ड और मन्त्र के तत्त्व समाहित हुए हैं, रासो काव्यों की ऐहिक श्रेणी में कुछ उसी तरह शिष्ट और लोक साहित्य के तत्त्व घुल-मिल गए हैं जो हिन्दी द्वारा ही सम्भव हुआ है। शृंगार के साथ वीर रस का मिश्रण यदि पश्चिम के कथा काव्यों में पाया जाता है तो पूर्व के विद्यापति के पदों में शृंगार के साथ भक्ति का मिश्रण है।''[5]

**हजारीप्रसाद द्विवेदी** ने अपना पक्ष रखते हुए हिन्दी साहित्य की भूमिका में लिखा है कि—''समग्र साहित्य में हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जिसमें पश्चिमी आर्यों की रूढ़िप्रियता, कर्मनिष्ठा के साथ ही पूर्वी आर्यों की भावप्रवणता विद्रोही वृत्ति और प्रेमनिष्ठा का मणिकांचन योग हुआ है।''[6] दक्षिण से जब भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात हुआ तो उसका प्रभाव उत्तर में भी सन्तों की वाणियों में परिलक्षित होने लगा। हिन्दी साहित्य का समस्त भक्तिकाल उससे अनुप्राणित रहा है। कबीर ने कहा है—

*''भगति द्राविड़ी उपजी लाए रामानंद।''*

गुरुनानक, कबीर, तुलसीदास, सूरदास, मीरा आदि ने धार्मिक सहिष्णुता, सौहार्द्र और प्रेम का उपदेश दिया। शैव और वैष्णवों में समन्वय की भावना स्थापित करने में तुलसीदास जैसे सन्तों ने अथक प्रयास किए। तुलसी के राम तो स्पष्ट करते हैं—*''शिव द्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहु मोहि न भावा।''* तुलसी की सामासिक दृष्टि जिसे हम हिन्दी या अवधी की सामासिकता भी कह सकते हैं का प्रमाण उनके रामचरित मानस में खोजा जा सकता है। **दिनकर जी** के शब्दों में—''रामायण हिन्दू संस्कृति का महाग्रन्थ है जिसमें लगभग 10 हजार वर्षों के प्रगाढ़ हिन्दू चिंतन का सार समाया हुआ है और इस ग्रन्थ का सम्मान भी वैसा है जैसा सम्मान बाइबिल और कुरान का देखा जाता है किन्तु ऐसे धार्मिक काव्य में भी हम अरबी और फारसी शब्दों के निःसंकोच प्रयोग अनेक स्थलों पर पाते हैं जो इस बात का प्रमाण है कि गोसाईं जी में भाषा



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

को लेकर साम्प्रदायिकता की गन्ध तक न थी।'[7] यह कथन उपर्युक्त पक्ष को और प्रमाणिकता प्रदान करता है कि हिन्दी का अरबी से तो कोई पारिवारिक सम्बन्ध नहीं है किन्तु फारसी हिन्दी की मौसेरी बहन लगती है। जेन्दावेस्ता की भाषा और वैदिक संस्कृत कभी एक भाषा थीं। जेन्दावेस्ता की भाषा से आगे चलकर फारसी उत्पन्न हुई और वैदिक संस्कृत की परम्परा से हिन्दी का विकास हुआ। इस्लाम धर्म के प्रवेश के साथ मुसलमानों ने हिन्दुओं के साथ मिलकर उसकी समृद्धि में अनुपम योगदान दिया जो हिन्दी की उदारता का ही परिचायक है तभी तो हिन्दी हिन्दुओं या किसी विशेष वर्ग की भाषा न रहकर सभी की हो गई।

हिन्दी द्वारा सामासिक समरसता की जो अनुभूति आदिकाल में खुसरो से प्रारम्भ हुई थी, वह भक्तिकालीन जायसी, कुतुबन, मंझन, उसमान, मुल्लादाउद, शेखनबी, कासिम शाह, नूर मोहम्मद के आगे रीतिकालीन रहीम, रसखान, कादिर बख्श, अनीस अहमद और कमाल, ताज और तानसेन, नवाज और फखरुद्दीन, आलम और शेख तथा मुबारक और रसलीन तक अनवरत प्रवहमान रही है। हिन्दी की सामासिक समरसता का इससे विलक्षण उदाहरण क्या हो सकता है कि अब्दुल रहीम खानखाना ने अपनी साहित्यिक इबादत कृष्ण-भक्ति के रूप में अदा की और भारतीय जन-मानस में तुलसीदास की तरह रहीमदास के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उसकी पुष्टि में **श्री दिनकर** लिखते हैं—''हिन्दी में संस्कृत के अनुकरण पर नायिका भेद की पहली पुस्तक रहीम ने लिखी। विशेषता की बात यह है कि रहीम ने 'बरबै नायिका' में नायिका भेद का जो क्रम रखा है, बाद के हिन्दी आचार्यों ने भी अधिकांश में उसी क्रम को स्वीकार किया है। उससे भी बड़ी बात यह है कि हिन्दी में नायक-नायिकाओं की शाखा-प्रशाखाओं का जो अगम विस्तार हुआ उसमें अधिक से अधिक नायिकाओं की सृष्टि एक मुसलमान कवि ने ही की, किन्तु इसकी प्रेरणा उन्हें अरबी और फारसी से नहीं मिली, क्योंकि अरबी फारसी में यह परम्परा है ही नहीं।''[8]

सच कहा जाये तो हिन्दी शब्द के नामकरण का सारा श्रेय मुसलमान कवियों को ही है। शायद इन्हीं प्रभावों को देखकर किसी ने उनके सम्मान में यह पंक्ति कही होगी। *इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिये।*

इसके समानान्तर सूफी कवि तो भारतीय रंग में रंगे ही थे। सूफी इस्लाम के अन्तर्गत रहस्यवादी साधक माने जाते हैं। हिन्दी के सूफी कवियों ने तसव्वुफ के अनुसार 'प्रेम की पीर' को ही साधना का मूल मंत्र माना है। भारतीय कथानक में रूढ़ियों (श्रवण दर्शन, चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन, सिंघलद्वीप, पद्मनी आदि) का प्रयोग कर सूफियों ने ईरानी मसनवी शैली और भारतीय परम्परा का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है।

रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियों जो मूलतः संस्कृत काव्य परम्परा के पक्षधर थे, में भी फारसी प्रभाव देखने को मिलता है। हिन्दुओं में भी फारसी के विद्वान् और कवि होने लगे। घनानन्द और आलम फारसी के विद्वान् थे। **डॉ नगेन्द्र** लिखते हैं—''जो लोग संस्कृत की परम्परा का निर्वाह कर रहे थे, वे भी इसके प्रभाव से अछूते न रह सके। मुक्तक कला का सर्वव्यापी प्रसार, उपमानों और बिम्बों में परिवर्तन, शृंगार में खण्डिता के वचनों की प्रचुरता आदि को फारसी काव्य के प्रभाव का ही फल माना जाता है। इस काल के कवित्त, सवैयों में जो अन्तिम पंक्ति अधिक सप्राण होती है, वह भी फारसी का ही प्रभाव है, शेरों में भी प्रभुविष्णु अंश उनका अन्तिम भाग रहता था।''[9]

हिन्दी की सामासिकता के कारण ही आधुनिक युग के पुनर्जागरण काल में अभारतीय भी इसकी ओर आकृष्ट हुए और उसकी समृद्धि में योगदान दिया। ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दी भाषा में अपने ग्रन्थों का प्रकाशन फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना और वहाँ पर डॉ. जार्ज ग्रियर्सन, जॉन



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गिलक्राईस्ट, जॉन वीम्स, जॉन ग्रीव्स, पिनकाट आदि विद्वानों के हिन्दी प्रेम के साथ-साथ कादर कामिल बुल्के का हिन्दी प्रेम में रम जाना और बेल्जियम को छोड़, भारत को ही अपना देश बताना तथा 'रामकथा : उद्‌भव और विकास' पर शोध करने के पश्चात् हिन्दी कोश निर्माण और एच.एस. कैलाग के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता है।

समकालीन सन्दर्भों में उर्दू के साथ हिन्दी की निकटता के विभिन्न उदाहरण हिन्दी की सामासिक समरसता ही सिद्ध करते हैं। **लोहिया जी** यदि उन्हें सती और पार्वती कहते हैं तो चर्चित शायर **मुनव्वर राणा** माँ और मौसी की संज्ञा देते हैं। प्रसिद्ध समीक्षक **श्री गोविन्द सिंह** ने अपने लेख में लिखा है—''देवनागरी में उर्दू पत्र-पत्रिकाओं की सफलता को देखकर इस्लाम की मजहबी किताबें भी देवनागरी में आ रही हैं, क्योंकि मुस्लिमों की नई नस्ल को उर्दू की बजाय देवनागरी ज्यादा आसान लग रही है।''[10]

**असगर वजाहत** मर्कजी मक्तबा इस्लामी के पब्लिशर **नैयर आलम** के हवाले से लिखते हैं—''पिछले कुछ अरसे से हिन्दी की किताबों की माँग बढ़ी है। कुरान और 'हदीस' बहुत ज्यादा बिकती हैं। इनके अलावा मजहबी साहित्य पाठ्य-पुस्तकें और तमाम विषयों पर शुरुआती किताबें हम हिन्दी में छाप रहे हैं, जिनकी बड़ी डिमाण्ड है।''[11] इस प्रकार हिन्दी भाषा हमारी सामासिक संस्कृति की सही अर्थों में संवाहिका है और रहेगी। इसीलिए तो आज अंग्रेजी अन्धश्रद्धा के दौर में हिन्दी त्रिनिडाड, टोबेगो, फीजी, सूरीनाम, गुयाना, अण्डमान, निकोबार और दक्षिण अफ्रीका आदि देशों में अपना परचम लहरा रही है, क्योंकि हिन्दी का युगों पर प्रभाव रहा है न कि युगों के प्रभाव में हिन्दी। यह बात उपरोक्त प्रमाणों और उदाहरणों से सिद्ध होती है। यह भाषा केवल भाषा नहीं अपितु संस्कारों, संस्कृतियों, धार्मिक परम्पराओं एवं मान्यताओं को समाहित करते हुए समरसता के साथ समसामयिक चिंतनबोध एवं समग्रता की अधिष्ठात्री भी है। यही इसकी सामासिकता का प्रमाण है। हिन्दी का यह सामासिक स्वरूप जो आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक अनवरत प्रवाहमान दिखाई देता है, वह हिन्दी की व्यापकता के साथ-साथ इसकी सामासिक अक्षुण्णता की स्थापना भी करता है।

## संदर्भ


1. श्री रामधारी दिनकर—संस्कृति के चार अध्याय, भूमिका।
2. भाषा अंक, जुलाई-अगस्त 2000, पृ. 36।
3. नवनीत मासिक, सितम्बर-11, पृ. 31।
4. वही।
5. रामस्वरूप चतुर्वेदी—हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ. 26।
6. हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. 29।
7. श्री रामधारी दिनकर—संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 366।
8. वही, पृ. 377।
9. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 367।
10. कादम्बनी, अंक-दिसम्बर 2010, पृ. 9।
11. वही, पृ. 11।


❑


आदित्य बिरला पब्लिक स्कूल,<br>
बिरलाग्राम, नागदा,<br>
जिला उज्जैन (म.प्र.)




CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# समकालीन कविता की भाषिक संस्कृति

**श्रीजा गोविन्द**

उत्तर संचनावादी चर्चा में भाषा को किसी भी रचना का शरीर और आत्मा—दोनों माना जाता है। उसमें "कविता को शैली के रूप में देखना, नार्म से अलग हटी हुई भाषा के रूप में देखना, देखना कि शब्द खुद क्या बोलते हैं, अधिक समीचीन और सार्थक दृष्ट है। कविता शब्द नहीं शब्दिक होती है, वह भाषा के माध्यम द्वारा केवल व्यक्त नहीं होती अपितु भाषा में ही अपना अस्तित्व पाती है। इस तरह शब्दों से पूर्ण मास्मरिक अनुभूति ही कविता है।"[1]

भाषा का महत्त्व उसकी सम्प्रेषणीयता में निहित है। काव्य भाषा, अक्सर समय की ज़रूरतों के अनुसार बदलती है। कवि परिवेश से अपनी भाषा का निर्माण करता है। पलट कर देखने पर मालूम होता है कि काव्य भाषा में भी परिवर्तन समयानुसार होता रहता है। व्रज से खड़ीबोली में आए परिवर्तन, छायावाद की संस्कृत निष्ठ भाषा, प्रयोगवाद में फैली रूपवादी प्रवृत्तियाँ, साठोत्तरी समय की यथार्थवादी भाषा, समकालीन समय के प्रयोगात्मक रुझान आदि तक में इस भाषागत विकास आंका जा सकता है। हर दौर की भाषा पर दृष्टि डालने से यह साफ होता है कि सभी समयों में, कवियों ने नये प्रयोग करना शुरू किये थे। कविता की भाषा पर धूमिल की पंक्तियाँ हैं—

> *छायावाद के कवि शब्दों को तोड़कर रखते थे/प्रयोगवाद के कवि शब्दों को टटोलकर रखते थे/नयी कविता के कवि शब्दों को गोल कर रखते थे/सन् साठ के बाद के कवि शब्दों को खोलकर रखते हैं।*[2]

आधुनिक काल तक आते-आते विभिन्न युगों की काव्य भाषा में स्पष्ट रूप से अन्तर दिखाई देते हैं। समकालीन कविता के समय होते ही भाषागत समग्रता पर कवियों ने ध्यान दिया। सामान्य दृष्टि से समकालीन समय की काव्य भाषा की विशेषता के रूप में बहुस्वरता का स्थान है।



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बहुस्वरता का गुण कथ्य एवं शिल्प के स्तर पर बहुचर्चित रहता भी है। नए परिवेश के अनुरूप विभिन्न पर्तीय प्रयोगात्मकता को कवियों ने स्वीकार किया है।

## भाषा और संस्कृति का जकड़न

भाषा मनुष्य की अद्‌भुत सम्भावना है। वह मनुष्य जीवन और संस्कृति की पहचान है। भाषा का विकास एक सामाजिक या सांस्कृतिक ढाँचे के भीतर होता है। कृति में भाषा को पढ़ने का अर्थ शब्दों के पीछे छिपे दबावों को पढ़ना है।[3] भारत बहुभाषाई राष्ट्र होने के नाते यहाँ की भाषाओं का अध्ययन हमारे सांस्कृतिक विकास और आदान-प्रदान को स्पष्ट करता है। कृष्णमोहन श्रीमाली के अनुसार—"किसी भी संस्कृति की भाषाई व्यवस्था उसकी पाक कला, उसके स्थापत्य, उसके आनुष्ठानिक परिधानों की रूप सज्जातथा अन्य सभी प्रतीक व्यवस्थाओं को चिह्नित करती है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि किसी भी समुदाय का खान-पान, वेश-भूषा, भवन निर्माण आदि उसकी विभिन्न भाषाएँ हैं जो उसकी संस्कृति का बखान करती है।"[4]

सन्देह नहीं कि समकालीन काव्यानुभव नई भाषिक व्यवस्था की पहचान कराता है। यहाँ पर भाषा भावनाओं, अनुभूतियों और मनुष्य की अपनी दुनिया का समुच्चय स्वरूप है। अतः भाषा कविता का माध्यम ही नहीं है, उससे अधिक भी है। कथ्य एवं शिल्प का सन्तुलन खोती-बनती काव्य भाषा की गतिविधियाँ बहिरंगी राहों पर आगे बढ़ रही हैं।

वर्तमान भाषा पर भूमण्डलीकरण का दबाव देखने को मिलता है। हर क्षेत्र में अंग्रेज़ी का वर्चस्व कायम है। भूमण्डलीकरण ने देशी भाषाओं को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया है। डॉ. शम्भुनाथ के शब्दों में—"इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और स्वाधीनता आन्दोलन के दौर में काफी भिन्न किस्म की राजनीति से सिर्फ हिन्दी नहीं सभी भारतीय भाषाओं को जड़हीन करने की शुरुआत कर दी है। भूमण्डलीकरण भारतीय सांस्कृतिक पहचानों के साथ-साथ भाषाओं को भी निगलने लगा है। आज भूमण्डलीकरण बनाम भारतीय भाषाओं के बीच मुकाबला चल रहा है।"[5] काव्य भाषा के प्रसंग में भी यह संघर्ष विद्यमान है। निज भाषा संस्कृति में बयान कविगण भले ही करते हैं, मगर यहीं कहीं अंग्रेज़ी शब्दों का उपयोग आजकल सामान्य बात हो गई है। एक दृष्टि से कुछ अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग ज़रूरी व प्रसंगानुकूल लगती है। जिन नई चीज़ों के लिए हिन्दी में शब्द नहीं है, उन्हें चालू अंग्रेज़ी में ही रखना पड़ता है। दूसरी विधाओं की तुलना में अंग्रेज़ी का वर्चस्व हिन्दी कविता में कम बताया जा सकता है अर्थात् इस प्रसंग में कविता प्रतिरोधी विधा मानी जा सकती है। भरपूर देशज भंगिमा में हिन्दी प्रदेश से कविताएँ फूटती व बहती हैं। भाषिक तौर पर उसकी गतिशीलता निचले तबके की तरफ है—

*सब्जीवाले की टोकरी में/बैंगन प्याज मूली*
*में/भाषा पा जाती है/सब्ज हरियाली*
*मछली वाली की गन्ध में/उसकी लहराती*
*चाल में!भाषा पा जाती है/मादक गन्ध*
*भाषा पंडितों की जकड़न/विद्वानों की पकड़/*
*चाबुक सी पड़ती है तो/भाषा भागती है बाज़ार*
*की तरफ।*[6]

## भाषा में स्वत्व की संकल्पना

भाषा स्वत्व की पहचान कराती है। लेखनी से लेखक की पहचान होती है। सामाजिक-सांस्कृतिक-बौद्धिक आदि सोच-विचारों को रचना प्रस्तुत करती है। कवि की आत्म पहचान भी इससे सम्भव होती है। हर एक की भाषा अपने में अलग है। कवि, कविता और पाठक के बीच भाषिक आत्मीयता सम्भव होती है। शब्द चयन की भंगिमा पर निहित कविता देश-काल-समुदाय


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के साथ वर्ग-वर्ण-लिंग-राजनीति आदि की भी परिचायक हो सकती है। नागार्जुन, विजेन्द्र आदि के लिए जनकवि, अज्ञेय, शमशेर, मुक्तिबोध सरीखों के लिए प्रयोगवादी कवि विश्लेषण देने का परिप्रेक्ष्य काव्यशास्त्रीय पहचान के बल पर ही नहीं, उपयुक्त भाषा-शैली के सन्दर्भों पर है।

समकालीन कवियों में अधिकाधिक महानगरीय परिसर के हैं अर्थात् उसके अनुसार उन्हीं की समकालीन कविताओं की भाषिक पहचान हो जाती है। वरिष्ठ कवियों में अशोक वाजपेयी, मंगलेश डबराल, विष्णु खरे, विष्णु नागर, बोधिसत्व आदि साहित्यिक खड़ीबोली में कविता करते हैं। युवा कवियों में बद्रीनारायण, जितेन्द्र श्रीवास्तव आदि में महानगरीय या प्रामाणिक भाषा का प्रभाव विद्यमान है। इनमें कई मीडिया में कार्य करने वाले हैं अत: मीडिया की दैनंदिन भाषा का प्रभाव इनकी कविताओं पर है।

आगे, देशज भाषा-शब्दों व प्रादेशिक शैलियों के छिटपुट प्रसंग समकालीन कविता को नया चेहरा देता है।

> *लड़ रहे हैं आदिवासी/अघोषित उलगुलान में/ कट रहे हैं वृक्ष/माफियाओं की कुल्हाड़ी से और/बढ़ रहे हैं कंक्रीटों के जंगल/दान्डू जाए तो कहाँ जाए/करते जंगल में/या बढ़ते जंगल में![7]*

अनूज लुगुन जैसे आदिवासी युवा कवि की कविताओं में पहाड़ी भाषा की छवि भरपूर है।[8] अनामिका, कात्यायनी, निर्मला पुतुल आदि कवयित्रियों में स्त्री भाषा की अलग-अलग सौन्दर्यानुभूतियाँ सम्भव होती हैं। विस्तृत बोलियों व प्रादेशिक भाषा-रूपों से मण्डित भाषा होने के कारण हिन्दी की विभिन्न शैलियों का विस्तार से भाषापरक अध्ययन सम्भव है। उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, दिल्ली, झारखण्ड, हिमाचल प्रदेश जैसे विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि कवियो की कविताओं का समवाय स्वरूप समकालीन हिन्दी के विशाल काव्य संसार को गौरव एवं गरिमा प्रदान करता है। एक दृष्टि से ये कविताएँ हिन्दी की महान एवं अखण्डित देशज, परम्परा की याद दिलाती हैं तो दूसरी दृष्टि में व्यापकता एवं बहुस्वरता के संदर्भ को बरकरार रखती हैं। त्रिलोचन की देशज पंक्तियाँ हैं—

> *भरी रात भादों की ... पथ ... लपका वह कौंधा/दीप्ति भर उठी आँखों में इतनी, फिर हम तुम/कुछ भी पकड़ सके न डीठ से, छाया चौंधा।/तड़तड़ तड़त्तड़ाङ् ध्राङ् ध्रा ध्राङ् धूङ धूहुम्/रिमझिम- रिमझिम-छक् छक् छक् छक्, सर् सर् सर् सर्/चम चम चमक-धमाके घन के, उत्सव निशिमद।[9]*

**भाषा के व्यावहारिक और संवेदनात्मक गतिशीलता**

भाषा द्वारा व्यावहारिक एवं संवेदनात्मक आलाप किया जा सकता है। सोच-विचारों को प्रकट करने के लिए सामान्य तौर पर भाषा का सहारा लिया जाता है। काव्य में सूक्ष्म संवेदनाओं को प्रकट करने के लिए भाषा स्तरों को नए ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। मुक्तिबोध ने कविता को ज्ञान एवं संवेदना के सम्मेलन स्थान के रूप में देखा था। परवर्ती काल में काव्य भाषा पर नई खोज हुई और काव्य की कई शैलियाँ उभर आई। समकालीन संदर्भ में गद्य कविता, सपाटबयानी आदि के प्रयोग मिलते हैं। नव काव्य-शैलीगत समीकरणों में उतरती कविता व्यावहारिक स्तर पर नई संवेदना जागृत करती है। क्राफ्ट के नए-नए प्रयोग का व्यापक उपयोग समकालीन कविता में विद्यमान है। शमशेर से होकर सर्वेश्वर दयाल सक्सेना से होती हुई क्राफ्ट को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान देने वाली कविताएँ समकालीन संदर्भ तक पहुँच गई। समकालीन काव्य परिसर में देवीप्रसाद मिश्र की कविताएँ क्राफ्ट का अच्छा उदाहरण पेश करती हैं—

> *इस साल कुछ और फ़साद होंगे/इस साल कुछ और बलात्कार होंगे/इस साल कुछ और*



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

*हत्याएँ होंगी/इस साल कुछ लोग मुफ़सिल बनेंगे/इस साल कुछ और सैनिक कार्यवाहियाँ होंगी/इस साल कुछ और आयोग बैठेंगे।* [10]

उनकी एक अन्य कविता है 'दु:ख', इसमें पंक्तियों को पिरोया गया है—

*जैसे तोपखाना है/जैसे सिंहासन है/जैसे संविधान है/जैसे अंत:पुर है/जैसे सत्ता है/जैसे व्यवस्था है* [11]

कभी-कभी कविता शब्दों का मायाजाल रचती है। वैसे समकालीन कविता 'क्राफ्ट' को अच्छी तरह इस्तेमाल करती है—

*भूख का भूखपन/प्यास का प्यासपन*
*चीख का चीखपन/और चुप्पी का चुप्पीपन* [12]

इसी तरह लीलाधर जगूड़ी की एक कविता 'उपभोग का गीत' गणित के उपांगों के साथ पेश आती है—

*तौलिये/10/-से 20/- के/20/- से 50/- और/ 90 से 80 के हो लिये/कुछ मूर्धन्य कवियों जैसे/अब तुम्हें खुश हो जाना चाहिए/और मेरे शरीर पर आकर/लिपट जाना चाहिए।* [13]

इस तरह आँकड़ों, चिह्नों तथा नव-प्रयोगों के उपयोग में कविता का चेहरा बदल जाने के संदर्भ कविता भर को नया बना डालने के भी बन जाते हैं। शब्दों की काट-छाँट करने की रीतियाँ कभी-कभी कविता के युगीन असर को प्रख्यापित रखने में सहायक रहती हैं। समकालीन काव्य भाषा पर अनिल त्रिपाठी की एक कविता है जो युगीन संदर्भ में भाषिक शब्दों की खासियतें सामने रखती हैं—

*भाषा में भाखापन/तत्सम में तद्भवपन/शहर में देशीपन/वृक्षों में हरापन/मिट्टी में सोंधापन/बेगानों में अपनापन/सहेजना चाहता हूँ।* [14]

## भाषा एवं सौन्दर्यात्मक प्रतिमान

पुराने अभिमतों के अनुसार भाषा की देशजता कविता की सुन्दरता को बढ़ाती है। देशज भाषा झाँकियाँ सामान्य लोगों को आकृष्ट करती हैं। कविता की भाषा शुद्धता और सौन्दर्यात्मक प्रतिमानों का निर्धारण करती हैं। पर समय-काल-संदर्भ के अनुसार भाषा की नवीन झाँकी हर कविता को आगे ले जाती है। शुद्धता की जगह संकटता, मानकता के स्थान पर देशजता, परिनिष्ठित रूप के बदले लोकबोल, वाक्शैली, जुबानी प्रयोग आदि समकालीन कविता के सौन्दर्य को विशिष्ट बना देता है।

आज के संदर्भ के अनुसार भाषा सिर्फ वेशभूषा या बाहरी सौन्दर्य नहीं रहा। वह अर्थ एवं सौन्दर्य का प्रतिमानक रूप पेश करती है। उत्तराधुनिक भाषिक सिद्धान्तों में भाषा ही अर्थ बन जाने के प्रसंगों की व्याख्या हुई। इसी के अनुसार समकालीन कविता वह भाषिक रूप है जिसकी अभिव्यक्ति जन्य विशेषता उसके आर्थिक स्तर को भी सकारात्मक एवं पुरोगामी आयाम देती है। अर्थ को स्थिर मानना गलत धारणा है। अर्थ फिसलन की अनेकायामिता कविता का समकालीन गुण बन गया। इस समय में कोई शब्द, वाक्य, पंक्ति या कविता स्थिरार्थ को द्योतित नहीं करती है। कविता के सौन्दर्यात्मक तत्त्व, जैसे—बिम्ब, अलंकार, छन्दमहिमा, प्रतीक एवं शाब्दिक संकलन, बदल गए हैं। नवयुगीन सच के उद्घाटन के लिए कवि नए-नए भाषिक तरीके अपनाते हैं—

*मैं लिख रही हूँ/क्योंकि, मेरे लिए लिखते/समय की समस्त संवेदनहीन/क्रूर साजिशों के मध्य भी,/प्रमाण है—मेरे जिन्दा होने का/लिखना एक हथियार है/आत्महत्या के विरुद्ध/क्योंकि/मैं अभी मरना नहीं चाहती।* [15]

## भाषा सौन्दर्य की सतत् खोज

आधुनिक कविता के विकास चरणों में उसके भाषिक सौन्दर्य दर्शन पर विविध आयामी बहस हुई। समकालीन


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

समय तक पहुँचती हुई कविता कोई स्थिर मानक को स्वीकार नहीं करती है। उल्टा वह संदर्भानुसार प्रयोगात्मक भाषिक सौन्दर्य की सतत् खोज करती है। हिन्दी कविता की विविधता का एक कारण उसकी बोलियों की अधिकता है, जिसके बल पर वह चिरपरिवर्तित सौन्दर्यात्मक दर्शाती है।

पुराने जमाने में जिन वस्तुओं, चीज़ों एवं शब्दों को अश्लील या असभ्य कहे जाते थे, उन सबका पुनरीक्षण एवं प्रयोग समकालीन साहित्य में होने लगा है। अश्लील या असभ्य कहे जाने वाले शब्द-योग, अल्प प्रचलित शाब्दिक-प्रयोग, जुबानी शैलियाँ तथा वाक्-प्रयोग की अनौपचारिक शब्द-शैलियाँ आदि सब शनैः-शनैः कविता में भी स्थान पा लेती हैं। इस तरह मौलिकता, अकृत्रिमता तथा सृजनात्मकता के पुराने तयशुदा मानक धीरे-धीरे खारिज किया जाता है।

*सत्ता एक बदचलन औरत,/सदन अय्याशी का अड्डा/पक्ष-विपक्ष/जिस्म के पेशेवर ग्राहक/जो कानून के नाम पर/उतराते हैं/व्यवस्था की नथ,/ नंगी सरकार के ऊपर/बेशर्म औंधे मुँह नंगे होकर/पूरे ताकत से/अपनी जिस्मानी भूख में/ जनता को इस्तेमाल करते हैं/निरोध की तरह।*[16]

संजीबा की यह कविता अपने आप में स्पष्ट है। इसके बिम्ब एवं प्रयोग काल की विकरालता के साथ मुठभेड़ जाहिर करने वाले हैं। कविता की भाषा की कार्यकारिता का यह उत्तम उदाहरण है।

इसकी ठीक विपरीत दिशा में महानगरीय युवा कविता में अंग्रेज़ी का प्रभाव अभूतपूर्व दिखायमान है। पढ़े-लिखे उच्च-मध्यवर्ग की दैनंदिन एवं कामकाजी भाषा या तो अंग्रेज़ी है, नहीं तो अंग्रेज़ी से मिश्रित संकर भाषा है। इसका पूरा असर उनसे सम्बन्धित कला एवं संस्कृति के समस्त अवयवों पर दिखाई पड़ता है।

*हर देशी भाषा के लेखक के बच्चे/पूछते हैं अपने पिताओं से/''पापा अंग्रेज़ी में आप क्यों नहीं लिखते?/सरकारी स्कूलों में/आपको पढ़ाया था जो/ दादाजी प्यार नहीं करते थे क्या आपको?''/एक बड़ा बम फूटता है यहीं आकर,/अँगरेज़ी यों भेजती है बमवर्षक विमान।*[17]

**संचार माध्यम बनाम सूचना संस्कृति की होड़**

संचार माध्यमों की प्रवृत्तियाँ भाषा और संस्कृति को गहराई से प्रभावित करती है। संचार माध्यमों का गैर-जिम्मेदाराना कार्य, भाषा और संस्कृति के बीच अलगाव पैदा करता है। सूचना क्रान्ति के दौर में लोग सूचनाओं, खबरों तथा घटनाओं की भूख में रहते हैं। संचार माध्यमों का कार्य है कि दृश्य-श्रव्य एवं प्रिन्ट माध्यमों से इनका अधिकाधिक फैलाव करें। चैनलों की भरमार इस बात का सबूत पेश करती है कि जनता में सूचना की भूख भड़काने में वे सफल निकले हैं। घटनाओं का आँखों देखा हाल तुरन्त पेश करने को भगदड़ करने वाले मीडियाकर्मी संवेदनात्मकता को नहीं देखते, विपरीत में वे मल्टी नेशनल चैनलों के प्रोफेशनल संवाददाता होते हैं जो होड़ भरे मीडिया जगत् में सबसे अच्छे 'प्रोडक्ट' निर्माण के लिए व्यस्त रहते हैं। दुर्घटनाग्रस्त लोगों तक को अस्पताल में पहुँचाने के बदले, रिपोर्टिंग में जुड़े रहने वाले पत्रकारों की अमानवीयता का ब्यौरा मिलता रहता है। शिल्प या भाषिक अभिव्यंजना से 'रिटरिक', गढ़ने वाली मीडिया की इस प्रवृत्ति को समकालीन युवा कवि सही पहचान लेते हैं—

*पहले बाज़ार को वे पढ़ते हैं/माल सस्ते में सिर पे मढ़ते हैं/दास उपभोग का बनाकर वे/देश में उपनिवेश गड़ते हैं/ये हैं वैश्वीकरण की पुरवाई/ये उदारीकरण की उबकाई/आप नाहक ही आँख ढपते हैं/ये खुलापन? है सभ्य नंगाई।*[18]


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

### शाब्दिक सहयोग

तेज़ी से बदलने वाली दुनिया एवं मनुष्य जीवन में भाषिक लेन-देन अवश्यम्भावी है। पढ़े-लिखे लोगों में शाब्दिक एवं प्रोक्ति स्तर पर भाषिक लेन-देन सहज सम्भव होता है। भारतीय स्कूलों में त्रिभाषा पद्धति लागू की जाने से शिक्षा में ही एकाधिक भाषाओं को स्थान मिलता है। भाषियों के साथ राष्ट्रीय स्तर पर भी भाषाई जागरण एवं सांस्कृतिक सकारात्मकता फैलाने में यह सहायक रहा है। जहाँ तक हो सके, देशज भाषाएँ व बोलियों से शाब्दिक सहयोग लेने का प्रस्ताव संविधान ने ही आगे रखा था जिसका आंशिक अमल परवर्ती साहित्य में सम्भव होता रहा। पर अंग्रेज़ी के वर्चस्व एवं प्रचार के कारण जितने शब्द अंग्रेज़ी से उपयुक्त किए गए उतनी मात्रा में देशज शब्द उपयुक्त नहीं किए गए। इसका प्रयास अब जारी है। बड़ी बात है कि युवा पीढ़ी के लेखकों में एक तबका देशज भंगिमा के कायल हैं। जैविकता नैसर्गिकता एवं लोक संस्कृति की वापसी के लिए दार्शनिक स्तर पर कवि का प्रयास चलता रहता है। ऋतुकुमार ऋतु की पंक्तियों के अनुसार—

> *जो है/दुनिया में/सबसे ज्यादा अकृत्रिम/वह है नैसर्गिकता/और जो नैसर्गिक है/उस पर नहीं लिखी जा सकती है कोई कविता।*[19]

कविता या साहित्य की भाषा को भी नैसर्गिक बनाने का हर प्रयास युवा पीढ़ी की ओर से हो रहा है जो सकारात्मक है।

### भाषाई विलुप्तता एवं सांस्कृतिक मृत्यु

दुनिया में कई भाषाएँ विलुप्त हो जाने की खबर आ रही है। मूल प्रजातियों, गोत्र-संस्कृतियों तथा आदिवासियों की बोलियाँ इसमें आगे हैं। विस्थापन, जंगल का नाश, युद्ध, राजनैतिक लड़ाइयाँ, प्राकृतिक आपदाएँ आदि के कारण सामुदायिक जीवन भंग होता है तो सांस्कृतिक एवं भाषिक जीवन खत्म होती है। लिपिहीनता में विलुप्तता की कगार पर खड़ी भाषाएँ हैं। कई पहाड़ी-जंगली भाषाएँ कबीलाई प्रजातियों के नाश के साथ खत्म होती हैं। हिन्दी की बोलियों पर भी इस तरह का खतरा है। भोजपुरी, पहाड़ी हिन्दी आदि को अलग राजकीय दर्जा देने की माँग की जा रही है। सच तो यह है कि इन देशज भाषा-बोलियों से हिन्दी हमेशा लाभान्वित रहती है।

### समकालीन काव्य संवेदना

बताया जाता है कि संवेदना का कोई व्याकरण नहीं हो सकता—वह तो भाषा प्रवाह है, क्योंकि बिना भाषा के उसका आकार नहीं बन सकता है। कविता भाषा साहित्य का अनिवार्य माध्यम है। कविता शब्द व अर्थ का अतिक्रमण करके अनुभूति की संरचना प्रस्तुत करती है। डॉ. राजेन्द्र मिश्र के अनुसार—"विज्ञान के युग में कविता का वही महत्त्व है जो कम्प्यूटर की स्थिति में मानव मस्तिष्क का। मानव मन किसी भी सूपर कम्प्यूटर से अधिक तीव्र है—वह इलेक्ट्रॉनिक तरंग है जिससे कम्प्यूटर संचालित होता है।"[20]

आगे समकालीन कविता की भाषिक संवेदनाओं के बारे में नन्दकिशोर नवल का विचार है—"अनेकार्थता, अस्थिर मनःप्रभावों के अंकन तथा अस्पष्ट व्यंजकता का आग्रह भी किसी हद तक दिखलायी पड़ता है, जिससे किंचित् भिन्न अर्थ में उन्हें 'अवाँगार्द' कवि भी कहा जा सकता है। विनोद कुमार शुक्ल की कविता को, उनकी सटीक तथा सधी हुई वर्णनात्मकता से और ज्ञानेन्द्रपति की कविता स्पष्ट और सम्प्रेषणीय रहे हैं। साथ ही साथ तत्सम एवं तद्भव शब्दों से बनी उनकी काव्य भाषा बहुत ही खास है।"[21]

### सपाट बयानी या बोलचाल की सामंजस्यता

सपाटबयानी समकालीन कविता की प्रमुख विशेषता है। इसमें बोलचाल की भाषाओं का सामंजस्य पाया जाता


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है। अंजनी कुमार दूबे के अनुसार—"सपाटबयानी का उदय बिम्बधर्मिता के अतिवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। नयी कविता में बिम्ब और प्रतीक जिस ढंग से अधिकाधिक प्रभावी होते गये थे और कथ्य पर हावी हो गये थे उससे कविता निश्चित ही आम पाठक से दूर हो गयी थी। नये कवियों की आत्मकेन्द्रिता और उनके भावों की रहस्यात्मकता ने कविता के कथ्य को पूर्णत: ढक लिया था और शिल्प के चमत्कार के ही पीछे वे भागते रहे थे। ऐसी स्थिति में साठोत्तरी कविता ने शिल्प के इस धुंध को काटने के लिए सपाटबयानी का आश्रय लिया और उसे काव्य-शिल्प की एक विशेषता के रूप में प्रतिष्ठापित किया।"[22] सपाटबयानी द्वारा लोगों की भाषा में कविता, उन्हीं के पास पहुँच गयी। समकालीन हिन्दी कविता की भाषाई अभिव्यक्तियाँ कहीं-कहीं नंगी और आक्रामक भी कही जा सकती हैं तो कहीं-कहीं वे घटनाओं के आम प्रस्तुतीकरण या सपाटबयानी हैं। कहीं उसमें प्रचलित मुहावरों का खुला प्रयोग और बड़बोलापन है। कवियों ने अपने पूर्व की काव्यात्मक मान्यताओं को नकार कर अलग भाषा प्रयोग की तलाश की है।

आज की कविता संवाद और या कथन का रूप धारण करती है और अतिक्रमण करती है। वह बातचीत की शैली में भी उतर आती है। सम्प्रेषण व्यापक बनने का उत्साह कविता में स्पष्ट दिखता है। वह बोलचाल की भाषा का प्रयोग ही नहीं करती, इसके अनुरूप भाषा-बोल मिश्रण की तलाश भी करती है। डॉ. राजेन्द्र मिश्र के शब्दों में—"उसमें प्रतीकात्मकता भी है, सपाटबयानी भी और भाषा के विविध रूप भी लम्बे या छोटे वाक्यों-शब्दों और शब्दों के बीच अन्तराल, वाक्यों और वाक्यों के बीच संघर्ष, समीकरण और विपर्यय तक की सम्भावनाएँ हैं।"[23]

समकालीन कविता भाषा की विविधता दर्शाते रहते हैं। विष्णु खरे की 'प्रतिसंसार', 'होनहार' आदि कविताओं की विशेषता है कि इनमें कोई 'विराम-चिह्न' नहीं हैं वे निर्बाध निर्गलती झरनों की तरह है। उनकी कविता का शीर्षक बहुत लम्बा है। "जर्मनी में एक भारतीय कम्प्यूटर विशेषज्ञ की हत्या पर वह वक्तव्य जो वर्तमान भारत सरकार देना चाहती है पर दे नहीं पा रही।"[24] सभी तरफ विविधता की कोशिश समकालीन कविता में दृश्यमान है।

डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव के अनुसार—"इस युग के कवि अलंकृत भाषा के स्थान पर बेलौस (सपाटबयानी से मुक्त सीधी-सादी) भाषा इस्तेमाल करते हैं।"[25] सीधी-सादी भाषा समकालीन कविता को ज्यादा सम्प्रेषणीय बनाती है। पर दूसरी छोर पर ये अतिविस्तार, गद्यमयता, अनलंकृत शैली, कवितातत्त्व का भंग आदि के शिकार भी हैं। विषय नवीनता या कथात्मक नवता के कारण बहुचर्चित रहने पर भी कुछ कवियों में अतिविस्तार एवं गद्यात्मकता की समस्याएँ हैं। उदाहरण के लिए पवन करण की कविताओं के विषयवैविध्य, नवचिंतन, स्त्रीपक्षीयता आदि बहुचर्चित रहे हैं। उनकी कविता लोकप्रिय भी हैं। मगर सूक्ष्म विवेचन में ये कविताएँ गद्यमयता एवं अतिविस्तार की शिकार हैं।

*मैं दुनिया की सबसे खुशनसीब लड़की हूँ/वो इसलिए*
*कि मेरी माँ इन दिनों/अपने पुरुष मित्र के प्यार में*
*डूबी हुई है/और मैं उन्हें आपस में एक-दूसरे को/*
*चुपके-चुपके प्रेम करते हुए देखती हूँ।*[26]

श्रीनिवास पाण्डेय के अनुसार—"नंगी या सपाट भाषा की यह विशेषता है कि वह भावों के सम्प्रेषण में तनिक भी जटिलता नहीं पैदा करती है। भाव भाषा के साथ रहते हैं। इन कवियों ने काव्य-भाषा की विलक्षणता और विशिष्टता की परम्परागत धारणा को बदल दिया।"[27] सन्देह नहीं कि काव्य भाषा में सफाई करके, रूढ़िगत काव्य मान्यताओं को ध्वस्त करने का साहस समकालीन कवियों ने कर दिखाया है। बोधिसत्व का बयान है—

*मेरे साथ एक अंधी स्त्री रहती है। जिधर कहता हूँ*
*जाती है उधर/रुकने को कहता हूँ जब रुक जाती*
*है,/कहीं नहीं जाती अकेले/कुछ भी नहीं करती*



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

*अपने मन से/कुछ बोलती भी नहीं/हरदम सोचती रहती है पता नहीं क्या।*[28]

**व्यंग्य भाषा की बेधकता**

व्यंग्यात्मकता समकालीन कविता की भाषा की एक उल्लेखनीय विशेषता है। खगेन्द्र ठाकुर के अनुसार— ''व्यंग्य का एक पहलू है संघर्ष और बेधकता। यथार्थवादी कविता में सच्चाई का वर्णन स्वभावत: रहता है और जीवन तथा समाज की विभिन्न प्रकार की विसंगतियों के खिलाफ संघर्ष भी उससे लगा रहता है।'' समय एवं संदर्भ की विभीषिकाओं के अनुकूल आज की कविता में बेधकता है, चुभने की क्षमता है। वह कभी किसी आक्रामक शब्द के बिना चोट कर सकती है। मतलब व्यंग्य या रूप के उपयोग से कविता में व्यंग्य का प्रसार सम्भव है। समकालीन कवि ने जनता की सामान्य भाषा और विरोधी का सहारा लिया और 'व्यंग्य' को नये सिरे से पेश किया। अशोक चक्रधर ने राष्ट्रीय नेताओं के झूठे वादों की खिल्ली उड़ाई है—

*वो बोली–/तुम्हारे वादों जैसी होती है!/इंतज़ार में/बहुत तड़पाती है,/झूठ बोलती है/सताती है,/तुम तो आ भी जाते हो,/ये कभी नहीं आती है?*[30]

**संकर भाषा या भाषा में मेल-मिलाव**

भाषा-संस्कृति और समाज-परिवर्तन आपस में जुड़े हुए हैं। कवि की स्थल-काल संस्कृति के हिसाब से उसकी भाषा में मेल-मिलाव देखने को मिलती है। सामाजिक परिवर्तन के कारण कविता में संकर भाषा का होना आज के संदर्भ में वाजिब ठहराया जाता है।

समकालीन हिन्दी कविता की भाषा में अंग्रेज़ी, संस्कृत, उर्दू, अरबी, फारसी, तत्सम व तद्भव शब्दों की भरमार दिखाई पड़ते हैं। आँचलिक शब्दों को भी कविता अपनाती है। भारतीय संदर्भ में देशज शब्द, बोलियों व उप-बोलियों के विभिन्न प्रयोग आदि भी समकालीन कविता में दिखायमान है। उर्दू का संकरण हिन्दी कविता की प्रवाहमयता बढ़ा देता है—

*शब-ओ रोज़ होने वाले बाजीय; ए-अत्फाल में/ मसरूफ थी हर सुबह/इब्न-ए-मरियम थे/दीद-ए-तर से टपकता था लहू/उस खस्ता के 'अंदाज़-ए-बयाँ और'/में वह क्या था।*[31]

इसी तरह विष्णु खरे की निम्नलिखित कविता में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग देखने लायक है—

*वैसे इसकी कन्फर्मेशन हमें मिल चुकी है/कि रूलिंग अलाएंस और सभी अपोजीशन पार्टीस के/कई सीनियर और यंग नेता मलबे के बहुत नीचे हैं।*[32]

**समकालीन कविता में भाषिक भंगिमाएँ**

समकालीन कविता की भाषा कई अर्थों में स्वतंत्र है। एक तरफ पुराने भाषागत नियमों से वह मुक्त दिखाई पड़ती है, तो दूसरी तरफ वह अपने परिवेश के साथ जुड़कर समस्त विचारों को खुल्लम-खुल्ला प्रकट करती है। यथार्थ की साफ प्रस्तुति स्वतंत्र भाषा में होती है तो उसे पाठक अपने करीब की मान लेते हैं। स्वरूप में भिन्न आयाम मिलने पर कविता की भाषा शैली अलग तरह की लगती है।

सामाजिक यथार्थ की असंगतियों का चित्रण करना और इसके माध्यम से सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा को व्यक्त करना—यह समकालीन कविता की सबसे मुख्य और प्रबल प्रवृत्ति है। लीलाधर जगूड़ी कवितात्मक विस्फोट को स्वीकार करते हैं—

*जो भी हो पहला परिवर्तन एक विस्फोट था आज भी/परिवर्तन की/भाषा/विस्फोट ही है/पर पृथ्वी की भाषा में जो मुफ्त में होता है/वह भी फालतू में*


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

*नहीं होता/वैसे आदमी की भाषा में तो बे-मतलब से/बे-मतलब काम भी महँगा होता है।*[33]

रामकुमार कृषक ने अपनी कविता में संस्कृत के शब्दों का उपयोग किया है। उसी के साथ उर्दू शब्दों को भी रखकर कविता में विशेष संकरण की छटा व्युत्पन्न किया है—

> *वाल्मीकी तो माध्यम है/उद्दीपक है क्रौंच-वध/और/कराने वाला कानून/जो भी उसका विरोध करेगा/खिलाफ़ होगा क्रौंच-वध के/और जो खिलाफ है/कवि है।*[34]

शंका नहीं कि शाब्दिक चयन में भाषा-बोली, अंग्रेज़ी-संस्कृत का भेद आदि पर आज के कवियों का ध्यान नहीं है। वे अर्थभेदी कविता चाहते हैं, उसके लिए भरसक प्रयास करते रहते हैं।

भाषा में दिन-प्रतिदिन नये-नये शब्द उभरकर आते हैं और कुछ विलुप्त भी हो जाते हैं। कुछ शब्दों को अन्य भाषा से स्वीकार किए जाते हैं, तो उन्हीं के अनुसार भाषिक संरचना बदलकर प्रस्तुत होती है। यह एक तरफ के भाषिक बदलाव की सूचना है। पंकज चतुर्वेदी के शब्दों में—''मैं समझता हूँ कि मनुष्य के बुनियादी राग और 'सब्जेक्तिविटी' तो हर समय हमारे लिए अनिवार्य गुण बने रहेंगे। यदि कविता की भाषा में ठहरने, लड़ने-भिड़ने, छीनने, बिखरते, संवरने का ताप नहीं है, तनाव, खुरदुरापन और कशमकश नहीं है, कौतुक और खिलवाड़ नहीं है तो वह महज एक कामचलाऊ और सूचना देने वाली भाषा है।''[35]

प्रिय कवि अरुण कमल की भाषा पर अरविन्द त्रिपाठी का अभिमत है—''अरुण कमल भोजपुरी लोकजीवन के आम बोलचाल के शब्दों को इस तरह चुनते हैं जैसे कोई बच्चा स्कूल जाते वक्त रास्ते में रुक-रुककर बेहया के फूल चुनता है। उनके 'नये इलाके' में संग्रह की कविताएँ भाषा में उर्वर प्रदेश की खोज लगती है। इस खोज को मैं समकालीन काव्य भाषा का ऐतिहासिक मोड़ मानता हूँ। खड़ीबोली का रास्ता अपनी लोकभाषाओं की ओर मुड़ चुका है। इस दिशा में इधर तेजी से दिनेश कुमार शुक्ल, लीलाधर मण्डलोई, स्वप्निल श्रीवास्तव, अष्टभुजा जैसे युवा कवियों ने कविता में लोक भाषा को सम्भव करने की सार्थक कोशिश जारी रखी है।''[36] इसी तरह राजेश जोशी की काव्य भाषा में भोपाल की स्थानीयता की झाँकियाँ हैं।

त्रिलोचन की काव्य भाषा मध्य प्रदेश की ठेठ बोली की सच्ची प्रतिनिधि है। ज्ञानेन्द्रपति भोजपुरी समाज के लोक जीवन को वाणी देते हैं। व्यापक अर्थ में समकालीन कविता की भाषा भारतीय मध्यवर्गीय जीवन क्षेत्र के विस्तार को एक सिरे से दूसरे सिरे तक छूती हुई आगे बढ़ रही हैं। एकान्त श्रीवास्तव, बद्रीनारायण, निलय उपाध्याय, बोधिसत्व, कुंवर नारायण आदि ने भी भाषा की नई-नई आँच प्रस्तुत की है।

**साहित्य क्षेत्र में 'बेस्ट सेल्लेर्स' की माँग एवं उपयोग**

अबके युग में ललित कलाओं व उच्च स्तरीय साहित्य तक को सनसनी खेज एवं पण्य प्रस्तुत करने में कोई हिचक नज़र नहीं आ रही है। गीत, गज़ल या कविता पाठ के कैसेट, कहानियों-उपन्यास पर धारावाहिक या फिल्म आदि बनाए जाते हैं। संगीत और दृश्ट के लुभावने मार्गों तले साहित्य या कविता का रूपान्तरण होता है, जो बाजार में बेस्ट सेल्लेर्स की उपाधि प्राप्त विराजमान रहता है। पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा लिखी गई कविताओं को मेगास्टार शाहरूख खान द्वारा अभिनीत तथा जगजीतसिंह की आवाज में प्रस्तुत किया गया है। यह कैसेट बहुत लोकप्रिय रहा था। इस प्रसंग में राजेश जोशी की एक व्यंग्य कविता है—

> *मैं कहता हूँ बहुत हानिकारक है/व्यक्ति के लिए नहीं पूरे देश के लिए हानिकारक है/दिनों दिन बढ़ते जाना अमेरिका का दबाव,*



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

*राष्ट्रवाद का/नया उफान/वित्त पूँजी का प्रपंच बजरंगियों का उत्पात/बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का/लगातार फैलता जाल/एक प्रधानमंत्री का इतनी बुरी कविता लिखना/हानिकारक है।*[37]

अत: पद, यश या ओहदा-रुतबा के बल पर साहित्य का रूप परिवर्तन करके लोकप्रिय बनाने की चाल चल रही है। हिन्दी के बड़े साहित्यकारों की तुलना में सनसनी फैलाने वाले खुशवन्त सिंह, शोभा डे, चेतना भगत आदि की रचनाएँ लोकप्रिय हो रही हैं। उनकी लोकप्रियता के कारण रचनाओं के अनुपात एवं रूपान्तरण भी खूब निकलते रहते हैं। किसी को कवि बनाने का कार्य साहित्य के सत्ता केन्द्रों के हाथों पड़ने का खतरा है।

साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विघटन के फलस्वरूप गम्भीर किस्म के साहित्य के बहुतायत प्रकाशन होने पर भी जनमन में उसका असर अपेक्षाकृत कम रह जाता है। अंग्रेज़ी की तुलना में हिन्दी में बोलना, लिखना-पढ़ना या भाषण देना हीन माना जाता है। युवा पीढ़ी में एक तबका इसके विरोध में कार्य कर रहा है, जो लोकप्रियता के पीछे भागने वाले बहुसंख्यकों की तुलना में बहुत कम है। इस सांस्कृतिक स्थिति का जायजा कविता भी कर लेती है—

*सेंध लगा देती है अंगरेज़ी/दुनिया के बच्चों के सपनों में यों ही,/एक बार घुसती है पिछले दरवाजे से,/फिर सामने आकर कहती है पूरे विनय से-/"मे आई कम इन, बच्चे?"/देशी भाषाओं के सिर नाचती-सी/मिथकों में वह प्रवेश करती है,/करती है यह प्रवेश चाय-पान की गुमटियों, डाबों, अड्डों,/चण्डूखानों की गपशप में ऐसे/जैसे कि बर्र बेर में !*[38]

## भारतीय अंग्रेज़ी लेखकों की भरमार

भारतीय में अंग्रेज़ी भाषा में लिखी जाने वाली रचनाएँ सबसे अधिक लोकप्रिय होती हैं। अरुन्धति राय की किताब 'गोड ऑफ स्माल थिंग्स' इसका अच्छा नमूना है। शशि तरूर, अमृत्या सेन, आर.के. नारायण, कमलादास आदि अनेक लोग अंग्रेज़ी भाषा में लिखकर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति पाई है। खुद अंग्रेज़ी में लिखकर इनकी कड़ी बन जाने को आतुर लोग एक तरफ हैं, तो दूसरे, अनुवाद या रूपान्तरण के माध्यम से प्रचार-प्रसार की लालसा रखते हैं। पर कविता ही नहीं, सभी विधाओं के साहित्यानुवाद जिस मायने में अंग्रेज़ी से भारतीय भाषाओं में हो रहा है, उस तरह यहाँ की रचनाओं का अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं में भावान्तरण नहीं होता। फलस्वरूप सांस्कृतिक संकरण का अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार भारत में खुल जाता है, विपरीत कार्य कम रह जाता है। भाषाई मिक्सिंग, कला एवं संगीत का समायोजन, फिल्मी अनुवाद आदि में भारतीय भाषाओं की ग्रहणीय वृत्ति अत्भुत हैं। इसी कारण से भारत में सांस्कृतिक संक्रमण आसानी से सम्भव हो जाता है।

किसी भी राष्ट्र की संस्कृति को विकासोन्मुख बनाने के लिए वहाँ की भाषा-संस्कृति को तहस-नहस किया जाता है। भारतीय प्रसंग में ऐसा सांस्कृतिक उपनिवेश समकालीन संदर्भ की सच्चाई बन गया है।

*मेरे शोषक मुझे धीरे-धीरे खत्म कर दिया है/वह मुझे विलास का सामान दिए ही चला जाता है/ अब मैं एक गुलाम की भाषा लिखता हूँ/मसलन यह कि – 'कृपया मुझे/दस हज़ार रुपयों का ऋण देने की अनुकम्पा करें/कर्ज़ से भरे हुए जीवन में मेरे पास/अब खाने के लिए कुछ साजो-सामान है/जितना मैं खाऊँगा/उतना वह नहीं खाएगा जो कह रहा है – /तुम्हारे पास खाने के लिए जंजीरों के अलावा कुछ नहीं/*

*मैंने बमुश्किल कमाई हैं थोड़ी-बहुत चीज़ें/और मैं उन्हें अब यों ही नहीं गँवा सकता/*

*अगले जन्म का वैसे भी क्या ठिकाना।*[39]



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

## कविता में भाषा का सांस्कृतिक संकट

हिन्दी कविता में भाषाई प्रयोगात्मकता का अपना इतिहास है। प्रयोगवादी कविता के समय में कविता की भाषा एवं शैली में सर्वाधिक प्रयोग हुए हैं। परम्परागत शब्द, छन्द एवं रूप-शैली को पार करती कविता समकालीन दौर तक पहुँचती हुई बहुस्वर हो गई। भाषाई आतंक को पहचानने वाली आदिवासी कवयित्री अपनी भाषा का महत्त्व पहचान लेती है और भाषाई वर्चस्व के खिलाफ कवितात्मक प्रयोग सामने रखती है—

*वे नहीं चाहते सीखना/हमारे बीच रहते, हमारी भाषा/चाहते हैं, उनकी भाषा सीखें हम/और उन्हीं की भाषा में बात करें उनसे/उनका तर्क है कि/सभ्य होने के लिए ज़रूरी है उनकी भाषा सीखना।*[40]

आदिवासी तथा अन्य पिछड़े वर्गों की जनबोली को पिछड़ी घोषित करने वाले सवर्ण, फैशनपरस्त, सभ्य, पुस्तकीय तथा शहरी लोगों पर कवयित्री की शिकायती नज़र है। उनके जीवनानुभव अलग हैं, जिसके प्रकाशन के लिए उन्हें अपनी भाषा के ऊबड़-खाबड़ शब्द एवं शैली की ज़रूरत है। यहाँ पर काव्यशास्त्र एवं काव्य मीमांसा के पुराने मानकों की पलट सम्भव हो जाती है—

*चिकनी-चुपड़ी भाषा की उम्मीद न करो मुझसे/जीवन के ऊबड़-खाबड़ पर चलते/मेरी भाषा भी रूखड़ी हो गयी है/मैं नहीं जानती कविता की परिभाषा/छन्द, लय, तुक का कोई ज्ञान नहीं मुझे/और न ही शब्दों और भाषाओं में है मेरी पकड़*[41]

प्रयोग या भाषा ही कविता बन जाने के कई प्रसंग समकालीन कविता के पास सुरक्षित है। संवाद शैली, गद्य शैली आदि कहीं है तो एकालाप या शिकायत दूसरे उदाहरणों में हैं। विस्तार तथा गद्यमयता से कभी कविता विधात्मक महिमा खो देती है।

## मातृभाषा, सम्पर्क भाषा तथा राष्ट्रीय पहचान की कविता

कोई भी विकासमान भाषा परिवर्तनशील होती है। हिन्दी के प्रसंग में देशज शब्दों का व्यापन सकारात्मक माना जाता है। पहाड़ी इलाकों की बोलियों के शब्द निर्मला पुतुल, अनुज लूगुन जैसों की कविताओं में भरपूर मिलता है। जन-जुबान में जीवित शब्दों को जान देने के क्रम में त्रिलोचन की कड़ी के रूप में विजेन्द्र की लोकधर्मिता विशेष उल्लेखनीय है। विस्तृत भाषा होने के कारण हिन्दी में शाब्दिक एवं शैलीगत विविधता है जो उसके मातृभाषा रूप को संगठित करती है। मातृभाषा से सम्पर्क भाषा और राष्ट्रभाषा की तरफ हिन्दी की यात्रा तय होती जा रही है। इस संदर्भ में कन्याकुमारी से लेकर कश्मीर तक के समाजों में तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत् पर हिन्दी में कविता या साहित्य सृजन करने वाले मिलते हैं। हिन्दी में प्रवासी साहित्य की पहचान हुई है, भले ही इनके नाम प्रशस्ति और कार्य उतना विस्तृत क्यों न हो, हिन्दी के व्यापन एवं प्रयोग में उनका योगदान हमेशा सकारात्मक माना जाता है। आजकल 'प्रवासी दुनिया' जैसी इंटरनेट की पत्रिकाएँ भी कार्य कर रही हैं।

प्रवासी हो या देशज, समकालीन कवि अपनी मिट्टी की भाषा में पलने-फूलने का उत्कट आग्रह व्यक्त करता है—

*ओ मेरी भाषा/मैं लोटता हूँ तुम में/जब चुप रहते-रहते/अकड़ जाती है मेरी जीभ/दुखने लगती है/मेरी आत्मा।*[42]

## नव शिल्पगत अवधारणाएँ एवं काव्य बुनावट

हिन्दी कविता का रूप-शिल्प उसकी अपनी अन्तर्वस्तु के समानान्तर निरन्तर बदलता रहता है। कविता का शिल्प विधान ध्वनि, लय, छन्द और अलंकार की समन्विति है। रफीक खान के विचार में कविता का अनिवार्य



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कर्त्तव्य है उसकी सम्प्रेषणीयता एक धारदार शिल्प कविता की इस गम्भीर जिम्मेदारी को आसान बनाता है।[43] शिल्प के प्रति कवि की उपेक्षा और शिथिलता कविता को नष्ट करती है। भाषा-शिल्प में रचना का समीकरण होता है। रचना की वस्तु के साथ शिल्प की एकता आवश्यक है। बहुत-सी कविताओं में काल-समय की स्थितियों की भयावहता को मूर्त करने के लिये कठिन शब्दों मे बिम्ब व अप्रस्तुत प्रतीक प्रयुक्त किए जाते हैं जो काव्य बुनावट के लिए आवश्यक हैं। काव्य के लिए सर्वमान्य कसौटी रस, अलंकार और छन्द को समकालीन कवियों ने यथा सम्भव अस्वीकार किया है। कभी-कभी इससे होने वाली काव्य क्षति पर कवि चिंतित नजर आता है। भगवत रावत की कविता में—

> *इन दिनों ऐसा हो गया कविता का छनद/कि वह हो रही है निरानन्द/भाषा की लय, यानी उसकी साँस/कुछ अधिक उखड़ी-उखड़ी है/ वाक्य विन्यास भले ऊपर-ऊपर ठीक-ठाक दिख रहे हो/भीतर ही भीतर बुरी तरह टूटे हुए हैं।*[44]

समकालीन कविता में छन्द विन्यास को भगवत रावत ने निरानन्द बताया है। पहले कविता ताल-लय और छन्दबद्धता पर जोर देती थी, जो अब छोड़ने के रुख में है। इससे कविता कुछ उखड़ी-उखड़ी महसूस होती है। लयबद्ध होकर, उसके अन्दर कविता की आत्मा तड़पती है तो कवि आश्वस्थ होता है। समकालीन संदर्भ के अधिकतर कवि छन्दबद्धता के पीछे भागने के बजाय कविता की सूक्ष्मता पर ध्यान केन्द्रित करते हैं।

सामान्य वाचन में ही आज की कविता किसी शिल्प के अनुरूप नहीं लिखी जाती। कविता के अनुरूप शिल्प बनता जाता है। उसमें शब्द और अर्थ की लय ही नहीं होती, संवेदना की लय भी होती है। लयबद्ध संवेदना, मानसिक तनाव को भाषिक संरचना में संलग्नता के साथ व्यक्त की जाती है।

समकालीन कविता में पूर्ववर्ती कविता की तुलना में बिम्बों और प्रतीकों का त्याग दिखाई देता है। आधुनिक युग में इनकी अवधारणा में पर्याप्त अन्तर आ जाने के कारण कविता के लिए बिम्ब और प्रतीक ही आधार बन गये। बिम्बों को काव्य की जीवन्तता का उपादान माना गया। उदाहरण के लिए कवि अरुण यादव ने बूढ़ी स्त्री की पीठ की तरह इतिहास की पीठ का बिम्ब प्रस्तुत किया है—

> *किसी बूढ़ी स्त्री की तरह/झुकी जाती है/*
> *इतिहास की पीठ/घटनाओं के बोझ तले।*[45]

अर्थात् नए सन्दर्भ के अनुसार नवबिम्ब की तलाश समकालीन कविता को जीवन्त बनाती है।

**शैलीगत बदलाव**

एकदम सपाट होने की शैली कभी-कभी काव्यशास्त्र के ठीक विपरीत में जाती है। मगर गद्य कविता के अच्छे व स्तरीय उदाहरण भी मिलते हैं। गीत, प्रगीत, दोहा, गजल, हाइकू, नज्में आदि उप-शीर्षकों में पत्र-पत्रिकाओं में विभिन्न शैलियों की कविताओं का प्रकाशन होता है। काव्यपाठ की इलेक्ट्रॉनिक तथा इंटरनेट प्रस्तुतियाँ भी खूब चलती रहती हैं। एकदम नारे या उद्गार जैसी उतरने वाली कविता के तुरन्त बाद शान्त बहने वाली, उदासीन प्रकट होने वाली कविताएँ भी हैं। उदाहरण के लिए नागार्जुन में हज़ार बाहों वाली कविताएँ मिलती हैं।

मिश्रण, संकरण या शाब्दिक अनुकरण के कारण कविता की रूप-शैली समय के साथ बदल जाती है। प्रथम दृष्टि में पहचानविहीन शब्द खण्ड के माध्यम से अर्थ या भाव के विस्तार का प्रयास भी दिखायमान है। जिस तरह फिल्मी संगीत की बौछार में नज़्में कभी-कभी पीछे हट जाती हैं, उसी प्रकार भावावेग एवं बौद्धिक-



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वैचारिक कट्टरता में कविता के रूप बदल जाने के प्रसंग भी हैं।

### गद्य कविता

समकालीन कविता में 'गद्य' प्रयोग कविता देखने को मिलते हैं। कात्यायनी, विष्णु खरे आदि कवियों की गद्य कविताएँ मशहूर हैं।

''बेहद छोटी-छोटी मामूली चीज़ों को बड़ी मुश्किलों से बहला-फुसलाकर लाती थी कविता में। जोड़-तोड़ और तीन-तिकड़म से। छल नियोजन और कपट-प्रबन्ध से। यहाँ-वहाँ सजाती थी उन्हें यूँकि नये अर्थ खुलते थे।''[46] कात्यायनी की ही एक अन्य कविता है—

> *''स्त्री हूँ, अज्ञान के अंधकार में भटकने को पैदा हुई-यह जानने में ही उम्र का एक बड़ा हिस्सा खत्म हो गया पशू नहीं थी फिर भी। यह बन नहीं पाई। जो अपरिचित रह जाती ज्ञान से।''*[47]

इसी तरह का कविता प्रयोग विष्णु खरे ने भी किया है—

> *''हृदयाल भैया को मैंने हमेशा चुप और मुस्कराते हुए पाया मैं खुद उनसे बहुत छोटा था इसलिए उस वक्त तो मेरे लिए यह और भी रहस्य था।''*[48]

### भाषा : दिमागी गुलामी का औज़ार एवं प्रयोग

भाषिक मृत्यु को आज की पीढ़ी के लोग सांस्कृतिक मृत्यु पहचान लेते हैं। इसी के कारण भाषा एवं सांस्कृतिक संरक्षण हेतु साहित्य एवं संवेदना की रक्षा को समकालीन कवि महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। अंग्रेज़ी को जीवन संधारण का मार्ग स्वीकार करने वाले, मगर हिन्दी में कविता करने वाले कई कवि समकालीन कविता जगत् में हैं। चन्द्रकान्त देवताले, अरुण कमल, अनामिका, विजेन्द्र आदि के नाम यहाँ पर स्मरणीय है। ये लोग अंग्रेज़ी या विश्व साहित्य को समझते हैं और मातृभाषा या राष्ट्र भाषा की महिमा को आगे ले जाने का प्रयास करते हैं। इनकी कविताएँ हमेशा एत्निक गुफों की वाहिका रहती हैं। ये कविगण महानगरीय आई. टी. पीढ़ी की अंग्रेज़ी गुलामी का ठीक जायजा ले पाते हैं और उनकी मानसिक गुलामी पर विचार करते हैं—

> *पराई भाषा में खोजते थे/हम अपने होने के आशय/पारदर्शी किन्तु स्मृतिहीन*
> *हिन्दी में भी और देश में/जैसे भैंचक परदेश में/इस बार भी भाषा के सीमान्त पर/दूह देहात में मिली वह कुंजड़िन/ग्राहक से करती ठिठोली/फिर परास्त्र हुआ वैयाकरण/और तरह पा गई/एक पिछड़ी बोली।*[49]

हिन्दी हो या दूसरी कोई भाषा, कतई पिछड़ी नहीं है। भाषाई पहचान को वर्चस्ववादी दौर में विवेचन का शिकार होना पड़ता है जिससे उबरने के लिए समकालीन कविता का योगदान है। खिचड़ी भाषा की आलोचना, संकर भाषा पर व्यंग्य तथा संवेदनात्मक शून्यता पर कड़ी आलोचना मिलती है। अत: समकालीन कविता आत्मविमर्श की काबिलीयत दिखाती है।

### काव्य यात्रा

कविता की खोज, संस्कृति एवं सभ्यता की खोज है, देश की अस्मिता एवं अस्तित्व की खोज है। अत: कविता अपने समय के सौन्दर्यात्मक तत्त्वों को संगठित-पुनर्गठित करती रहती है। समय-काल के विकराल विवेचन में उसकी आवाज क्षीण सुनने के प्रसंग तो आते रहते हैं, मगर कविता कभी रुकती नहीं है। विपरीत में हर जंगली इलाका, आदिवासी-परगना, नुक्कड़, गली, पहाड़ी प्रदेश, झोंपड़पट्टी से भी कविता की पंक्तियाँ उतर आती हैं और वे विशाल जगत् में व्याप्त हिन्दी कविता का अंग बन जाती हैं। सूचना क्रान्ति का सकारात्मक पक्ष यह है कि ऐसी



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आवाज़ों को भी इतिहास के पन्नों में दर्ज किया जाता है। आदिवासी कविता भी आजकल इंटरनेट में मिलती है।

इस संदर्भ में काव्य संस्कृति की मृत्यु पर व्यथित होने की आवश्यकता नहीं। समस्या दूसरी छोर पर है। सीमान्त लोगों को मनुष्य बनाने, दलित-संस्कृति को केन्द्रीयता पर प्रतिष्ठा देने तथा स्त्रियों व बच्चों की आवाज़ों को कविता में बुलन्द करने की जरूरत है। सूचना क्रान्ति के उपयोग से ही सार्थक एवं सकारात्मक कवि कर्म को आगे बढ़ाना सम्भव है। समकालीन कविता की भाषा संस्कृति इसी के प्रयास में है। इसी कारण से उपभोक्तावादी वैश्वीकृत प्रलोभनों से मुक्त होकर, बाज़ारी भाषिक तिकड़मों से बचकर, तात्कालिक लाभ से परहेज रहकर, लोक शब्दों व शैलियों में मौलिक सृजनात्मकता को बुलन्द करने का जान-बूझकर प्रयास जारी है। आशा की जाती है कि परिश्रमी लेखकीय युवा पीढ़ी हिन्दी के भविष्य को समृद्ध बना देने का भविष्यगामी जोखिम उठा सकती है।

## संदर्भ


1. सिंह, नामवर, दिलीप सिंह (सं.) 2004, साहित्य का भाषिक चिन्तन, रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, साहित्य का भाषिक चिन्तन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. फ्लैप से।
2. धूमिल, 1978—कल सुनना मुझे कल सुनना मुझे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 36।
3. प्रसाद, कमला, सुधीर संजन सिंह, राजेन्द्र शर्मा (सं.)।2004, नामवर सिंह, आलोचना की दूसरी परम्परा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 288।
4. श्रीमाली, कृष्णमोहन—2005, धर्म, समाज और संस्कृति, ग्रन्थ शिल्प प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 172।
5. शम्भूनाथ—2000, संस्कृति की उत्तर कथा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 222।
6. सक्सेना, रति—2007, बाज़ारू भाषा, एक खिड़की और आठ सलाखें, कृत्या प्रकाशन, तिरुवनन्तपुरम्, पृ. 52।
7. लुगुन, अनुज—अघोषित उलगुलान, युद्धरत आम आदमी, अंक-111, अक्टूबर-दिसम्बर 2011, पृ. 76।
8. उनकी अभी-अभी की कविता 'अघोषित उलगुलान' को केदार सम्मान मिला है।
9. प्रसाद, गोबिन्द (सं)—1994, मनेजर पाण्डेय, जीवन की लय में मुक्ति का राग (उद्धृत), त्रिलोचन के बारे में, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 153-154।
10. मिश्र, देवीप्रसाद—1989, इस साल, प्राथना के शिल्प में नहीं, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 109।
11. मिश्र, देवीप्रसाद—द:ख, प्राथना के शिल्प में नहीं, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 63।
12. गोपाल, वेणु—जगह बदलती होगी, तद्भव, जनवरी 2007, पृ. 104।
13. जगूड़ी, लीलाधर—उपभोग का गीत, अनुभव के आकाश में चाँद, पृ. 121।
14. त्रिपाठी, अनिल—अपनी आँख, पक्षधर वार्ता, जनवरी-अप्रैल 2008, पृ. 123।
15. मोनालिषा—वजह, आजकल, अक्टूबर 2003, पृ. 27।
16. संजीबा—संजीबा की कविताएँ, आकार 20, पृ. 136-137।
17. अनामिका—2005, खुरदुरी हतेलियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 114।
18. चन्द्रमोहन, विराट—मुक्तक, अक्षरपर्व, अगस्त 2007, पृ. 32।
19. ऋतुकुमार, ऋतु—जब मैं जिन्दगी से बाहर था, समकालीन भारतीय साहित्य, 138, पृ. 174।
20. मिश्र, राजेन्द्र—2000, कविता नये संदर्भ का विकास, तक्षशिला प्रकाशन, पृ. 159-160।
21. तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद (सं.)—2005, नन्दकिशोर नवल, बीसवीं सदी का हिन्दी कविता, बीसवीं सदी का हिन्दी साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 35।
22. दुबे, अंजनीकुमार—1998, समकालीन हिन्दी कविता के विविध आयाम, पूर्वांचल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 47।




CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

23. मिश्र, राजेन्द्र—2000, कविता नये संदर्भ का विकास, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 159।

24. खरे, विष्णु—2003, काल और अवधि के दरमियान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 45।

25. श्रीवास्तव, परमानन्द—1973, दिशान्तर-साठोत्तर हिन्दी कविता, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 14-15।

26. करण, पवन—2006, स्त्री मेरे भीतर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 91।

27. पाण्डेय, श्रीनिवास—1981, आधुनिक कविता में बदलते आयाम, आशुतोष प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 226।

28. बोधिसत्व—2000, हम जो नदियों का संगम हैं, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 49।

29. ठाकुर, खगेन्द्र—2001, कविता का वर्तमान, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 202।

30. चक्रधर, अशोक—2002, डेमोक्रसी, चुनी-चुनाई, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 11।

31. देव, अरुण—2004, गालिब, क्या तो समय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 19।

32. खरे, विष्णु—2003, विनाशग्रस्त इलाके से एक सीधी टी.वी. रपट, काल और अवधि के दरमियान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 16।

33. जगूड़ी, लीलाधर—1999, परिवर्तन, ईश्वर की अध्यक्षता में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 53-54।

34. कृषक, रामकुमार—2002, किताबों से नहीं, लौट आएँगी आँखें, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 63।

35. चतुर्वेदी, पंकज—आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर 2005, पृ. 39।

36. मण्डलोई, लीलाधर (सं.)—2001, अरविन्द त्रिपाठी, भाषा के द्वार खोल अली बाबा, कविता के सौ बरस, शिल्पयान प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 393।

37. जोशी, राजेश—उद्धृत नरेश चन्द्रकर, आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर, 2007, पृ. 103।

38. अनामिका—2005, अंग्रेजी यों भेजती है बमवर्षक विमान, खुरदुरी हथेलियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 114-115।

39. अंबुज, कुमार—उच्च-मध्य वर्ग, सोच, 1 वर्ष, 2003, पृ. 84।

40. पुतुल, निर्मला—2004, मेरा सब कुछ अप्रिय है उनकी नजर में, नगाड़े की तरह बजते शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 72-73।

41. पुतुल, निर्मला—2004, देखा, सुना, समझा, लिखा, नगाड़े की तरह बजते शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 72-73।

42. सिंह, केदारनाथ—1988, मातृभाषा, अकाल में सारस, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 11।

43. खान, रफीख—कविता की आत्मपक्ष की वकालत, प्रगतिशील वसुधा, जनवरी-मार्च 2007, पृ. 301-302।

44. रावत, भगवत—2004, इन दिनों कविता का छन्द, ऐसी कैसी नींद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 42।

45. यादव, अरुण—ठाकुर का कुआँ, हंस, अप्रैल 2011, पृ. 49।

46. कात्यायनी—2002, लाल चुनरी में दाग ..., जादू नहीं कविता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 19।

47. कात्यायनी—1999, एक असमाप्त कविता की अतिप्राचीन पाण्डुलिपि, इस पौरुषपूर्ण समय में, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 60।

48. खरे, विष्णु—2003, होनहार, काल और अवधि के दरमियान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 67।

49. शेखावत, सफाई सिंह—जीवन का दंश, समकालीन भारतीय साहित्य-105, जनवरी-फरवरी 2003, पृ. 50।

❑

विमल ए. राज,
रोशनी रावत, मोरजा,
कन्नूर (केरल)-670 331



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : रचनात्मक संघर्ष की राष्ट्र भक्ति

**डॉ. नरेन्द्र इष्टवाल**

**भा**रतेन्दु हरिश्चन्द्र एक युग प्रवर्तक साहित्यकार थे। वे कवि, नाटककार, उपन्यासकार, अनुवादक, पत्रकार और समाज सुधारक होने के साथ राष्ट्र चिन्तक भी थे। अपनी बहुआयामी प्रतिभा के चलते वे अपने जीवनकाल में ही एक संस्था बन गये थे। भारतेन्दु ने अपनी कविताओं, नाटकों और सम्पादकियों से सुशुप्त भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना जगाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस मायने से ये भारतीय राष्ट्रीय चेतना के प्रवर्तक माने जा सकते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काल का भारतीय समाज बहुत कुछ भक्तिकाल के समाज से समानता रखता था। भक्तिकाल में जिस तरह भारतीय समाज मुस्लिम आक्रान्ताओं से पीड़ित होकर गहरी निराशा में जी रहा था। ठीक उसी तरह भारतेन्दु के समय का समाज 1857 की क्रान्ति के असफल होने और उसके बाद अंग्रेजों द्वारा किये गये नरसंहार और दमन-चक्र से गहरी निराशा के भँवर में था। भक्तिकाल में तुलसीदास व सूरदास जैसे भक्त कवियों ने जिस तरह से समाज को अपनी रचनाओं से आत्मिक बल प्रदान किया, उसी तरह भारतेन्दु भी अपने समय के भारतीय समाज को अपनी रचनाओं और संपादकियों के सहारे निराशा के इस गहन अन्धकार से निकालने का प्रयास कर रहे थे। इसके लिये भारतेन्दु भारतीयों को भारत के स्वर्णिम अतीत के गौरव से परिचित कराते हैं। वे पराधीन भारतीयों को बताते हैं कि आज भले ही भारत पराधीन हो, लेकिन किसी समय भारत सारे संसार का शिरोमणि हुआ करता था। भारत के ज्ञान और पराक्रम का डंका सारे संसार में बजता था। भारत का तेज सारे संसार में फैला था और भारत के भय से सारा संसार काँपता था। भारतेन्दु 'भारत दुर्दशा' नाटक में लिखते हैं—

*भारत के भुजबल जग रक्षित*
*भारत विद्या लहि जग सिच्छित*
*भारत तेज जगत विस्तारा*
*भारत भय कंपत संसारा*–[1]



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

और कहते हैं कि इस स्वर्णिम इतिहास गौरवशाली भारत की आज जो दुर्दशा हो रही है वह देखी नहीं जाती। भारतेन्दु इसी तरह आगे भी भारत के अतीत का गौरव गान करने के बाद भारत की वर्तमान दुर्दशा का चित्रण करते हैं। वे भारत की वर्तमान दशा से भारत माता को दु:खी व निराश बताते हैं—

*भारत जननी जिय क्यों उदास*

*बैठी इकली कोई नहिं पास–*[2]

भारतेन्दु ने भारत माता की इस दुर्दशा और निराशा को व्यक्त करने के लिये एक पूरा रूपक 'भारत जननी' शीर्षक से लिख दिया। इस रूपक में भारतेन्दु भारत माता को दु:खी, बेचैन व निराश बताकर भारत माता के करोड़ों पुत्रों को स्वराज के लिये नींद से जगाने का प्रयास करते हैं। भारतेन्दु भारत की इस दुर्गति का मूल कारण अंग्रेजी राज को मानते हैं। वे एक अर्थशास्त्री की तरह भारतवासियों को बताते हैं कि भारतीयों की दुर्दशा और गरीबी का मूल कारण अंग्रेजी राज में भारतीय धन का निष्क्रमण है। भारतेन्दु 'भारत दुर्दशा' में स्पष्ट लिखते हैं कि—

*अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी,*

*पै धन विदेशी चली जात, इहै अति ख्वारी।*[3]

भारतेन्दु इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि भारत का धन धीरे-धीरे विदेश जा रहा है। भारत आने वाले अंग्रेजों के साथ ब्रिटेन जा रहा है। वे लिखते हैं—''जब अंग्रेज विलायत से आते हैं प्राय: कैसे दरिद्र होते हैं और जब हिन्दुस्तान से अपने विलायत को जाते हैं, तब कुबेर बनकर जाते हैं।''

भारतेन्दु अपनी पत्रिका 'कवि वचनसुधा' के संपादकियों में निरन्तर अंग्रेजी राज और उसकी नीतियों की कड़ा आलोचना करते थे। इतिहासकारों के अनुसार अंग्रेजी राज के दौरान भारत में पड़े अकाल से लाखों भारतीयों की मौतें हुई थी। भारतेन्दु का मानना था कि भारत में पड़ रहे अकाल अंग्रेजी राज की नीतियों का ही दुष्परिणाम है। भारतेन्दु अपनी पत्रिका 'कवि वचनसुधा' के लेखों और संपादकियों में अंग्रेजी राज और उसकी नीतियों की खुलकर आलोचना ही नहीं करते, बल्कि भारत में बार-बार पड़ रहे अकाल के लिये अंग्रेजी राज को ही जिम्मेदार ठहराते हैं। वे 16 फरवरी, 1874 के 'कवि वचनसुधा' के संपादकीय में लिखते हैं—

''बंगाल में दुर्भिक्ष क्या है, केवल नीति के बीज का फल है, क्या कारण है कि दिन-दिन महँगाई बढ़ती ही जाती है और अन्न गत वर्षों में 12 सेर का बिकता था, सो इस वर्ष 8 सेर बिकने लगा है।''[5] इसी तरह 18 मई, 1874 के अंक में भारतेन्दु लिखते हैं—

''अब तो प्रतिवर्ष में कहीं न कहीं दुश्काल पड़ा ही रहता है, मुख्य करके अंग्रेजी राज में इसका घर है। बहुधा ऐसा सुनने में आया है कि विसूचिका का रोग जो अब सम्पूर्ण भारत खण्ड में छा रहा है, अंग्रेजों के राज के आरम्भ से इसका प्रारम्भ हुआ है। ..... जब अंग्रेज विलायत से आते हैं, प्राय: कैसे दरिद्र होते हैं और जब हिन्दुस्तान से अपने विलायत को जाते हैं, तो कुबेर बनकर जाते हैं ..... इससे सिद्ध हुआ कि रोग और दुश्काल इन दोनों के मुख्य कारण अंग्रेज ही हैं।''[6]

जरा कल्पना कीजिए कि 1874 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का भी जन्म नहीं हुआ था। राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन कहीं दूर-दूर तक नजर नहीं आ रहा था। जब अंग्रेजों के खिलाफ बोलना-लिखना तो क्या, सोचना भी गुनाह माना जाता था। उस समय एक लेखक अंग्रेजों के दमनकारी कानूनों के नीचे अपना पत्र भी चला रहा था और उस पत्र के लेखों-संपादकियों में भारत में पड़ रहे अकाल के लिये सीधे-सीधे अंग्रेजी शासन की नीतियों और अंग्रेजों को जिम्मेदार भी बता रहा था। उस दौर में इससे अधिक राष्ट्रीयता की और क्या उम्मीद की जा सकती है।



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भारतेन्दु अंग्रेजी राज में भारत से विदेश जा रहे धन पर रोक लगाने का आह्वान करते हुये भारतवासियों को कहते हैं—

"भाइयो, अब तो सन्नद हो जाओ और ताल ठोककर इनके सामने खड़े हो जाओ, देखो भारतवर्ष का धन जिससे जाने न पाये, यह उपाय करो।"[7]

जिस तरह समाज से जुड़े हुये एक सच्चे साहित्यकार के पास दूर दृष्टि होती है और वह अपने समाज की जरूरतों को अपने युग के आगे जाकर भी देख सकता है। ऐसी ही दूर दृष्टि भारतेन्दु के पास थी। भारतेन्दु ने भारतीय जनता को भारत से धन निष्क्रमण के प्रति ही सचेत नहीं किया, बल्कि उन्होने देशवासियों से विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का भी आह्वान किया। महात्मा गाँधी 1908 में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे थे और भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन से जुड़ने के बाद उन्होंने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग को भारत की आजादी की लड़ाई का अस्त्र बनाया था। लेकिन महात्मा गाँधी के भारत लौटने के बहुत पहले 1872 में ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस तथ्य को पहचान चुके थे कि विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी के प्रयोग को ही अंग्रेजों के खिलाफ़ स्वतंत्रता की लड़ाई का मुख्य हथियार बनाया जा सकता है। भारतेन्दु ने अपने पत्र 'कवि वचनसुधा' के 22 दिसम्बर, 1873 के अंक में एक प्रतिज्ञा-पत्र प्रकाशित किया था, जिसमें स्वदेशी के प्रयोग की शपथ कुछ इस तरह दिलाई गई थी—

"हम लोग स्र्वान्तर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वदृष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहनेंगे और जो कपड़ा पहले से भी मौल ले चुके हैं और आज की मिली तक हमारे पास है, उनको तो उनके जीर्ण होने तक काम में लावेंगे, पर नवीन मौल लेकर किसी भाँति का विलायती कपड़ा न पहिरेंगे। हिन्दुस्तान ही का बना कपड़ा पहिरेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिये श्रीयुक्त बाबू हरिश्चन्द्र को अपनी मनीशा प्रकाशित करेंगे और स्वदेशी हितैषी इस उपाय के वृद्धि में अवश्य उपयोग करेंगे।"[8]

असल में भारतेन्दु इस तथ्य को अच्छी तरह समझते थे कि विदेशी वस्तुओं पर भारतीयों की निर्भरत भारतीय अर्थव्यवस्था को नष्ट कर रही है। यह भारतीयता की उस भावना को भी नुकसान पहुँचा रही है, जो भारत की स्वतंत्रता के लिये जरूरी है, क्योंकि आम भारतीय विदेशी वस्तुओं के मोह में अपने ही देश की वस्तुओं से दूर होता चला जा रहा है और इसका नुकसान अन्ततः भारत के उद्योग-धन्धों को ही हो रहा है। वे नाटक 'नील देवी' में भारतवासियों की इस प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुये कहते हैं—

*"अपनी वस्तुन कॅं लखि है, सबहि पराई*
*निज चाल छोड़ि गहिहै औरन की धाई।"*[9]

भारतेन्दु इस बात को भी समझ रहे थे कि अंग्रेज योजनाबद्ध तरीके से भारत के उद्योग-धन्धों को नष्ट कर रहे हैं। अंग्रेज अपने देश की फैक्ट्रियों के लिये सारा कच्चा माल भारत से ही ले जाते हैं और इसी माल को तैयार कर भारत के बाजारों में बेचते हैं। भारतेन्दु यही बात भारतवासियों को समझाते हैं कि आज जो वस्तुएँ विदेशी माल समझकर भारतीय बाजारों में खरीदी जा रही है, ये भारत से ही ले जाई गई हैं। अंग्रेज इन वस्तुओं को भारत से ले जाकर साफ करके वापस भारतीय बाजारों में बेच रहे हैं। भारतेन्दु कहते हैं कि—

"इत की रूई सींग अरू चरमहि तेल लैजाय
ताहि स्वच्छ करी वस्तु बहु भेजत इतहि बनाय।"[10]

भारतेन्दु भारतीयों के इस विदेशी वस्तुप्रेम के सख्त खिलाफ थे। वे भारतीयों की विदेशी वस्तुओं पर निर्भरता


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

र व्यंग्य करते हुये उन्हें विदेशी जुलाओं का गुलाम तक ताते हैं—

*"मरकिन मलमल बिना चलत कछु नहि काम*
*परदेशी जुलाहान के मानवहुं भय गुलाम।"*[11]

भारतेन्दु का यह स्वदेशी प्रेम उनके बहुचर्चित लिया भाषण में भी मिलता है। भारतेन्दु ने अपने जीवन 5 अन्तिम दिनों में बलिया में एक भाषण दिया था। अंग्रेज धिकारियों की उपस्थिति में "भारतवर्ष की उन्नति कैसे ो सकती है?" विषय पर दिए गए भाषण में भारतेन्दु हते हैं—"कारीगरी जिसमें तुम्हारे यहाँ बढ़े। तुम्हारा पया तुम्हारे ही देश में रहे वह करो देखो, जैसे हजार- ारा होकर गंगा समुद्र में मिलती है वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी जार तरह से इंग्लैण्ड, फारसीस, जर्मनी, अमरीका को ाती है। दियासलाई अमरीका की बनी है। ...... भाइयो, ब नींद से चौंको अपने देश की सब प्रकार से उन्नति रो जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे खेल खेलो, वैसे ही बातचीत करो। परदेशी वस्तु और रदेशी भाषा का भरोसा मत करो।"[12]

भारतेन्दु ने अपने स्वदेशी के विचार के समर्थन के ाए ही बनारस में सन् 1880 में 'तदीय समाज' की थापना भी की। हालाँकि इस संस्था का मूल उद्देश्य ार्मिक और सामाजिक था लेकिन भारतेन्दु ने बहुत मझदारी के साथ इस संस्था को अपने स्वदेशी आन्दोलन साथ भी जोड़ दिया। भारतेन्दु इस समाज के सदस्यों से वदेशी को अपनाने की प्रतिज्ञा भी करवाते थे। इस प्रतिज्ञा महत्त्व को रेखांकित करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ाखते हैं—"यह प्रतिज्ञा पत्र भारतीय स्वाधीनता के इतिहास स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है।"[13]

भारतेन्दु के जमाने में इंग्लैण्ड से जब भी कोई जा, रानी या राजकुमार भारत आता था तो यहाँ उनके म्मान में दरबार लगाने की परम्परा थी। इस दरबार में देश की रियासतों के राजा या नवाब अंग्रेज शासकों के समक्ष अपनी उपस्थिति दर्ज करवाते थे। भारतेन्दु इस परम्परा के सख्त खिलाफ थे। वे इस परम्परा को भारतीय स्वाभिमान के खिलाफ मानते थे। भारतेन्दु इस अंग्रेजी दरबार में हाजिरी देने वाले राजाओं और नवाबों पर कड़ा व्यंग्य करते हुए 'भारत भिक्षा' में लिखते हैं—

*"कहाँ सबै राजा कुँवर औरअमिर नवाब*
*आज राज दरबार में हाजिर होउ खिताब"*[14]

इस तरह के दरबारों में रियासतों के राजा और नवाब अंग्रेजी मेहमान को अपनी ओर से बहुमूल्य भेंट भी दिया करते थे। भारतेन्दु इस परम्परा पर भी कड़ा व्यंग्य करते हैं—

*"राजा भेंट सहबी करौ, अहो अमीर नवाब*
*हाजिर हवे झुकि झुकि करौ सबै सलाम आदाव"*[15]

भारतेन्दु अपने इसी तरह के राष्ट्र भक्त और स्वदेशी विचारों के कारण जनता में बेहद लोकप्रिय हो गए थे और लोकप्रिय भी इतने कि अंग्रेज सरकार ने जब राजा शिवप्रसाद को 'सितारेहिन्द' पदवी से सम्मानित किया तो बनारस के लेखकों और जनता ने हरिश्चन्द्र को भारतेन्दु की पदवी दी।

भारतवर्ष के प्रति भारतेन्दु की सोच राजनीतिक व आर्थिक ही नहीं थी। भारतेन्दु अपने लेखन में भारतीय समाज की कुरीतियों पर भी निरन्तर ऊँगली रखते रहे। भारतेन्दु ने बाल-विवाह का कड़ा विरोध किया। उन्होंने विधवा-विवाह का पुरजोर समर्थन किया और स्त्री शिक्षा का समर्थन किया। उन्होंने महिलाओं को शिक्षित और जागृत करने के लिए 1874 में 'बाल बोधिनी' नामक पत्रिका का प्रकाशन भी शुरू किया।

भारतेन्दु इस तथ्य से भी अवगत थे कि कोई भी राष्ट्र अपनी भाषा के बिना विकास नहीं कर सकता। वे अपनी भाषा का महत्त्व भली-भाँति समझते थे इसलिए उन्होंने 'निज भाषा उन्नति, सब उन्नति को मूल' लिखा। भारतेन्दु का मानना था कि भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हो सकत है। हिन्दी ही भारत की राष्ट्रीय एकता कायम रख सकती है। भारतेन्दु ने ही पहले-पहल हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने का स्वप्न देखा था। हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने के लिए उन्होंने हिन्दी का आधुनिकीकरण करने का प्रयास किया। उन्होंने हिन्दी में उपेक्षित सुधार भी शुरू किए ताकि हिन्दी नये युग के भावों को वहन करने की क्षमता अर्जित कर सके।

भारतेन्दु के हिन्दी प्रेम का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि राष्ट्रभाषा के सवाल पर वे अपने गुरु और बनारस के अति प्रतिष्ठित और अंग्रेजपरस्त राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' से भी आमने-सामने हो गए थे। राजा शिवप्रसाद उस दौर में बनारस की बड़ी हस्ती हुआ करते थे और अंग्रेज हुक्मरानों में उनका काफी रुतबा था। राजा साहब उर्दू-मिश्रित हिन्दी के लेखक और समर्थक थे और बहुत से लोग उनके प्रभाव के कारण ही उर्दू-मिश्रित हिन्दी के समर्थन में आ गए थे। लेकिन भारतेन्दु उनके विरोध में खड़े हो गए। इस विरोध का काफी नुकसान भी समय-समय पर उन्हें उठाना पड़ा। भारतेन्दु ने सन् 1882 में हिन्दी की उन्नति पर एक व्याख्यान भी लिखा। इस व्याख्यान में वे लिखते हैं कि—

*''निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल*
*बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिम को शूल''*[16]

भारतेन्दु हालाँकि स्वयं ब्रजभाषा के कवि थे किन्तु हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने खड़ीबोली लिखना शुरू किया और अपने समकालीन लेखकों को भी लिखने के लिए प्रेरित किया। हिन्दी के प्रचार के लिए उन्होंने हिन्दी में पत्रों का प्रकाशन शुरू किया। हिन्दी में किताबें छपवाकर लोगों को निःशुल्क वितरित करवाई ताकि अधिक से अधिक लोग हिन्दी को पढ़-लिख सकें। अपने अन्तिम दिनों में उन्होंने एक हिन्दी माध्यम का विद्यालय खोलने की इच्छा भी जताई थी।

बहुत से आलोचक भारतेन्दु को अंग्रेज भक्त बताते हैं और भारतेन्दु कृत ठुमरी-पुरी अमी की कटोरिया सी, चिरंजीवी रहो विक्टोरिया रानी' का उदाहरण देते हैं और भारतेन्दु को भी उन भारतीय रईसों के वर्ग का ही हिस्सा मानते हैं जो वर्ग अंग्रेजों का समर्थक था। यह सही है कि भारतेन्दु ने कई जगहों पर अंग्रेजों और अंग्रेजी राज की प्रशंसा भी की है लेकिन अंग्रेज राज के प्रति प्रशंसा का यह भाव अकेले भारतेन्दु में ही नहीं, उस दौर के समाज के एक बहुत बड़े वर्ग में था। यह वह दौर था जब 1857 की क्रान्ति असफल हो गई थी। 1860 में भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से महारानी विक्टोरिया के हाथों में चला गया था। उस दौर का पूरा भारतीय समाज इस बात से उत्साहित था कि महारानी विक्टोरिया के शासन के अन्तर्गत आ जाने से भारतीयों की बहुत समस्याएँ खत्म हो जाएँगी। इस सम्बन्ध में डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं कि—''सन् 1857 के विद्रोह के बाद जब भारत का राज्य कम्पनी बहादुर के हाथ से महारानी विक्टोरिया के हाथ में गया तो बहुत से लोग समझे कि उस शासन-व्यवस्था का जिसे जॉन ब्राइट ने 'ए हंड्रेड थीअर्स ऑफ क्राइम' कहा था, अब अन्त हो गया। महारानी के लिए जो घोषणा-पत्र पहले तैयार किया गया था, उसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया और उससे अधिक सहृदयतापूर्ण घोषणा-पत्र तैयार कराया। उसमें भारतवासियों को मधुर-मधुर आश्वासन दिए गये और डलहौजी की नीति को देखते हुए उस समय लोगों को ये आश्वासन और भी मधुर लगे होंगे, इसमें सन्देह नहीं। विद्रोह के पहले अंग्रेज जिस प्रकार छोटे-छोटे राज्य हड़प चुके थे तथा विद्रोह में और उसके पश्चात् उन्होंने अपना जो अप्रिय रूप दिखाया था, उसकी याद करके लोगों ने उन सब बातों से इन आश्वासनों की तुलना की और उनका हृदय गद्‌गद् हो गया। कवियों के कण्ठ से प्रशस्तियाँ फूट पड़ी और प्रजा ने अपने आप को महारानी विक्टोरिया की अधीनता में समझकर सुख

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

की साँस ली और अपना भाग्य सराहा। प्रजा के बहुत से शुभचिन्तकों ने समझा कि बस प्रार्थना-पत्र भेजने की देर है। सुनवाई हुई नहीं कि सभी क्लेश मिट गये। भारतेन्दु युग का बहुत सा साहित्य राजभक्ति के भावों से पूर्ण है, उसका यही रहस्य है।''[17]

स्पष्ट है कि अकेले भारतेन्दु ही नहीं पढ़े-लिखे भारतीयों का एक पूरा वर्ग उस दौर में अंग्रेजी राज के प्रति प्रशंसा के भाव से भरा हुआ था। उस दौर की इस मानसिकता की हम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के शुरुआती दौर के ज्ञापनों या माँगपत्रों से भी समझ सकते हैं जो अंग्रेजी राज के प्रति प्रशंसा के भाव से भरे रहते थे।

भारतेन्दु की तथाकथित अंग्रेज भक्ति को समझने के लिए हमें बनारस के तत्कालीन परिवेश को भी समझना होगा। भारतेन्दु काल में बनारस के साहित्यिक जगत् में दो ही हस्तियाँ थी जिन्हें लोगों की मान्यता थी। एक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और दूसरे राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द'। हालाँकि भारतेन्दु एक प्रकार से राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के शिष्य ही थे किन्तु बाद में ये दोनों एक-दूसरे के खिलाफ हो गए। इससे बनारस का साहित्यिक जगत् भारतेन्दु और राजा साहब के दो गुटों में विभाजित हो गया। भारतेन्दु का ज्यादा जुड़ाव जनता से था। राजा साहब का मेल-जोल अंग्रेजों से था और वे भारतेन्दु के खिलाफ अंग्रेजों को निरन्तर भरा भी करते थे। एक बार ऐसा भी हुआ कि प्रिन्स ऑफ वेल्स के भारत आने पर भारतेन्दु ने उनके स्वागत के लिए बनारस का टाऊन हॉल बुक कराया था लेकिन राजा साहब ने अंग्रेज अधिकारियों को भड़का कर टाऊन हॉल की बुकिंग रद्द करवा दी थी। ऐसे में भारतेन्दु के सामने यह समस्या निरन्तर बनी रहती थी कि कहीं उनकी रचनाओं के बारे में राजा साहब अंग्रेजों के कान भरकर उनको प्रतिबन्धित नहीं करवा दें। अंग्रेजी राज में प्रेस एक्ट जैसे कानूनों के जरिए शासन को पसन्द न आने वाली रचनाओं पर प्रतिबन्ध का खतरा बना रहता था।

इसलिए भारतेन्दु बड़ी चालाकी के साथ अपनी बात कहने के साथ ही रचनाओं में कुछ ऐसे सूत्र भी छोड़ देते थे जिससे वे वक्त आने पर अपनी रचनाओं का बचाव कर सकें। भारतेन्दु एक चालाक लेखक की तरह अपनी बात रहने से पूर्व अंग्रेज राज की हल्की-फुल्की प्रशंसा करते हैं और फिर इस प्रशंसा की आड़ में अपनी मुख्य बात भी कह जाते हैं—

*''अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी*
*पै धन विदेश चली जात इहै अति ख्वारी।''*[18]

यहाँ भारतेन्दु पहली पंक्ति में अंग्रेजी राज की व्यंग्यपूर्ण प्रशंसा करते हैं लेकिन अगली ही पंक्ति में वे भारत से धन के विदेश जाने पर गहरा रोष भी व्यक्त कर देते हैं।

इस संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा कहते हैं कि— ''वास्तव में अनेक रचनाओं में तो ऐसा लगता है कि जनता में नव-चेतना फैलाने के लिए ही राजभक्ति की आड़ ली गई थी। भारतेन्दु अंग्रेजों की नीति समझते थे और उस पर सीधी भाषा में टीका कर सकते थे।''[19]

कृष्णदत्त पालीवाल इस सम्बन्ध में लिखते हैं— ''भारत में अंग्रेजी राज में बोलने-सोचने-लिखने की स्वतंत्रता छीन ली। इसके लिए भारतेन्दु बड़े चक्कर में फसे। पर उन्होंने चतुरता से काम लिया और भूमिका के रूप में अंग्रेज राज और रानी की भक्ति दिखाई। अंग्रेज विद्रोह का झण्डा उठाकर असलीयत बयान करने का काम सम्भव न था। भारतेन्दु ने राजभक्ति के बाने में देशभक्ति की गुहार लगाई।''[20]

इसी संदर्भ में शिवकुमार मिश्र का कहना उचित ही है कि—''भारतेन्दु और उनके युग का मूल स्वर वस्तुतः राष्ट्रभक्ति का ही स्वर है, उस राष्ट्रभक्ति का, जैसी वह उस युग में हो सकती थी।''[21]


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

इस मायने में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को राष्ट्रीय चेतना का पहला कवि/लेखक माना जा सकता है। भारतेन्दु से पहले जिन कवियों की कविताओं में राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय चेतना का भाव खोजा जा सकता है, उनमें आदिकाल में सूर्यमल मिश्रण, चन्दवरदाई और मध्यकाल में कवि भूषण प्रमुख हैं। लेकिन ये सभी कवि राज्याश्रित कवि थे और इनकी कविताओं में अपने राजा या राज्य के प्रति जो भाव था वह इनके जीवनयापन से भी जुड़ा हुआ था। इसके अतिरिक्त इनकी कविताओं का भाव राष्ट्रीयता की भावना से उन अर्थों में मेल नहीं खाता जिन अर्थों में राष्ट्रीयता ने 19वीं सदी में स्वरूप ग्रहण किया था। लेकिन भारतेन्दु के साथ अपने पूर्ववर्ती कवियों जैसी मजबूरी नहीं थी। भारतेन्दु अपना घर फूँक कर गुलाम, दु:खी और निराश भारतीयों में अपनी कविताओं से चेतना लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। वे अपनी कविताओं से आदिकाल के कवियों की तरह संकुचित राष्ट्रीय चेतना नहीं बल्कि वृहत् भारत राष्ट्र के लिए चेतना जगाने का कार्य कर रहे थे। इस तरह सही अर्थों में राष्ट्रीयता की इस अवधारणा के प्रथम कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही थे।

और अन्त में भारतेन्दु की एक मुकरी—

*''भीतर-भीतर सब रस चूसै, हँसि हँसि के तन मन धन मूसै*
*जाहिर बातन में अतितेज, क्यों सखि सज्जन, नहिं अंगरेज''*

सन् 1883 में लिखी इस मुकरी से ही आप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की राष्ट्रीयता का अंदाजा लगा सकते हैं।

## संदर्भ


1. भारतेन्दु समग्र, पृ. 469।
2. भारतेन्दु समग्र, पृ. 470।
3. भारतेन्दु समग्र, पृ. 472।
4. भारतेन्दु समग्र, पृ. 472।
5. भारतेन्दु समग्र, पृ. 1081।
6. भारतेन्दु समग्र, पृ. 1092।
7. भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा का विकास, पृ. 6।
8. भारतेन्दु समग्र, पृ. 1091।
9. भारतेन्दु समग्र, पृ. 483।
10. भारतेन्दु समग्र, पृ. 229।
11. भारतेन्दु समग्र, पृ. 229।
12. भारतेन्दु समग्र, पृ. 1093।
13. भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ. 3।
14. भारतेन्दु समग्र, पृ. 212।
15. भारतेन्दु समग्र, पृ. 218।
16. भारतेन्दु समग्र
17. भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ. 10।
18. भारतेन्दु समग्र, पृ. 472।
19. भारतेन्दु और हिन्दी भाषा की परम्परा, पृ. 17।
20. भारतेन्दु प्रतिनिधि रचनाएँ, पृ. 29।
21. भारतेन्दु और भारतीय नव-जागरण, पृ. 17।


❑

5, अग्रसेन नागर,
टोंक फाटक,
जयपुर



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

*"कमलेश्वर का यह उपन्यास*
*मानवता के दरवाज़े पर इतिहास*
*और समय की एक दस्तक है .....*
*इस उम्मीद के साथ कि*
*भारत ही नहीं दुनिया भर में*
*एक के बाद दूसरे पाकिस्तान*
*बनाने की लहू से लथपथ यह*
*परम्परा अब खत्म हो ......."*[1]

# आधुनिक इतिहास लेखन का नमूना : कितने पाकिस्तान

**शमशाद बेगम आर.**

**सा**म्प्रदायिकता एक ऐसा विध्वंसात्मक तत्त्व है, जो आदमी को उसकी आदमीयत से काटकर केवल घृणा का प्रारूप बना देता है। धर्म और संस्कृति का निर्माण मनुष्य ने अच्छा जीने और एक जुट होकर, मिल-बैठकर जीने के लिए किया था, लेकिन साम्प्रदायिकता उन्हीं का दामन पकड़कर मनुष्य को मनुष्य के खून का प्यासा बना रही है। स्वतन्त्र भारत में साम्प्रदायिकता विघटन और विभाजन की ताकत बन चुकी है। भारतीय समाज की बुनावट ही इस प्रकार की है कि इसमें इसे फलने-फूलने के सारे साधन प्राप्त हो जाते हैं। साम्प्रदायिकता का धर्म से, धार्मिक शिक्षाओं से, दार्शनिक पहलुओं से कोई लेना-देना नहीं रहता, उल्टे ये शक्तियाँ, धार्मिक आस्थाओं का दोहन ही करती हैं। धर्म का सहारा तो सिर्फ इसलिए लिया जाता है, क्योंकि धर्म भीड़ एकत्र करने में और जनता को असली मुद्दे से विलग करने के लिए अफीम का काम करता है।

उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिम कालखण्ड और बीसवीं का दसवाँ दशक साम्प्रदायिक समस्याओं के विकास और हिन्दी उपन्यास साहित्य की प्रतिष्ठा दोनों के लिए चुनौती है। साहित्यिक परिधि से यह घोषित हो चुका है कि दंगा कोई घटना नहीं बल्कि एक विकृत मानसिकता है। सड़कों पर यह बाद में होता है, मस्तिष्कों में पहले



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जन्म लेता है। अब इस लड़ाई को चाहे धर्म के नाम पर लड़ो, चाहे देश की एकता के नाम पर साहित्यकार तो इस छद्म आवरण को तोड़ने की कोशिश करता है। आज कलम की सच्चाई ही वह ज़रिया है जिससे पीड़ित मानवता पर स्नेह का मरहम लगाया जा सकता है, विश्वास ही बहाली हो सकती है।[2]

ऐतिहासिक उपन्यासों में 'कितने पाकिस्तान' इतिहास को और बीती हुई सदियों को एक नई आँख से देखने और व्याख्यायित करने का प्रयास करता है। इस उपन्यास में लेखक ने मुगलकालीन इतिहास का किंचित सर्जनात्मक उपयोग किया है। उपन्यास में दारा की पराजय को उदार मानवीय मूल्यों की पराजय माना गया है।

जनवरी 2000 ई. में प्रकाशित 'कितने पाकिस्तान' पिछले दशक के वर्तमान इतिहास में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष, पाकिस्तान के रूप में देश का विभाजन आदि घटनाओं को विस्तार से लिया है और इसके माध्यम से देश के भविष्य को देखने की कोशिश की है।[3] हालाँकि उपन्यास अपनी मूलगामिता से चलकर वर्तमान साम्प्रदायिक प्रश्नों और समस्याओं पर भी जिरह करता है। यह चिरह इतना विस्तार पाती है कि पूरा विश्व इसके दायरे में आ जाता है। कमलेश्वर ने जिरह की इस तकनीक को ही उपन्यास की परिधि बना दिया है (वक्त की अदालत में जिसका न्यायाधीश स्वयं अदीब के रूप में उपन्यासकार है)। पेशी-दर-पेशी, जिरह-दर-जिरह, यही कला तकनीकी है इस उपन्यास की। उपन्यासकार की स्वीकारोक्ति की यह उपन्यास मन के भीतर लगातार चलने वाली एक रिह का नतीजा है। दशकों तक सभी कुछ चलता रहा।[4] वस्तुतः यह उपन्यास, उपन्यास के बने-बनाए सभी खाँचों को अस्वीकार करते हुए भी एक अद्वितीय रचना है। इसकी अनेकानेक पंक्तियों में सूक्ति की सी प्रभावात्मकता है, जैसे—

1. नफरत और खौफ की बुनियाद पर बनने वाली कोई चीज़ मुबारक नहीं हो सकती।[5]
2. गलत फैसले से हिंसा उपजती है और हिंसा से अपसंस्कृतियाँ और रक्तपात।[6]
3. ज़िन्दगी की राहें ज़्यादातर पछतावे से ही खुलती हैं।[7]
4. गरीबी और भूख की कोई नस्ल नहीं होती।[8]

इतना ही नहीं उपन्यासकार अपने सरोकारों के साथ सिद्दत से जुड़ा है। वह मौजूदा हालात पर अपनी शुद्धता इन शब्दों में व्यक्त करता है—

"इनसान और इनसान की कुदरती पहचान के बीच यह हिन्दुस्तान और पाकिस्तान, सीरिया और लेबनान कहाँ से आ जाते हैं?"[9] यह नहीं मान लेना चाहिए कि इस उपन्यास में केवल कोरी लफ्फाजी है या कि उपदेशात्मक भाषणबाजी है। उपन्यासकार आम आदमी की ज़िन्दगी के दुःख-दर्द और उसकी आशा-आकांक्षा से सुपरिचित है। आदमी की सहजात वृत्ति प्रेम को परिभाषित करता हुआ वह कहता है—"वर्जित प्यार ही असली प्यार होता है ..... जिस प्यार में वर्जना नहीं, वह वेश्यावृत्ति है, पर वह वृत्ति समाज द्वारा स्वीकृत है ..... तुम समाज को बहिष्कृत करो ..... मैंने अभी-अभी सुना ..... तुम्हारी प्रेमिका ने चाहा है कि उसे जी लो, जो मन चाहता है। सुनो! दिमाग से जिओगे तो जी नहीं पाओगे और यह दुनिया भी तुम्हें जीने नहीं देगी। ..... अपने वर्जन से ऊपर उठकर आसक्ति को ग्रहण करो ..... आसक्ति में ही आनन्द है ..... आसक्ति ही अन्तिम है, वह चाहे किसी शाश्वत मार्ग से प्राप्त होती हो या नश्वर उपादान से।"[10] इस विमर्श में लेखक समय, तर्क, भूगोल, लोकप्रिय धारणा इत्यादि से जूझते हुए मनुष्य के भीतर बचे इतिहास, विवेक, विश्वास, आशा और दूसरे मानवीय मूल्यों की संचित निधि तक पहुँचता है।

इस उपन्यास को लिखे जाने के पीछे की मूल प्रेरकता मज़हबी साम्प्रदायिकता से वैश्विक सभ्यता के रूप में उत्पन्न क्षेत्रवाद, सम्प्रदायवाद और आतंकवाद है। इसके मूल बीज को तराशने के लिए ही कमलेश्वर ने एक


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ऐसी प्रक्रिया और प्रविधि का निर्माण किया है जिसमें किसी भी समय में जाकर उस इतिहास और इतिहास पुरुषों को अदालती कटघरे पर में खड़ा किया जा सके, उन पर आरोप कायम किया जा सके और वे इन आरोपों की सफाई में जो कहना चाहें, कह सकें। उपन्यास में एक पाकिस्तान नहीं है, न जाने कितने पाकिस्तान हैं। कोसोवो, इशक, दागिस्तान, चेचन्या, इस्ट तिमोर, कारगिल सबकी कराहनी साँसें दर्ज करने की कोशिश में यह उपन्यास रचा गया है। इसके जिम्मेदार इतिहास पुरुष अपनी-अपनी कब्रों से उठकर अदीब की अदालत में पेश होते हैं। यहाँ मोहम्मद बिन कासिम, महमूद गज़नबी, बाबर, जहाँगीर, औरंगजेब, हिटलर, सद्दाम हुसैन सब हैं। राजेन्द्र यादव लिखते हैं—''इस रचना में लेखक ने इतिहास और भूगोल की सीमाओं को तोड़ने का प्रयास किया है। यह मनुष्य की वास्तविक सभ्यताओं और चिन्ताओं को सामने रखने की कोशिश करती है।''[11]

उदाहरण—

''हुजूर बिलाल का कहीं पता नहीं है न वह इस दुनिया में है न उस दुनिया में।

वह कैसे हो सकता। अदालत बोली ..... सारे धर्मों और सभ्यताओं ने सिर्फ दो दुनिया का उसूल जायद किया है .....

तीसरी दुनिया कैसी हो सकती है? जिसमें जाके बिलाल छुप जाए?

पता नहीं हुजूर पर वह मुझे नहीं मिला। इतना ज़रूर मालूम हुआ कि वह मिस्र की तरफ भाग गया है।

जानते हो तुम। मुझमें सदियाँ ही नहीं सभ्यताएँ बोलती हैं।''[12]

अदीब सभ्यता की इस कहानी को लगातार बताना जा रहा था, पर इसे ध्यान से कोई नहीं सुन रहा था। अर्दली की ओर देखा तो उसने फुसफुसाकर कहा—''हमारे साहब कभी-कभी बहक जाते हैं और उटपटाँग भाषण देने लगते हैं।''

इसी भाषण के बीच में दुनिया भर की एकत्र मुर्दा लाशें अपनी-अपनी फरियाद लेकर दस्तक देती हैं तब अदीब सचेत होता है और उनकी फरियाद सुनने लगता है। इस उपन्यास में दस्तकें-ही-दस्तकें हैं और इन दस्तकों को दरियाफ्त करना उपन्यासकार स्वयं—अदीब, पत्रकार और ध्यायाधीश के रूप में। अदालत भी हमारी, मुकदमा भी हमारा, न्यायधीश भी हम ही। रचनाधर्मिता की यह नयी परिधि सही अर्थों में एक ऐसा प्रयोग है। इसे ज़ोर देते हुए विष्णु प्रभाकर ने टिप्पणी की है कि—''कमलेश्वर ने उपन्यास के बने-बनाए ढाँचे को तोड़ दिया है और लेखकीय अभिव्यक्ति के लिए सब कुछ संभव बनाने का दुर्लभ द्वार खोलकर एक नया रास्ता दिखाया है ..... यह एक नया प्रयोग है।''[13]

दरअसल कमलेश्वर ने आधुनिक इतिहास के जिस दुष्चक्र को विषय बनाया है और उसका विस्तार जिस तरह से विश्व के प्रत्येक हिस्से में बनने वाले 'पाकिस्तान' तक किया है, यह अत्यन्त ही समसामयिक और महत्त्व का है। इण्डिया टुडे इसे एक अविस्मरणीय और महान कृति घोषित करता है। आगे वह लिखता है—हिन्दी में राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की ऐसी गम्भीर पड़ताल करता हुआ, इतने गहरे बौद्धिक विमर्श वाला उपन्यास अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है।[14] सबसे खास बात है कि कमलेश्वर की नज़र इतिहास में होते हुए भी निपट वर्तमान पर है जिससे उनकी लेखकीय संवेदना या यों कह लें कि पत्रकारिता के दायित्वबोध की पवित्र मंशा स्पष्ट होती है। वे उपन्यास में कहीं भी अपनी इस प्रस्तावित उद्घोषणा से रत्ती भर भी इधर-उधर नहीं होते हैं—''अतीत के अलावा हमें इस दौर की नब्ज पर भी तो हाथ रखे रखना है, नहीं तो वर्तमान भी अतीत की इतिहास कथा



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बन जाएगा। लेकिन मैं उतने ही अतीत को देखना और समझना चाहता हूँ, जो इस वर्तमान पर अपनी काली छाया डालकर हमारी आज की ज़िन्दगी में फरत और प्रतिशोध के पाकिस्तानों की नींव डालना चाहता है।''[15]

कमलेश्वर ने निश्चय ही पूरे विश्व के इतिहास और मइथॉलजी का गम्भीर अध्ययन किया है, क्योंकि उपन्यास में जिस तरह से 'एविडेंस' प्रस्तुत किया गया है, उसके आधार पर जिस तरह के तर्क विकसित किये गये हैं वह एक श्रमसाध्य कार्य है। इस दृष्टि से 'कितने पाकिस्तान' आधुनिक इतिहास लेखन की एक कला का नमूना बन सकता है जिसे अधिकारी और पेशेवर इतिहासकार अपना सकते हैं। सम्भवत: इस पुस्तक के अब तक दस संस्करण छप जाने और बिक जाने के साथ ही दस भाषाओं—उड़िया, मराठी, उर्दू, गुजराती, पंजाबी, बंगला, अंग्रेज़ी, स्पेनिश, फ्रेंच और जर्मन में अनूदित होने के पीछे का एक कारण यह भी हो।

कितने पाकिस्तान को पढ़ते हुए यह बात तो बार-बार अनेकों बार सतह पर आ जाती है कि लेखक की विचारगत संवेदना तो मनुष्यता की पक्षधर है जो कि प्रत्येक कला अथवा साहित्य होता है, होना चाहिए। किन्तु यह संवेदना अगर अपनी सृजनात्मक निष्पत्ति में कोई चित्र न उपस्थित कर पाये तो फिर वह मुकम्मल व ठोस रूप नहीं ग्रहण कर पाती है।

कमलेश्वर के कितने पाकिस्तान को सभी मायनों में एक बड़ा उपन्यास कहा जा सकता है। इसीलिए कि यह इतिहास को और बीती हुई सदियों को एक नए चश्मे में देखने और व्याख्यायित करने की कोशिश करता है और उस चश्मे के भीतर की आँख एक अदीब की, साहित्यकार की आंख है। एक ऐसा अदीब, जो आम आदमी का सच्चा प्रतिनिधि है और पूरी तरह आम आदमी की चिन्ताओं और सरोकारों को जी रहा है।[16] प्रकाश मनु के इस बयान से सहमत होना काफी मुश्किल मालूम पड़ता है, क्यों इस उपन्यास में पात्र, संवाद योजना, देशकाल, लोक कथा कुछ भी तो नहीं है। स्वयं प्रकाश जैसे गम्भीर अ सृजनरत समकालीन ने कमलेश्वर को लिखा—''कह चाहिए कि यह नाटक की ब्रेख्तियन पद्धति का उपन्या में पहली बार निवेश करना है—और बेशक खतरे उठा हुए और इसकी कीमत चुकाते हुए भी अपने मकसद कामयाब रहना है ..... इसलिए इसे क्या कहें? अनुपन्यास या प्रतिउपन्यास? लेकिन ऐसा कहने से कालीवादी, रूपवाद प्रतिक्रियावाद की बू आती है, लेकिन उन्हें देखना चाहि कि शिल्प के उनसे बड़े और ज़्यादा जोखिम वाले प्रयो प्रगतिशील लेखक कर सकते हैं।''[17]

प्रस्तुत उपन्यास के ज़रिए यही विचार उभरक सामने आता है कि दुनिया में लहू से लथ-पथ बँटवारे क ख्वाहिश खत्म होनी चाहिए। मानव एवं मानवता की र के लिए यही विचार अनिवार्य है। उपन्यास के अन्त मे एक अन्धे कबीर नामक व्यक्ति को उपस्थित कर उसके द्वारा 'वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाने रे'[18] ..... जैसा भजन एकतारे पर गवाना यानी लेखकीय विचा की ओर इंगित करता है जो मानवता तथा सहिष्णुता क संदेश देता है। अलगाववादी मानसिकता के प्रतीक बने पाकिस्तान की बँटवारे की समस्या पर तथा अणु ब निर्माण कर 'पोखरण' जैसे बम विस्फोट की घटना प उपन्यासकार वैचारिक व्यंग्य प्रस्तुत करता है औ इन्हें मानवता तथा सहिष्णुता विरोधी होने के कार अप्रासंगिक तथा अमानवीय करार देता है। मस्जिद ध्वंस अणउ बम बनाने की ज़हरीली नीति समस्त मानव जाति के लिए, उसके ऐक्य के लिए, शान्ति और सद्भावपू माहौल बनाए रखने के लिए घातक है।[19] यही विचा उपन्यास के प्रमुख प्रयोजन के रूप में प्रस्तुत हुए हैं कितने पाकिस्तान उपन्यास के बारे में पुरुषोत्तम अग्रवाल



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ठीक ही लिखते हैं—''कितने पाकिस्तान नि:सन्देह जरूरी और महत्त्वपूर्ण रेखांकन है—मानवीय चैतन्य, स्वप्न और महत्त्वपूर्ण रेखांकन है—मानवीय चैतन्य, स्वप्न और नियति के साझेपन का। गौरतलब उपक्रम है संस्कृतियों के बीच संवाद की ज़रूरत और सम्भावना को पहचानने का।''[20]

## संदर्भ


1. कमलेश्वर—कितने पाकिस्तान (फ्लेप से), राजपाल एण्ड सन्स, द.सं. 2007।
2. मंजुला, राणा—दसवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में साम्प्रदायिक सौहार्द्र, वाणी प्रकाशन, प्र.सं. 2008।
3. कमलेश्वर—कितने पाकिस्तान (फ्लेप से), राजपाल एण्ड सन्स प्र.सं. 2000।
4. वही, पृ. 4।
5. वही, पृ. 60।
6. वही, पृ. 61।
7. वही, पृ. 94।
8. वही, पृ. 97।
9. वही, पृ. 98।
10. वही, पृ. 113।
11. 11, 13, 14 कमलेश्वर—कितने पाकिस्तान (फ्लेप से), राजपाल एण्ड सन्स, द सं. 2007।
12. कमलेश्वर—कितने पाकिस्तान, पृ. 84, राजपाल एण्ड सन्स, प्र.सं. 2000।
15. वही, पृ. 173।
16. प्रकाश मनु—बीसवीं सदी के अन्त में उपन्यास : एक पाठक के नोट्स, पृ. 45-46, आलोचना त्रैमासिक, अप्रैल-जून 2008 से उद्धृत।
17. स्वयं प्रकाश की चिट्ठी का उल्लेख, कितने पाकिस्तान की भूमिका में कमलेश्वर के ज़रिए, सं. 2007।
18. कमलेश्वर—कितने पाकिस्तान, पृ. 362, राजपाल एण्ड सन्स, प्र.सं. 2000।
19. अर्जुण चौहान—समकालीन उपन्यासों का वैचारिक पक्ष, पृ. 146, वाणी प्रकाशन, प्र.सं. 2008।
20. सं.-राजेन्द्र यादव, हंस पत्रिका, पृ. 88, जून 2000।


❑


असि. प्रोफेसर,

श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय,

तिरुवनन्तपुरम प्रादेशिक केन्द्र (केरला)




CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# मेहरुनिस्सा परवेज और सारा अबूबकर के उपन्यासों में अभिव्यक्त मुस्लिम समाज

डॉ. प्रभा भट्ट

भारत बहुभाषीय, बहुधर्मीय देश रहा है। पर इसकी आत्मा भारतीय है। भाषा चाहे जो भी हो, धर्म चाहे जो भी हो पर हम सब एक हैं। हम सब भारतीय हैं। हमारी वेश-भूषा, खान-पान चाहे अलग हो पर हमारे मन, विचार एक हैं। यहाँ जितनी भाषाएँ हैं उतना ही विविध उन भाषाओं का साहित्य भी है। कन्नड़ कर्नाटक की राज्यभाषा है और हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा। साहित्य की दृष्टि से ये दोनों भाषाएँ सम्पन्न रही हैं। चाहे वह कोई भी साहित्यिक विधा क्यों न हो। इस साहित्य को रचने वाले भी अलग-अलग धर्म के रहे हैं।

आज के वर्तमान संदर्भ में महिला लेखन की अपनी एक अलग परम्परा रही। हिन्दी और कन्नड़ दोनों ही भाषाओं में अन्य विधाओं की तुलना में उपन्यास में महिला लेखन अत्यधिक रहा है अगर कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसी परम्परा में दो नाम ऐसे हैं, जिन्होंने खासकर मुस्लिम जीवन और संस्कृति को आधार बनाकर अपने साहित्य का सृजन किया। वे हैं हिन्दी की प्रसिद्ध लेखिका मेहरुनिस्सा परवेज तथा कन्नड़ की प्रमुख लेखिका सारा अबूबकर।

मेहरुनिस्सा परवेज का लेखन जीवन की समग्रता को प्रस्तुत करता है। सामाजिक व्यवस्था के अभिशाप के बीच उनके पात्र अपनी मुक्ति का रास्ता ढूँढ़ते हैं। लेखिका सामाजिक व परम्परागत रूढ़ियों से टकराती नहीं अपितु नयी राह ढूँढ़ लेती हैं। लेखिका ने अपने व्यापक अनुभव को ही रचना का आधार बनाया। इसलिए उन्होंने निम्न आदिवासी, पिछड़ी, अशीक्षित औरत की जटिल जिन्दगी व दैनिक पीड़ा को भी अनुभव की प्रखरता के साथ स्वर दिया है। उनके उपन्यास जिन्दगी को अपने में समेटे हुए हैं। उनके उपन्यास हैं—आँखों की दहलीज, उसका घर, कोरजा एवं अकेला पलाश।



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मेहरुनिस्सा परवेज का उपन्यास 'उसका घर' नर, नारी के प्रेम के उलझनों और गाँठों को उजागर करता है। एलमा का जीवन उलझन भरा है। उसका विवाह हो चुका है लेकिन दमे के कारण उसका पति उसको तलाक देता है। परिवार वाले तलाक न लेने की सलाह देते हैं पर एलमा कहती है—''पत्नी को भीख में माँगा हुआ अधिकार कभी सुखी नहीं रखता ... रही अदालत जाने की बात, तो पति-पत्नी में यदि दरार पड़ जाए तो दुनिया की कोई अदालत उसे जोड़ नहीं सकती।''[1] एलमा तलाक स्वीकार कर लेती है। घर में एलमा का एक सगा भाई आण्टी और उसकी बेटी रेशमा रहते हैं। तलाक के बाद उसका भाई अपने व्यवसाय के उन्नती के लिए एलमा को आहुजा के हाथों बेच देता है। एलमा उसे मना नहीं कर पाती और अपने मन के अनुरूप न होने पर भी आहुजा को अपना शरीर अर्पित करती है। इसके विपरीत रेशमा एक आधुनिक और साहसी युवती है, अपनी माँ का विरोध करके जाति-पाँति के भेदभाव भूलकर हिन्दू लड़के देव से प्यार करती है। वह एक कुँवारी माँ भी है। वह सामाजिक नैतिकता को झूठा समझती है। एक और नारी पात्र है सोफिया जो जॉन की पत्नी है। जॉन लंगड़ा और कुरूप है। सोफिया ने कई पुरुषों से सम्बन्ध रखे हैं। पुरुष के बारे में उसका कहना है—''एलमा, औरत प्यार के लिए भटकती है, पर उसे प्यार नहीं मिलता। औरत हमेशा मर्द के घर का सुख होती है। मैंने कितने मर्द बदले हैं पर क्या उन्होंने मुझे प्यार दिया? नहीं, सब शरीर को चाहते हैं। प्यार की जो परिभाषा पहले आँकी गई थी, आज वह बेकार और मजाक सी लगती है। आज प्यार की परिभाषा एकदम बदली हुई है। अलग-अलग दिखने वाले पुरुष दूर से जितने आकर्षक दिखते हैं, स्मार्ट नजर जाते हैं, अन्दर से वही एक से रहते हैं।''[2] इस प्रकार लेखिका ने सोफिया, एलमा और रेशमा के माध्यम से प्रेम के भिन्न-भिन्न स्वरूप को व्यक्त किया है। जहाँ एलमा अपने नियति को स्वीकार करके चलती है तो रेशमा कुँवारी माँ बनने का साहस दिखाती है। सोफिया के विचार पूर्णरूपेण पाश्चात्य सभ्यता से जुड़ी आधुनिक नारी के विचारों से मेल खाते हैं। इस तरह उपन्यास में नर-नारी के बनते और टूटते सम्बन्धों को व्यक्त किया गया है। पूरे उपन्यास में पाश्चात्य प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। रेशमा का विवाह पूर्व माँ बनना और सोफिया का अनेक पुरुष बदलना इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इसे एब्सर्ड उपन्यास कहे तो गलत न होगा।

अपने दूसरे उपन्यास 'कोरजा' में परवेज जी ने मुस्लिम जीवन और संस्कृति को आधार बनाया है। कोरजा से आशय अनाज के कट जाने के बाद उन बालियों से है, जो खेतों में रह जाती है और गरीब लोग उन्हें बटोरते हैं। नसीमा, रब्बो आपा की लड़की की शादी में आई है। रब्बो आपा से अपनी बीती हुई जिन्दगी को याद करती हुई पूछती है—यह शादी प्रेम-विवाह है या तयशुदा। नसीमा अतीत में खो जाती है। अरमान बी रहमान खाँ दोनों पति-पत्नी हैं। पति के लिए पत्नी की देह बासी हो चुकी है। इसलिए उसकी नजर अपनी ही जवान बेटी फातमा पर पड़ने लगती है। माँ को सन्देह होने लगता है तो वह बेटी की शादी करीम खाँ से कर देती है। करीम फातमा को छोड़कर चला जाता है, क्योंकि उसके मायके वालों ने उसे कभी नहीं पूछा। फातमा मर जाती है तो उसकी बेटी नसीमा अपनी नानी के घर आ जाती है। नानी की बड़ी बेटी साजो का गरीबी के कारण जुम्मन से शारीरिक सम्बन्ध होता है, जो उनके यहाँ पहले मुनीम था। यह सम्बन्ध सौदेबाजी का परिणाम है जो नानी जुम्न से करती है। इस तरह गरीबी नानी के लिए अभिशाप बन जाती है। नानी के घर एक लड़की है रब्बो, जिसकी माँ सौतेली है। जमशेद जो सौतेली माँ के दूर का भाई है वह माँ, बेटी दोनों से इश्क करता है। रब्बो को जब मरा हुआ



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पुत्र पैदा होता है तो वह नानी के घर आ जाती है। नानी के पड़ोस में कम्मो और एहसान भाई रहते हैं। रब्बो और एहसान में इश्क होता है तो कम्मो का हिन्दू लड़का अमित से जो एक पत्रकार है। अमित अपनी नपुंसकता के कारण शराब पीता है और उसकी मृत्यु हो जाती है तो कम्मो इसे न सहने के कारण आत्महत्या कर लेती है। रब्बो एहसान के बच्चे की माँ बनने वाली है, पर एहसान शादी करने से इनकार करता है तो रब्बो गर्भपात करा लेती है। बूढ़ी नानी परिवार के बोझ को कम करने के लिए रब्बो की शादी बूढ़े से कर देती है। उपन्यास के अन्त में नसीमा के सामने जो विभिन्न अनुभूतियों से गुजर चुकी है, तीन चरित्र अपने-अपने व्यक्तित्व को लिए खड़े हो जाते हैं—रब्बो, कम्मो और मोना दीदी। वह सोचती है—इन तीनों में से कौन बड़ा है? रब्बो ने बूढ़े से शादी कर ली, कम्मो ने आत्महत्या और मोना दीदी (अमित की बहिन) ने जीवन का सामना करने के लिए स्कूल खोल लिया। नसीमा की दृष्टि में मोना दीदी ही श्रेष्ठ है, क्योंकि उसने जीवन से पलायन नहीं किया, उसका सामना किया। नसीमा को उसके इन स्मृतियों से रब्बो बाँह पकड़कर वर्तमान में लाती है तो उपन्यास का अन्त होता है। पूरा उपन्यास पूर्वदीप्ती शैली में लिखा गया है। संयुक्त परिवार, आर्थिक अभाव के कारण होने वाले शोषण, मानव की वासना आदि का सुन्दर चित्रण उपन्यास में किया गया है।

'आँखों की दहलीज' उपन्यास नारी जीवन के अधूरेपन को लेकर चलता है। उपन्यास की नायिका तालिया अपने बाँझपन को नहीं सह पाती। उसे बहुत दु:ख है कि वह पति को वारिस नहीं दे पाती। पति पर बोझ बनकर जीना उसे स्वीकार नहीं। इसलिए अपने पति को शमीम से विवाह के लिए तैयार कर लेती है और स्वयं पत्नी का अधिकार त्याग देती है। पर तालिया की अम्मी को यह ठीक नहीं लगता और वह बेटी को जावेद के निकट लाने की कोशिश करती है। धीरे-धीरे वह जावेद को चाहने लगती है और दोनों के सम्बन्ध भी बनते हैं। तब तालिया के मन में अपराध बोध उत्पन्न होता है। उपन्यास में प्रेम सम्बन्धों की जटिलता और विविधता को सरलता से निभाया है। इन प्रेमी युगलों ने कभी काम को बांधा है तो कभी अर्थ को जो प्रेम सम्बन्धों को विकृत करता है। परवेज ने डॉ. शशि सूद के चरित्र को आधुनिकता के रूप में चित्रित किया है जो अपने मन में समाज के प्रति विद्रोह को लिए हुए है लेकिन तालिया का रोष अपनी माँ पर है। जैसे-जैसे तालिया अपने अपराधबोध से उभरती है, उपन्यासकार का दृष्टिकोण उभरने लगता है। उसके मन की यह स्थिति दुविधापूर्ण है कि वह अपने पति व प्रेमी में किसका चयन करे। डॉ. सरिता कुमार ने कहा है—''परवेज ने प्रेम के बदलते हुए स्वरूप को उजागर किया है लेकिन इस उपन्यास का अन्त फिल्मी अंदाज को लिए हुए है। इस तरह के अतिनाटकीय साधन उपन्यास के रचना-विधान को ठेस लगाते हैं परन्तु प्रेम के स्वरूप को उपन्यासकार ने आधुनिकता की दृष्टि से अंकित किया है।''[3] जैसे जमीला कहती है—''तालिया जिन्दगी बहुत मुश्किल है, जाने कितने रोल यहाँ अदा करने पड़ते हैं। मोहब्बत करना जुल्म नहीं, बेकार अपने को गुनहगार मत समझो।''[4] तालिया इतना पढ़-लिखकर भी चौदहवीं सदी में जी रहे हैं तुम्हीं बताओ हमने कहाँ तरक्की की है। आज भी हम पुराने बन्धनों में बन्धे हैं।[5] परवेज जी का उद्देश्य नारी की मनोवृत्ति के सजीव चित्रण के साथ नारी की पीड़ा को उजागर करना रहा है। इस प्रकार आँखों की दहलीज प्रेम, कर्त्तव्य और बलिदान में त्रिकोणात्मक संघर्ष की अग्नि कथा है, जिसका हर पात्र भीतर-ही-भीतर, कहीं-न-कहीं झुलसा हुआ है।

'अकेला पलाश' उपन्यास नारी समस्या पर केन्द्रित है। पुरुष प्रधान समाज में नारी का उत्पीड़न, शोषण अभी



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भी अपने चरम पर है। इस पुरुष-प्रधान समाज में नारी की अस्मिता सुरक्षित नहीं है। इस उपन्यास में लेखिका ने बदलते सामाजिक सन्दर्भों का चित्रण किया है।

तहमीना की शादी जमशेद से होती है जो कि उसके पिता की उम्रका है। दोनों पति-पत्नी के बीच उम्र का बहुत ही बड़ा अन्तर है। तहमीना शारीरिक रूप से अपने पति से सन्तुष्ट नहीं हैं। इसके अलावा उन दोनों एक आचार-विचार, स्वभाव, जरूरतों में भी भिन्नता है। बेमेल विवाह के रूप में की गई गलत शुरुआत फिर बहुत कुछ गलत होते जाने का कारण बनती चली जाती है, जिसे सुधारना दोनों में से शायद किसी के हाथ में नहीं है। कहने को तहमीना के पास बहुत कुछ है, पर उसके अन्दर एक अकेलापन समाया हुआ है।

पति जमशेद किसी भी जिम्मेदारी को उठाना नहीं चाहता। तहमीना दौरे पर जाती है तो नन्हें बेटे रिंकू को साथ ले जाना जरूरी होता है, क्योंकि उसे माँ की जिम्मेदारी निभानी है। तहमीना अच्छे ओहदे पर है, इस कारण जमशेद उससे जलता है। वही कहीं दौरे पर निकलती है तो उस पर रोक लगाता है।

इस बीच तहमीना जिले के युवा अविवाहित पुलिस अधीक्षक तुषार के प्रति आकर्षित होती है। तुषार पुलिस अधीक्षक जैसे ऊँचे और जिम्मेदार पद पर आरूढ़ है। अपने पारिवारिक दायित्व और सामाजिक दायित्व बोध के प्रति सजग है तो उसमें स्त्री मोह भी हद से ज्यादा है।

स्वार्थसिद्धि होते ही तुषार तहमीना को छोड़कर चला जाता है। तहमीना उसे तलाशती घूमती है। अन्त तक अकेलापन ही महसूस करती रह जाती है। लेखिका ने लिखा है—"पलाश की खूबसूरती चाहे कितनी भी मनमोहक हो, वह अपने आप तक ही सीमित है। पलाश हमेशा से अकेला था, अकेला है और अकेला ही रहेगा।

अपने अनुभव के सीमित दायरे से बाहर निकलकर, मुक्त रूप से खुलकर लिखने वाली कन्नड़ भाषी लेखिकाओं में एक नाम है सारा अबूबकर। ये इस्लाम धर्म की है, अपने धर्म और संस्कृति को जानने के बाद धर्म के कुछ नियमों का पालन शायद सारा जी को मान्य नहीं था, जिसमें सांस्कृतिक तथा सामाजिक रूप से स्त्री का जो शोषण किया जाता था, उसी को इनके उपन्यास अभिव्यक्त करते हैं। बिना बुरका पहने घर से बाहर कदम न रखने देने वाले समाज के उस बंधन को जब तोड़ना असम्भव था, वैसे समाज के नियमों के विरुद्ध लिखना सचमुच प्रशंसनीय है। अपने पूरे सामाजिक व्यवस्था पर ही उन्होंने प्रश्न-चिह्न लगाया है। 'तळ ओडेद दोणियल्लि', 'सहना', 'सुळियल्लि सिक्कवरु', 'चन्द्रगिरिय तीरदल्लि' आदि इनके प्रमुख उपन्यास हैं।

'चन्द्रगिरिय तीरदल्लि' उपन्यास की भूमिका में लेखिका ने स्वयं लिखा है—"धर्मग्रन्थों में जो कहा गया है उसे हर दिन के जीवन में, व्यावहारिक रूप से लाने में स्त्री को कितनी मानसिक यातना भोगनी पड़ती है—इसे बताना ही मेरा लक्ष्य है।"[6] रशीद तता नादिरा पति-पत्नी हैं। दोनों का दाम्पत्य जीवन एक आदर्श जीवन था, दोनों एक-दूसरे से बहुत प्रेम करते थे। जब नादिरा पुत्र की माँ बन जाती है तो गरीबी में भी स्वर्ग सुख उनका परिवार पाता है। पर इन दोनों के बीच नादिरा के पिता की मूर्खता या कहें क्रोध के कारण तलाक हो जाता है। परन्तु नादिरा रशीद को भूल नहीं पाती। पिता उसकी हालत देखकर घबरा जाते हैं और उन्हें अपनी गलती का एहसास हो जाता है। पर क्या करें, मुस्लिम धर्म के अनुसार इन दोनों का पुनर्विवाह तभी हो सकता है जब नादिरा किसी दूसरे से विवाह करे और वह उसे तलाक दे। नादिरा रशीद को पाने के लिए विवाह के लिए तैयार होती है। उसका विवाह अली से होता है। उस क्षण में वह क्या सोचती है


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

इसका उल्लेख करती लेखिका लिखती है—"निकाह कहना नादिरा के कान सुने रहे थे। उसे लगा उस पर एक-एक कर हथोड़े की मार गिर रही है। होठों को काटते हुए उसने अपने आँसुओं को रोक रखा था यदि समयचक्र को रोक पाते तो। बिना किसी अपराध के कठोर दण्ड मेरे पिता, पति और मौलवी जी ने क्यों दिया? किसे दोष दें? सब मेरे नसीब में लिखा था, धर्मशास्त्र का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता।"[7] अली के साथ रात गुजारना नादिरा के लिए असहनीय होता है। अली कुरूप है इसलिए नहीं बल्कि इसलिए की अली के साथ सोने के बाद रशीद के पास जाना उसे अच्छा नहीं लगता। अत: उसके पास एक ही विकल्प था, आत्महत्या। अन्त में मस्जिद के तालाब में गिरकर आत्महत्या कर लेती है। नादिरा रशीद के पुनर्विवाह में केवल धार्मिक नियम ही नहीं, कहीं नादिरा के पिता का पुरुषीय अहं, आर्थिक दबाव भी कारणीभूत होते हैं।

जहाँ अपने पहले उपन्यास में 'तलाक' की समस्या को उठाकर इस समस्या के कारण स्त्री पर होने वाले अत्याचार को दर्शाया है वहीं अपने दूसरे उपन्यास 'सहना' में इसी समस्या का विरोध करने का साहस लेखिका ने किया है। उपन्यास की नायिका नसीमा की शादी छोटी उम्र में हो जाती है जिसे न स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की जानकारी है न पारिवारिक जीवन की। पर वह क्षमाशील और सहनशील है। अनपढ़, पुरुषीय अहं से युक्त पति से उसे केवल दु:ख ही दु:ख मिला, साथ ही हर साल में एक बच्चा। अपने उम्र के बीस साल में ही वह पति, सास के अत्याचारों से थककर कैंसर की शिकार हो जाती है। रूढ़ि परम्पराओं में जकड़े पति और सास दवा-दारू करने के बजाय मौलवी से अभिमंत्रित जल लाकर पिलाते हैं। जब नसीमा जीवन और मृत्यु के बीच डोल रही होती है तो उसका पति एक और शादी कर उस औरत को घर लाता है। शारीरिक और मानसिक रूप से पीड़ित नसीमा अपने पति से मन ही मन कहती है—"तुम तीन बार तलाक न भी कहो तो चलेगा, पर मैं, मुझे हीप्यार करने वाला कोई मिलेगा तो मैं उसके साथ भाग जाऊँगी।"[8] इस प्रकार पति से तलाक लेने पर ही दूसरे के साथ विवाह करने वाली इस प्रथा को तोड़ती है। पति से उसका प्रश्न—"जैसे तुमने किया, अगर तुम बीमार होते और मैं किसी दूसरे के साथ चली जाती तो तुम्हारी क्या प्रतिक्रिया होती?"[9] चौंकाने वाला है, क्योंकि शायद ही मुस्लिम समाज में आज तक किसी औरत ने ऐसा प्रश्न किया होगा। धर्म के नाम पर होने वाले इन अत्याचारों को रोकना ही लेखिका का प्रमुख लक्ष्य रहा है। मुस्लिम समाज में, अनपढ़ लोगों से भरे गाँवों में ऐसे कितने ही, महिला हैं जिन पर किसी की दृष्टि नहीं जाती है। पर सारा अबूबकर की गयी है।

'सुळियल्लि सिक्कवरु' ('भँवर में फँसे लोग') उपन्यास में लेखिका ने गुलाम की जिन्दगी जीने वाले एक युवक की कहानी को दर्शाया है। गुलामगिरी आदमी से क्या-क्या नहीं करवाती, किस प्रकार उच्च वर्ग निम्न वर्ग का शोषण करता है, कहाँ तक करता है यह बताया गया है। मुम्मुटी जो उपन्यास का नायक है उसका जीवन इसमें चित्रित है। पहले भाग में जहाँ उसका बचपन जो गुलामगीरी में बीतता है और किस प्रकार उसकी स्थिति दयनीय हो जाती है, उसका वर्णन है तो दूसरे भाग में वह पत्नी, बच्चे, माँ को छोड़कर जो भाग गया था, तस्करी करके बड़ा आदमी बनकर लौटता है और उसी गाँव में एक अमीर व्यक्ति बनकर जीता है इसका वर्णन है। इसमें भी मुस्लिम समाज का दयनीय चित्रण देखने को मिलता है। मुम्मुटी जब गाँव एवं परिवार को छोड़कर चला जाता है तो उसके पीछे उसकी पत्नी, बच्चे एवं माँ की जिस दयनीय स्थिति का वर्णन लेखिका ने किया है, देखते बनता है। गरीबी की हालत एवं बाढ़ के कारण एक बच्चे को भी खोना पड़ता है। वहीं दूसरे भाग में अमीरी के कारण माँ,


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पत्नी, बच्चों की बिगड़ती आदतों को भी दर्शाया गया है। अपने मद और अहंकार के कारण मुम्मुटी की बेटी अपने अच्छे और प्यार करने वाले पति को तलाक देने के लिए मजबूर करती है। इसमें पाश्चात्य सभ्यता के कारण बिगड़ते परिवेश का चित्रण मिलता है।

लेखिका का एक और उपन्यास 'तळ ओडद दोणियल्लि' में गाँवों में रहने वाले कृषक, खासकर जिनके पास थोड़ी-सी जमीन है, पानी न मिलने के कारण उनके जीवन में आने वाली समस्यायें आदि का चित्रण है। आज यहाँ अकाल के कारण नदी-नालों का पानी खेतों में छोड़ना पड़ता है वहाँ राजनीति, भ्रष्टाचार के कारण गरीब किसान पर अन्याय-अत्याचार किया जाता है। आज सरकारी दफ्तरों में भी जो भ्रष्टाचार फैल गया है इसका भी चित्रण किया गया है। इस तरह लेखिका के उपन्यासों के केन्द्र में कहीं-कहीं किसी-न-किसी रूप में मुस्लिम समाज ही अभिव्यक्त हुआ है।

निष्कर्ष के रूप में हम यही कह सकते हैं कि दोनों लेखिकाओं ने मुस्लिम समाज, संस्कृति को अपने उपन्यासों का केन्द्र बनाया है। मुस्लिम समाज में जो धर्म के नाम पर, अत्याचार किया जाता है उसका विरोध किया। मुस्लिम समाज के रूढ़ियों, परम्पराओं का खण्डन किया। दोनों लेखिकाओं का मानना है नारी-नारी होती है, समाज-समाज होता है—हिन्दू या मुस्लिम नहीं। स्वयं नारी होने के कारण उनका रुझान नारी शोषण पर कुछ अधिक रहा। इस प्रकार दोनों लेखिकाओं के लेखन में स्त्री की विडम्बना का बोध मुखरित होता है। यह स्त्री मुस्लिम स्त्री है जो विरोधी वातावरण में भी अपने व्यक्तित्व के लिए संघर्ष करती है और टूट जाने पर भी समझौते नहीं करती। मुस्लिम समाज के जीवन, उनके संस्कार, उनकी व्यवस्था और सम्पूर्णता में उनके समाज को उकेरा गया है, जिसमें दोनों लेखिकाओं को सफलता मिली है।

## संदर्भ


1. मेहरुनिस्सा परवेज—उसका घर, पृ. 5।
2. वही, पृ. 82-83।
3. डॉ. सरिता कुमार—महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में प्रेम का स्वरूप विकास, पृ. 77।
4. मेहरुनिस्सा परवेज—आँखों का दहलीज, पृ. 99।
5. मेहरुनिस्सा परवेज—आँखों का दहलीज, पृ. 80।
6. सारा अबूबकर—चन्द्रगिरिय तीरदल्लि, भूमिका।
7. वही, पृ. 67।
8. सारा अबूबकर—सहना।
9. वही।


❑


हिन्दी विभाग,
कर्नाटक विश्वविद्यालय,
धारवाड-580 003



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# समकालीन हिन्दी आलोचना : प्रतिमानों की तलाश

विवेक कुमार मिश्र

समकालीन हिन्दी आलोचना समय में स्थित शाश्वत प्रश्नों केसाथ सामयिक संदर्भों को अपने भीतर जज्ब करते हुए रचना के अन्तर एवं बाह्य सत्यों को उद्घाटित करने के साथ-साथ समकालीन समाज के उन सारे प्रश्नों को हल करने की कोशिश करती है जिससे हमारा रचनात्मक जीवन और सामाजिक आन्दोलन एवं जीवन की गतिविधियाँ संचालित होती हैं। समकालीनता समय में स्थित समकालीन सवालों को उसके शाश्वत एवं सामयिक संदर्भों में देखने की एक आलोचनात्मक दृष्टि है। समकालीन हिन्दी आलोचना अपने सामाजिक संदर्भों के साथ लोकतंत्र के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक निहितार्थों को समझने का जहाँ यत्न करती है, वहीं मानवीय लोकतंत्र की कल्पना को हमारे समय में मूल्यवान संदर्भों से जोड़ते हुए लोकतन्त्र का और रचना का विस्तार करती है। रचना का सिर्फ वही अर्थ नहीं होता जो शब्द और उसके अर्थ में अन्तर्निहित होता है। समकालीन आलोचना रचना के उस अर्थ से मुखातिब होती है जो अपने समय में रचना को सम्भव बनाती है। रचना को सम्भव बनाने वाली ये सारी शक्तियाँ-रचना का समाज, रचना के प्रश्न, रचना और उससे निर्मित लोकतन्त्र, रचना और मनुष्य के सामाजिक-आर्थिक सम्बन्ध, रचना और बाजार तथा रचना और मीडिया के अन्तर्सम्बन्धों से बनते सामाजिक संदर्भ समकालीन हिन्दी आलोचना की जीवन्तता को प्रमाणित करते हैं।

समकालीन हिन्दी आलोचना अपने समय में शब्द के अर्थ संदर्भ को परिभाषित करते हुए मनुष्य के सामाजिक लोकतन्त्र को निर्मित करने की कोशिश करती है। समकालीन हिन्दी आलोचना के सामने वे सारी चुनौतियाँ मौजूद हैं जिनसे हमारा सामाजिक यथार्थ लगातार दो-चार होता रहता है। इसी समय में मनुष्य को मनुष्य पद से विरूपित कर देने वाली शक्तियाँ आज बेहद सक्रिय हैं, जैसे कि

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वर्चस्ववादी व्यवस्था, जातिवाद, धर्मवाद, भाई-भतीजावाद और घोर भौतिकवाद का चरम विलासी रूप तथा बाजारवाद दिन-प्रतिदिन मनुष्य को बौना बनाते जा रहे हैं और यह पूरा दौर इस प्रक्रिया में लहुलुहान होता जा रहा है। मानवीयता दम तोड़ रही है। ऐसे में रचना और आलोचना, दोनों के सामने एक कठिन समय है और यह दौर अपने तमाम मुश्किल हालातों के बावजूद आलोचना के लिए और रचना के लिए जहाँ कठिन समय है वहीं आलोचना की जिम्मेदारी और रचना के आलोचनात्मक आत्म-संघर्ष के लिहाज से यह पूरा दौर एक नई आलोचनात्मक सत्ता की माँग करता है। मुश्किल हालात रचनात्मक लिहाज से हमेशा अच्छे होते हैं। कठिन दौर रचना के विकल्प और मनुष्य की प्रतिष्ठा को सामने लाते हैं। यह जितना इतिहास प्रमाणित सत्य है उतना ही सामयिक संदर्भों का भी एक शाश्वत सत्य है। असम्भव स्थितियाँ-मनुष्यता, रचनात्मक विकल्प और आलोचनात्मक समय को खत्म नहीं करती इसका प्रमाण मनुष्यता के रचनात्मक विकल्प की यात्रा में भक्तिकाल और भक्ति कविता, आधुनिक कविता और स्वतंत्रता आन्दोलन तथा आजादी के बाद रचनात्मक खोज में कविता और समय की उपस्थिति मनुष्य की बेहतर अवस्था को जहाँ प्रमाणित करते हैं वहीं मनुष्य की रचनात्मकता और लोकतांत्रिक सत्ता को भी परिपुष्ट करते हैं। समकालीन हिन्दी आलोचना समय के सारे सवालों से जूझते हुए एक रचनात्मक स्पेस और मनुष्य की आलोचनात्मक सत्ता को निर्मित करती है जिससे लोकतन्त्र अपने को पूरी तरह परिभाषित करने की परिकल्पना से जुड़ता है। समकालीन हिन्दी आलोचना मनुष्य की सृजनात्मक सम्भावनाओं की खोज की प्रक्रिया में लोकतन्त्र को जहाँ बड़ा बनाती है वहीं रचना को भी अर्थवान बनाने की जद्दोजहद से जुड़ी होती है। इस क्रम में वह रचना के शास्त्र को जहाँ समझने गुनने का दावा करती है उससे कहीं ज्यादा रचना को सामाजिक सच को सामने लाते हुए लोकतन्त्र में मनुष्य की उपस्थिति को जहाँ सम्भव बनाती है वहीं आम आदमी को उसके अधिकारों से जोड़ते हुए मानवीय गरिमा और सत्ता का स्वाद चखाते हुए मनुष्य को हाड़-माँस के जीवित मनुष्य के रूप में एक रचनात्मक मनुष्य का दर्जा दिलाती है। यह रचनात्मक मनुष्य अपनी दुनिया, अपना समय और अपना समाज खुद निर्मित करता है। समकालीन हिन्दी आलोचना अपने समय में मौजूद सारे सवालों से जूझते हुए मनुष्य की रचनात्मक बेचैनियों को न केवल आवाज देती है वरन् लोकतन्त्र से सामाजिक बुद्धिजीवी, यथा—नामवर सिंह, अरुंधती रॉय, अमर्त्य सेन, अरुणा राय, वंदना शिवा, मेधा पाटकर आदि के रचनात्मक व आलोचनात्मक आत्म-संघर्ष में देखा जा सकता है। पूरे देश की सामाजिक अन्तः संरचना को समझने का दायित्व समकालीन समाज में सामयिक संदर्भों को सामाजिक और शास्वत प्रश्नों के साथ जोड़कर सामाजिक लोकतन्त्र की रचना ही समकालीन हिन्दी आलोचना की पहचान है। समकालीनता की वास्तविक पहचान को समझाते हुए मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि—"आलोचना की इस समकालीनता के अनुसार केवल नया ही समकालीन नहीं होता। जो सार्थक है वही समकालीन है। वह नया हो या पुराना।"[1] समकालीन होना मूलतः सार्थक होना है जो अपने समय में सार्थक है वही समकालीन और शाश्वत भी होता है। समकालीन हिन्दी आलोचना समय के सार्थक प्रश्नों के द्वारा रचना से अन्तर्संवाद करते हुए जीवन की न केवल व्याख्या करती है वरन् जीवन की सामाजिक अर्थवत्ता को अपनी आलोचनात्मक दृष्टि से निर्मित करती है और मनुष्य के सामाजिक सवालों को समय और सत्ता के अन्तर्सम्बन्धों से जोड़ते हुए मनुष्य के सामाजिक आन्दोलनों को जहाँ गति प्रदान करती है वहीं मनुष्य के अधिकारों की लड़ाई लड़ते हुए समय और सत्ता


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के अन्तर्सम्बन्धों से लोकतन्त्र में मनुष्य के उस लोक को निर्मित करती है जिसमें वह स्वयं अपना भाग्यनियंता बनता है। साथ ही लोकतंत्र सामाजिक संवेदना और सत्ता के सामाजीकरण की प्रक्रिया लोकतन्त्र के अन्तिम मनुष्य से जुड़कर न केवल मनुष्य की महिमा का बखान करती है वरन् समकालीन हिन्दी आलोचना की सामाजिक सार्थकता की और हिन्दी समाज के भविष्य के साथ भारतीय जन-मन के भविष्य को जोड़ते हुए लोकतंत्र की बड़ी परिभाषा बनाती है जिसमें हाशिये के सारे लोग को न केवल जगह मिलती है इससे उन्हें उनका पूरा अधिकार और इस युग में सामाजिक संरचना में उनकी उपस्थिति और उनके मूल्य को निर्मित करते हुए रचना की आलोचनात्मक अर्थवत्ता एवं सामाजिक अर्थवत्ता तय होती है जिसमें मानवीय विकल्प अपनी पूरी सम्भावनाओं के साथ मौजूद होता है।

समकालीन हिन्दी आलोचना न केवल रचनात्मक समय निर्मित करती है इससे आगे वह सामयिक संदर्भों को शाश्वत से जोड़ती है तथा शाश्वत प्रश्नों को समकालीन चुनौतियों के सोथ रखकर हमारे समय को परिभाषित करने की कोशिश करती है। समकालीन हिन्दी आलोचना केवल समर्थ और शक्तिशाली लोगों के वर्चस्व की आलोचना नहीं है और इसका मकसद भी यह नहीं है कि समर्थों की हाँ में हाँ मिलाया जाये। यह आम आदमी की जिन्दगी में वास्तविक खुशहाली लाने का और आम आदमी के स्वप्नों को सामाजिक दौरऔर सार्थक दिशा देने का बड़ा मंच है। यह आलोचना का लोकतन्त्र तो है ही समाज के लोकतांत्रिक होने की प्रक्रिया का भी एक मुकम्मल दस्तावेज है। समकालीन हिन्दी आलोचना मनुष्य की रचनात्मक यात्रा की सामाजिक अर्थवत्ता का जहाँ पर्याय है वहीं वह उसकी मानवीय गरिमा व लोकतांत्रिक सत्ता को सामाजिकता के रूप में पहचानने की शक्ति प्रदान करती है। उसकी इस सामर्थ्य को राजेश जोशी यों प्रस्तुत करते हैं—''सामाजिक परिवर्तन की किसी भी कार्यवाही में हरावल दस्ता इस देश का किसान वर्ग ही बन सकता है और इस परिवर्तन का उत्स ग्रामीण अंचलों से ही सम्भव है, इसलिए विद्रोह की समकालीन कविता की सही जमीन या शुरुआत भी वहीं हो सकती है।''[2] कविता की जमीन पर ही आलोचना की जमीन और बुनियाद टिकी होती है। समकालीन हिन्दी आलोचना अपना मानवीय और इस मानवीयता को अर्जित करने के लिए जो विद्रोही शक्ल अख्तियार करती है वह मूलत: खुरदरी जमीन की सच्चाइयों से रू-ब-रू होते लोगों का विद्रोह है। समकालीन हिन्दी आलोचना अपनी जमीन इन्हीं आम आदमियों के हरावल दस्ते से प्राप्त करती है। इनमें किसान, मजदूर, आम आदमी, दलित, आदिवासी और स्त्री, सभी के लोकतान्त्रिक प्रश्नों को सुनने, समझने की चेतना होती है। उसका सच सिर्फ रचना के गूढ़तम प्रश्नों का सच नहीं होता और न ही सौन्दर्य के बेहद उलझे हुए प्रश्नों को वह सुनना-समझना चाहती बल्कि समकालीन हिन्दी आलोचना का सामर्थ्य इस बात में है कि वह मनुष्य की सामाजिक शक्ति और उसकी मानवीय गरिमा को रचना और आलोचना, दोनों में सम्भव बनाने की जद्दोजहद करती है। समकालीन हिन्दी आलोचना आम आदमी के संघर्ष को एक तरफ आवाज देती है वहीं आम आदमी के अधिकारों की लड़ाई को समझने का सूत्र भी प्रदान करती है। समकालीनता अपने समय के सवालों से जूझने की स्थिति का नाम है। जहाँ तक समकालीन हिन्दी आलोचना की बात है वह अपने समय को समझने के साथ-साथ समय में मनुष्य की उन सारी स्थितियों को देखने की कोशिश करती है जिससे आलोचना की, रचनात्मकता की, मानवीय स्वतंत्रता की और मानवीय गरिमा के साथ लोकतन्त्र में मनुष्य की स्थिति को सत्ता के सच से आगे लोकतन्त्र के सामाजिक सच के रूप में प्रतिष्ठापित करने की कोशिश है। उसकी इस स्थिति को

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

राजेश जोशी यों प्रस्तुत करते हैं—''वह उन हाथों का गीत गाना चाहती है जो अनाज की गन्ध और खनिजों की धूल से भरे हैं।''[3] यह स्थिति मनुष्य को उसकी वास्तविक दुनिया से जोड़ने पर प्राप्त होती है। यह केवल आलोचना का या रचना का ही सच नहीं है, बल्कि लोकतन्त्र, सामाजिक आकांक्षा का भी सच है। मौजूदा स्थितियों और यथास्थितिवाद से रचनात्मक स्तर पर संघर्ष कर रचना अपनी दुनिया तो बनाती ही है, वह हमारी वास्तविक दुनिया को भी रचती है। समकालीन हिन्दी आलोचना हमारे रचनात्मक समय को जहाँ समझने का यत्न करती है, वहीं वह 1990 के बाद से भारतीय समाज के बनते-बिगड़ते सत्ता संघर्ष और इस संघर्ष में आम आदमी के लहूलुहान होते चेहरे को पढ़ते हुए भौतिक विकास की गति में सामाजिक विकास की गति को जाँचने का प्रयास करती है। वह मनुष्य के समस्त रचनात्मक सूत्रों को रचना की भीतरी और बाहरी दुनियाओं से समझते हुए रचना का एक नया सामाजिक व्याकरण लिखती है। समकालीन हिन्दी आलोचना मनुष्य की उस दुनिया का निर्माण करना चाहती है जिसमें मनुष्य अपनी जैसी भी स्थिति है उसके साथ वह सहज आत्मविश्वास के साथ खड़ी है और उसके साथ मनुष्य की पूरी प्रकृति, प्रौद्योगिकी, भौतिक विकास के साथ जुड़ी चकाचौंध की संस्कृति में आम आदमी के यथार्थ से टकराना और उसके रचनात्मक स्वप्न को रचना की दुनिया से बाहर निकालकर सामाजिक दुनिया का सच बनाना ही रचना और आलोचना की वास्तविक शक्ति का नाम है। इस पूरे दौर में मनुष्य ने जहाँ अबाध भौतिक प्रगति की है वहीं मनुष्यता, मानवीय गरिमा, नैतिक भावबोध, सामाजिकता और सामासिक संस्कृति के सहज सम्बन्ध दिनोंदिन क्षारित हुए हैं। यह अवस्था जहाँ मानवीयता के लिहाज से खतरनाक है वहीं रचना और आलोचना की एक बड़ी जिम्मेदारी बन जाती है कि वह अपने समय के रचनात्मक मानुस-तन्त्र को इस तरह से संयोजित करे कि रचना और आलोचना की आधारभूमि सामाजिक मनुष्य का, सामाजिक बुद्धिजीवी का निर्माण करे। यहाँ आलोचना रचनाशास्त्र के समानान्तर समाजशास्त्र और मानुस-तन्त्र की सच्ची लोकतान्त्रिकता को स्थापित करती है। इस अवस्था में मनुष्य के साथ उसकी प्रौद्योगिकी उसका कितना साथ निभाती है? यह प्रश्न भी विचारणीय है। जिसकी ओर संकेत यों—''प्रौद्योगिकी अपने सांस्कृतिक परिवेश के प्रति इतनी ही निरपेक्ष होती है।''[4] का विचार जन्म लेता है। आज विचार इतिहास और संस्कृति के साथ-साथ रचना के अन्त जैसे विषय पर बार-बार उठाये जा रहे हैं। ये सारी स्थितियाँ न केवल रचना के लिए खतरनाक है वरन् आलोचनात्मक समाज के निर्माण में भी इनका योग नकारात्मक ही होता है। अतः रचना और आलोचना के साझे से जिस समय का निर्माण होता है वह अपनी समकालीनता में मनुष्य के शाश्वत प्रश्नों को हल करने की ईमानदार कोशिश करता है। समकालीन हिन्दी आलोचना मुकम्मल तौर पर रचना और मनुष्य की अस्मिता का दस्तावेजीकरण करने के साथ-साथ मनुष्य को उसकी जिन्दगी की सच्चाइयों से परिचित कराती है। वह किसी काल्पनिक सच की बात नहीं करती और न ही सौन्दर्यबोधी मूल्यों की खोज में अपने को उलझाती है। वह आम आदमी के संघर्ष को एक नैतिक ताकत और लोकतान्त्रिक सत्ता प्रदान करती है। इसके लिए उसे कदम-कदम पर रचनात्मक और सामाजिक आन्दोलनों की गति से समाज में अपने लिए एक बड़ा स्पेस तैयार करना होता है। साथ ही वह अपने समय के उन तमाम बेजुबान, गुम हो चुकी आवाजों को शब्द और स्वर प्रदान करती है जिससे रचना यात्रा और मानवीय संस्कृति के इतिहास में एक नया इतिहास और मानव भविष्य को रचा जा सके।


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

समकालीन हिन्दी आलोचना इस पूरे दौर की रचनात्मक यात्रा को रचना और समाज के परस्पर सम्बन्धों को जाँचने के क्रम में अपनी आलोचना यात्रा को तय किया है। यहाँ मनुष्य के सामने उपस्थित सारे प्रलोभन जहाँ एक तरफ रचना की धार को कुँद करते हैं वहीं मनुष्य की अस्मिता को समझने-जाँचने के सारे सूत्रों को प्रगति और विकास के मायावी चकाचौंध में लपेटकर स्थितियों को पूरी तरह से गुड्ड-मुड्ड कर देते हैं। *सृजन यहाँ सृजन की जगह कुछ और ही हो जाता है। वह मनुष्य की सत्ता को प्रतिष्ठित करने की जगह सत्ता की सत्ता को प्रतिष्ठित करने में अपनी जान की बाजी लगा देता है।* इस पूरी प्रक्रिया में समाज मनुष्य की जगह एक आभासी समय और आभासी मनुष्य से अपना साक्षात्कार कर रहा होता है। यह पूरी अवस्था रचनात्मकता के लिए बेहद खतरनाक है, पर इसी कठिन दौर से रचना को बाहर निकलकर मनुष्य की वास्तविक दुनिया को समझने का जहाँ प्रयास करना पड़ता है, वहीं रचना एक नयी भाव-भूमि पर रचना और आलोचना का एक नया व्याकरण रचती है जिसमें आलोचनात्मक मनुष्य के वजूद की कहानियाँ और किस्से चलते रहते हैं। आलोचना यहाँ मनुष्य की नैतिक आवाज बनकर समाज के प्रहरी के रूप में अपना नाम दर्ज कराती है। इस दौर के सामने जो कुहासा है जो अनिर्णय की स्थिति है और एक विचित्र दौर में लोगों की जो भागमभाग की स्थिति है वह मनुष्य की गरिमा को पूरी तरह खत्म करके एक बाजार का बाजारू आदमी बना डालना चाहती है। समकालीन हिन्दी आलोचना इन्हीं विद्रूपताओं के खिलफ मनुष्य की नैतिक आवाज है। इस आवास को इस दौर की रचनात्मक यात्रा और आलोचनात्मक सत्ता में देखा जा सकता है। यह दौर मनुष्य की इसी प्रतिष्ठा के क्रम में समय के तमाम सवालों से जूझते हुए विमर्शकर मनुष्य की सामाजिक सत्ता को स्थापित करता है। इस अवस्था को कवि आलोचक राजेश जोशी यों प्रस्तुत करते हैं—''शीत युद्ध की समाप्ति, विश्व समाज का मोनोपोलर होना, अमरीकी साम्राज्यवाद का अत्यधिक शक्तिशाली होते जाना, प्रौद्योगिकी, उदार अर्थनीति और मुक्त बाजार। भूमण्डलीकरण और नयी सैद्धान्तिकी से कुछ ऐसे मुद्दे हो सकते हैं जिनके आधार पर वर्तमान कविता में समकालीनता की हदें तय की जा सकती हैं।''[5]

समकालीन हिन्दी आलोचना कविता की सिर्फ सैद्धान्तिक व्याख्या भर नहीं है, बल्कि वह वास्तविक समाज की जन-आकांक्षाओं को रचना और समाज का सच बनाने का नैतिक संघर्ष करती है। समकालीन आलोचना के माध्यम से पूरी जिन्दगी को समझने का सूत्र रचनाओं के माध्यम से प्राप्त कर समय में मनुष्य के लिए बड़ा स्पेस बनाती है। मुक्तिोध अपने विचारक्रम में लिखते हैं कि—''आलोचक या समीक्षक का कार्य वस्तुतः कलाकार या लेखक से भी अधिक तनावपूर्ण और सृनशील होता है। उसे एक साथ जीवन के वास्तविक अनुभवों के समुद्र में डूबना पड़ता है और उससे उबरना भी पड़ता है। जिससे लहरों का पान उनकी आँखों में न घुस पड़े।''[6] आलोचक का सीधा सम्बन्ध हमारी जिन्दगी की वास्तविक सच्चाइयों से होता है और यह वास्तविक सच्चाई रचनातन्त्र के भीतर छिपी होती है। रचना के इस लोक को उद्‌घाटित करना ही एक तरह से कवि और आलोचना का सच होता है। आलोचना सीधे-सीधे अपने समय, समाज और सत्ता तन्त्र से मुखातिब होकर जिन्दगी का निर्माण करती है। समाज में रचनाएँ वास्तविक जिन्दगी से नहीं आ रही है तो क्यों नहीं आ रही है, रचना कितना वास्तविक समाज को प्रकट करती है और कितना आभासी समाज को रचना के प्रश्न कितने अपने समाज के प्रश्न बनते हैं या नहीं बनते हैं तो क्यों नहीं? रचना और समाज के सामने खड़ी मुश्किलों का कितना सामना रचना करती है? रचना कितना समाज

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

को आगे बढ़ाने का प्रयास करती है? समाज के स्वप्न रचना में है या नहीं है? इन तमाम प्रश्नों से आलोचना उलझती है और अपने समय का सामाजिक अर्थ प्राप्त करती है।[10] समकालीन हिन्दी आलोचना अपने समय के सार्थक सवालों के साथ रचना की मनोभूमि और वस्तविक दुनिया से अपने को सीधे तौर पर जोड़ते हुए जहाँ रचना का विकल्प रचती है वहीं सामाजिक सच का विकल्प रचती है और रचना के लोकतन्त्र को भी स्थापित करती है। समकालीन हिन्दी आलोचना में समकालीनता का पद संस्कृति के विकास क्रम और व्याख्या की मनोभूमि में एक बड़े भाव अर्थ को व्यक्त करता है। इसके इसी अर्थ को संकेतित करते हुए प्रो. सत्यप्रकाश मिश्र लिखते हैं—''समकालीनता का एक गहरा अर्थ अपने समय का निष्पक्ष, ईमानदार और न्यायिक विश्लेषण सिद्ध होता है।''[7] समकालीनता अपने इसी संवेदन तन्त्र से जहाँ मानुसतंत्र को समझने का दावा करती है वहीं आलोचना की वास्तविक मनोभूमि के साथ न्याय और संवेदनपूर्ण समाज की स्थापना में अपने को रखती है। यहाँ समकालीन हिन्दी आलोचना मूलतः सामाजिक विमर्श की आलोचना बनती है। यहाँ रचना के पाठ से ज्यादा रचना के सच को सामाजिक सच के रूप में परिवर्तित करने की परिकल्पना तेजी से उभर रही है और यह परिकल्पना मनुष्य के इतिहास में अपनी पहचान के लिए जरूरी सारे सवाल उठाती है। इस सत्य को प्रो. सत्यप्रकाश मिश्र यों प्रस्तुत करते हैं—''समकालीनता प्रश्नवाचकता और प्रतिरोध से ही नहीं परिभाषित होती है मनुष्य की अग्रसारता और भौतिक तथा आत्मिक सुख प्राप्ति के अवरोधमुक्त समान अवसरों, निर्भय उपलब्धि के पक्ष की अनुकूलता और संघर्ष से भी परिभाषित होती है। सामाजिक, राजनैतिक प्रश्नों के प्रति चौकन्नापन इसी मानवीय प्रत्यभिज्ञा और लोकोन्मुखता से निर्धारित होता है।''[8] समकालीन हिन्दी आलोचना अपने इसी चौकन्नेपन से पूरे समाज के स्वप्न संघर्षों को सामने लाती है और मनुष्यं के भविष्य को सही दिशा में क्रियान्वित करने की बेचैनी से संचालित होती है। आगे इस अवस्था को वे रचना और आलोचना के तर्क से सम्भव बनाते हुए लिखते हैं—''समकालीनता सित्ता के विरोध से सम्भव है और रचना के तर्क से भी।''[9] समकालीनता के इसी रूप के कारण वह अपने को ज्यादा सामाजिक और संवेदनशील ही नहीं बनाती, बल्कि मानवीय अस्मिता को समझने के सारे सूत्र अपने आसपास इकट्ठा करती चलती है। समकालीन हिन्दी आलोचना एक साथ समय, सत्ता और संस्कृति की व्याख्या से सामाजिकता का एक ऐसा ताना-बाना बुनती है जिसमें मनुष्य की सारी पहचानें न केवल शामिल हैं, बल्कि उनकी विशिष्टता भी छिपी हुई है। अपने समय में सत्ता के साथ सार्थक हस्तक्षेप करते हुए समकालीन हिन्दी आलोचना समय की सारी जरूरतों को सामने लाती है। वह मनुष्य के ऐतिहासिक विकासक्रम को परिभाषित करते हुए हाशिये पर रह गये समाजों की पहचान करती है उनकी लड़ाई को अपने रचनात्मक तर्कों से हाँसिल करती है और मनुष्य की एक ऐसी दुनिया रचना चाहती है जहाँ चारों तरफ आम आदमी की आवाज सुनी जाती हो। श्रम की सत्ता को प्रतिष्ठा मिलती हो और मानवीय गरिमा का पूरा खयाल हो। लोकतन्त्र को वास्तव में आम आदमी के तन्त्र के रूप में विकसित करने की पहल हो। इन सबके साथ समकालीन आलोचना अपने समय की सत्ता को जहाँ समझती है वहीं लगातार मनुष्यों की दुनिया का निर्माण करते हुए एक विकल्प का राज्य भी निर्मित करना जानती है। यह आलोचना और रचना दोनों के लिए एक स्वस्थ समाज की परिकल्पना से जुड़े होने की संस्कृति का भी प्रतीक है। किसी भी समाज में न तो रचना की पहल और प्रकृति खत्म होती है और न ही आलोना की प्रकृति। समकालीन हिन्दी आलोचना अपने समाज की सचेतन



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अवस्था को उसके पूरे परिप्रेक्ष्य में लाने की बड़ी कोशिश है। यहाँ रचनाशीलता.अपना राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संदर्भ एक साथ रखते हुए सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या को रचना के भीतर से तलाशती है। समय की पूरी पहचान करते हुए मनुष्य के आर्थिक और सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भों में उसकी पूरी खोज केवल रचनाशीलता का ही प्रश्न नहीं होता, बल्कि आलोचना का भी प्रश्न होता है। समकालीन हिन्दी आलोचना अपने सामाजिक आशयों को सामने लाते हुए मनुष्य और लोकतन्त्र का परिविस्तार एक साथ करती है। यह आलोचना की शास्त्रीयता से आतंकित नहीं होती, बल्कि मनुष्य के पूरे संवेदन को सहजता के साथ रचना की सामाजिक-आर्थिक संरचना से जुड़ते हुए युग संदर्भों की व्याख्या करती है। उसकी इस स्थिति को नामवर सिंह इस प्रकार रखते हैं—''आलोचना शास्त्रीय भाषा में न होकर आम भाषा में होनी चाहिए, जो आलोचक रचना की गूँज को सुन सके और हम लोगों की गलतियों से सबक ले सके, उसी की आलोचना भविष्य की आलोचना है।''[10] समकालीनता मूलत: अपने समय और भविष्य की संरचना को समझने का सूत्र और संकेत प्रदान करती है। जितना यह अपने भविष्य के संकेत को समझने का सूत्र और संकेत प्रदान करती है जितना यह अपने सामयिक संदर्भों को समझती है उससे भी कहीं ज्यादा यह अपने भविष्य के संकेत को मनुष्य के इतिहास से जोड़ती है, इसीलिए बार-बार समकालीनता की व्याख्या मनुष्य के शाश्वत संदर्भों और संकेतों में भी की जाती है। जो समकालीन होता है वही अपने इतिहास में, अपनी परम्परा में, अपनी सांस्कृतिक अनुगूँजों में रुचि लेता है, साथ ही अपने भविष्य का निर्माता भी होता है। जब-जब समकालीन आलोचना की बात की जाती है तब यह बात अपने समय-समाज में मनुष्य के सार्थक हस्तक्षेप की बात होती है। इस भूमि पर समकालीन आलोचना रचना के पाठ से समाज की उन सारी दीवारों को स्पर्श करती है जिनसे एक समाज निर्मित होता है, जहाँ मनुष्य अपनी स्वतंत्र सत्ता के साथ अपनी सामाजिकता और लोकतांत्रिकता का विस्तार करता है। यहाँ आम आदमी के संवेदन को पूरी तरह समझने की कोशिश की जाती है। रचना और आलोचना दोनों का अन्तर्सम्बन्ध मनुष्य और समाज से जुड़ा होता है। इस अवस्था को विश्वनाथ त्रिपाठी यूँ प्रस्तुत करते हैं—''साहित्य और आलोचना आम आदमी की जिन्दगी में भी बरती जाने वाली जरूरी चीजें हैं। एक गरीब आदमी कपड़े और भोजन वगैरह की तरह अपने जीवन में साहित्य को भी बरतता है। ये प्रभु वर्ग की चीजें जरूर हैं पर वे प्राणी मात्र द्वारा बरती जाने वाली भी हैं।''[11] समकालीन आलोचना मनुष्य की जिन्दगी को यथार्थ संदर्भों से जोड़कर जीवन की विकास प्रक्रिया को सामने लाती है। रचना में जो जीवन उपस्थित होता है उसकी व्याख्या करते हुए आलोचना रचना के मार्फत मनुष्य के इतिहास, संस्कृति, राजनीति और सामाजिक-आर्थिक संदर्भों से जुड़ते हुए जीवन की गहराइयों में उतरती है। समकालीन आलोचना समय को रचना के साथ कीलित करते हुए जीवन की सम्पूर्ण यात्रा करती है। यहाँ रचना भी अपने शब्द अर्थ से आगे अपने इतिहास, अपने वर्तमान और भविष्य को प्रस्तुत करते हुए जीवन का एक ऐसा अभिलेख उत्कीर्ण कर जाती है जिस पर आने वाली शताब्दियाँ अपना मानव इतिहास पढ़ती रहेंगी। यह इबारत इतिहास के महिमाशाली वर्गों द्वारा नहीं लिखी जा रही है, बल्कि समूचे मानव संवेदन के द्वारा आम आदमी के ऐतिहासिक सूत्र यहाँ खोजे जा रहे हैं। मनुष्य यहाँ रचना और आलोचना दोनों के केन्द्र में है। इन सबके साथ हमारा जीवन जुड़ा है और समय भी। इस अवस्था को विश्वनाथ त्रिपाठी जी यूँ रखते हैं—''आलोचना हो या कविता, वे हमारे जीवन से जुड़े हैं और चाहे भूमण्डलीकरण



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हो, वैशीकरण हो या उत्तर-आधुनिकता, देश-विदेश में जितने भी सिद्धान्त बनाये जा रहे हैं, उनकी सार्थकता का अनुभव हम अपनी जमीन पर ही कर सकते हैं।''[12] आलोचना हमेशा रचना को अपनी जमीन से जोड़ने की बात करती है। रचना का सुख-दु:ख इसी जीवन और इसी दुनिया का होता है फिर उसके लिए हमें सिद्धान्त गढ़ने के लिए कहीं बाहर जाने की जरूरत कहाँ है? ईमानदार संवेदन के साथ जब रचना से साक्षात्कार किया जाता है, तब रचना खुलकर अपने समय और समाज से बात करती है। आलोचना रचना और समाज के भीतर से ही जन्मती है, इसलिए रचना और आलोचना में सिद्धान्त की खोज किसी वायवीय दुनिया के सहारे नहीं करनी चाहिए और न ही कल्पना की उड़ान से सिद्धान्त रचे जाते हैं। हर सिद्धान्त की कोई न कोई अवस्था अपने समय की ठोस धरती से जुड़ी होती है। आसमान से सिद्धान्त नहीं आते और न ही रचना और आलोचना। जहाँ तक समकालीनता का सवाल है, तो यह आम आदमी के संवेदन से ठोस रूप से जुड़ी हुई है। अपने समय के सुख-दु:ख के साथ आम आदमी का जीना-मरना रचना प्रक्रिया और आलोचना प्रक्रिया के सामने साक्षात् रूप में देखे जाते रहे हैं। यहाँ आदमी और उसके लोकतन्त्र की बात केवल सैद्धान्तिक वार्ता नहीं है। यह मनुष्य के ऐतिहासिक विकासक्रम की अवस्था का एक सच है, जिसमें वह अपने समानधर्माओं के साथ अपना परिविस्तार करता है और लोकतन्त्र की सत्ता को मानवीयता से जोड़कर सीधे-सीधे जिन्दगी की सच्चाइयों से जोड़ते हुए रचना और आलोचना की वास्तविक भूमिका का बखान करता है। इस मुद्दे पर दिनेश कुमार लिखते हैं—''आलोचना के तीन काम हैं—एक समकालीन रचनाशीलता को रेखांकित करना, दो परम्परा का मूल्यांकन करना और तीन रचना से स्वतंत्र होकर भी देश, समाज, राजनीति आदि के बारे में राय व्यक्त करना।''[13] आलोचना मूलत: अपना दायित्व रचना के संदर्भ में रचना के समाज को समझते हुए रचना का अर्थापन करती रही है। रचना के अर्थापन से आगे रचना के होने को लेकर सारे सवालों, सारे संकेतों को लेकर चलने की प्रकृति ही समकालीन आलोचना को अपने समाज की जड़ों से जोड़ती है। समाज के एक-एक अवयव की पहचान समकालीनता के संदर्भ में समकालीन आलोचना द्वारा किया जाता है, वहीं पूरे देश पर देश की एक-एक पहचान पर और इस देश के सभी मनुष्यों की वास्तविक मीमांसा की जिम्मेदारी और आम आदमी के स्वप्नों को पूरा करने की तैयारी समकालीन हिन्दी आलोचना अपनी जनतांत्रिकता में सामाजिक संवेदन के साथ पूरा करती है। आलोचना के सामने आज बार-बार संकट की बात की जाती है। यह संकट मूलत: उन्हीं अंशों में है जहाँ रचना और समाज को समझने की बेचैनी नहीं होती। वैसे भी देखा जाए तो रचना और आलोचना आत्मसुख का साधन नहीं है, बल्कि यह आम आदमी के आत्म को समझने का एक माध्यम है और जहाँ रचनात्मक सत्ता इस सच को समझ जाती है वहाँ रचना भी वास्तव में अपने समाज की एक सार्थक आलोचना बन जाती है। इसी भूमि पर आलोचना आत्मसुख की जगह सामाजिक सच और साहस की लड़ाई है। इस सच के साथ आम आदमी का केवल संवेदन नहीं जुड़ा है बल्कि उसके भविष्य और अधिकारों की बात भी जुड़ी है। आलोचना रचना की सामाजिकता को तय करती है। जीवन के वास्तविक तथ्य ही रचना में उद्घाटित होकर जहाँ जीवन को प्रकाशित करते हैं, वहीं आलोचना यथार्थ के इतिहास और समाजशास्त्र को अपने विश्लेषण में उद्घाटित करती है। आलोचना न तो काल निरपेक्ष होती है और न ही मनुष्य निरपेक्ष। आलोचना में स्वायत्तता जैसी कोई चीज नहीं होती, आलोचना अपने समाज और साहित्य की यथार्थ दृष्टि से मनुष्य के सामाजिक स्वरूप को निर्मित



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

करने का शास्त्र है। यह निरन्तर मनुष्य की सामाजिक सत्ता और लोकतान्त्रिक स्वरूप की बहस का पर्याय है। मुक्तिबोध जैसे आलोचक सही लिखते हैं—''साहित्य के प्रश्न मूलत: जीवन के प्रश्न हैं। मनुष्य के अन्त:करण में अभिव्यक्ति की आकुलता होती है।''[14] इसी अभिव्यक्ति को सही दिशा देना आलोचना का काम है। आलोचना मनुष्य के जीवन यथार्थ से सीधे जुड़कर न केवल रचना का भविष्य तय करती है, बल्कि मनुष्य का भविष्य और समाज का इतिहास भी निर्मित करती है। युग का मनोवैज्ञानिक संदर्भ, मनुष्य के स्वप्न और यथार्थ को एक भावभूमि पर रचना के मार्फत आलोचना जिन्दगी के सच से मानव समाजों को बार-बार सामना कराती है और मानवीय इतिहास को मनुष्य का ऐतिहासिक नियति से जोड़ते हुए रचना के भविष्य की ओर ले जाती है। इस स्थिति को प्रस्तुत करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं—''मनुष्य का ज्ञान कितना काल सापेक्ष और स्थिति सापेक्ष है यह चिंतन के इतिहास से जाना जा सकता है।''[15] समकालीन आलोचना मूलत: मनुष्य के यथार्थ जीवन की समग्र आलोचना है जिसमें उसका इतिहास, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और उसकी राजनीतिक आकांक्षा तथा सामाजिक-आर्थिक प्रश्नों के साथ युग संदर्भों के बीच मनुष्य की चेतना को ऐतिहासिक संदर्भों में खंगालते हुए उसके सामयिक संदर्भ को इतिहास के सत्य से जोड़ते हुए मनुष्य के जीवन की उन तमाम अनुभूतियों का विश्लेषण है जिससे एक सामान्य मनुष्य अपनी सामान्यता में भी न केवल विशिष्टता को अर्जित करता है बल्कि अपनी सहजता और सामान्यता में ही इतिहास का और समय का निर्माण करता है। पूरा जीवन यहाँ अपने समस्त उपादानों के साथ उद्घाटित होता है और यह उद्घाटन वस्तु सत्य के साथ मनुष्य के सौन्दर्य और स्वप्न के मेल से सम्भव होता है। मुक्तिबोध लिखते हैं—''सौन्दर्यानुभूति वास्तविक जीवन की मनुष्यता है।''[16] मनुष्य अपने जीवन में आए तमाम दु:खों का सामना अपनी सौन्दर्य चेतना और वास्तविक जीवनानुभूति से ही करता है। यह अवस्था उसे रचनात्मक जीवन तो प्रदान करती ही है, इससे आगे उसे एक आलोचक और दार्शनिक का दर्जा भी प्रदान करती है, जिससे वह पूरी तटस्थता के साथ अपने समय का और स्वयं अपना भी निर्मम विश्लेषण करता है। आलोचक केवल रचना के सौन्दर्य का या जीवन के सौन्दर्य का उद्घाटन नहीं करता; उसके सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह होता है कि रचना और जीवन क्यों है? इनके होने का अर्थ क्या है? इनके होने से इतिहास की दिशा किधर जाती है? मानव प्रगति का लक्ष्य क्या हो सकता है? रचना कितना अपने समय में है और कितना समय के बाहर? क्या रचना समय को खींचकर पीछे ले जा रही है? रचना में मनुष्य की प्रगति के चिह्न केवल आभासी तो नहीं हैं? रचना केवल जमीन का विज्ञापन तो नहीं करती? ये ढेर सारे प्रश्न एक संवेदनशील मनुष्य, रचनाकार और आलोचक के सामने होते हैं। इन सारे प्रश्नों से गुजर कर ही वह वास्तव में रचना के माध्यम से जीवन की आलोचना करता है। जीवन का सही विवेक और इतिहास निर्मित करता है। इस स्थिति को मुक्तिबोध के यहाँ—''आत्मपरक ईमानदारी तथा वस्तुपरक सत्यपरायणता इन दोनों का अन्त:करण में जो संवेदनात्मक योग होता है, वह जीवन विवेक का प्राण है। जीवन विवेक के इन दोनों पक्षों में से किसी एक को भी नहीं छोड़ा जा सकता है।''[17] समकालीन आलोचना मनुष्य के इसी जीवन विवेक से निर्मित होती है। वह जितना अपने समय के वस्तुगत यथार्थ को सामने रखती है उसका एक-एक विश्लेषण करती है उतना ही वह आत्मगत मनोभावों का अध्ययन भी करती है। आज चिंतन का केन्द्र किसी एक दिशा से या किसी एक भाव सत्य से निर्मित नहीं होता है, बल्कि पूरे युग संदर्भों से मानव विकास के प्रश्न जुड़े



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

होते हैं। समकालीन समय की सत्ता, अपने चतुर्दिक इतिहास, समाज और समय की सामाजिक-आर्थिक संरचना में मनुष्य के मनोविज्ञान को जहाँ समझने का यत्न करती है, वहीं वह उसके जीवन को समूचे संदर्भों के साथ पढ़ना चाहती है। रचना आज किसी एक दिशा से ही अपना अर्थ ग्रहण नहीं करती, यदि ऐसा अर्थ ग्रहण किया जाता है तो वह अर्थग्रहण की सीमा तो होती ही है, वह रचना और आलोचना को भी साहित्य अन्तता से, उसकी यथार्थ सम्भावना से मुक्त कर देती है। यह आलोचना न होकर रचना का एकांगी पाठ या दृष्टिकोण भर होता है। समकालीन हिन्दी आलोचना समय की विद्रूपताओं, समकालीन सवालों और चुनौतियों से जहाँ मनुष्य के जुड़ने का इतिहास है, वहीं मनुष्य की यथार्थ सम्भावनाओं का भविष्य भी वह तय करती है।

समकालीन हिन्दी आलोचना अपने समय समाज की पूरी सामाजिक-आर्थिक संरचना को समझने की जहाँ कोशिश करती है वहीं रचना की आलोचना से मनुष्य की व्यापकतर दिशाओं को सामने लाती हैं। रचना समय के एक सच को एकबारगी व्यक्त कर जाती है। आलोचना का काम इसके बाद शुरू होता है। रचना में यह सच कहाँ से आया? क्यों आया? रचना के इस सच से मनुष्य की वास्तविक दिशा किधर जाती है? रचना कितना भविष्योन्मुखी है? रचना के सवाल कितना लोकतांत्रिक है या कितना लोकतन्त्र को समृद्ध करते हैं? ये सारे सवाल एक आलोचक के सामने समय में मौजूद होते हैं। वह इन सवालों से टकराते हुए रचना का समाजशास्त्र लिखता है। मनुष्य का भविष्य लिखता है और भविष्य के मनुष्य का इतिहास लिख रहा होता है। यह आलोचक की अपने समय में बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है। वह अपने समय का इतिहास निर्माता भी होता है, तो इतिहास का कारक भी होता है। एक आलोचक के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वह अपने समय को खुली आँखों से न केवल देखे बल्कि आम लोगों को भी अपनी आँख खोलकर रखने के लिए सावचेत करता रहे। आलोचक बराबर अपने समय का द्रष्टा होता है, पर वह तटस्थ द्रष्टा नहीं होता। वह अपने समय से बिंधा होता है। समय की एक-एक धड़कनों को महसूस करता है। समय को बदलने के लिए तड़पता है। समय के तमाम बिगड़ते सवालों से वह लहूलुहान भी होता है। समय और सत्ता के संघर्ष में समय के साथ खड़ा होकर वह आम आदमी के संघर्ष को चेतना की शक्ति प्रदान करता है। मनुष्य के चिंतन का इतिहास लिखता है और उसके इतिहास को बदलता भी है। उसकी इसी हैसियत को पहचानते हुए सत्यप्रकाश मिश्र लिखते हैं—"बौद्धिकता भविष्य के स्वर्ग की ही नहीं, उसके नर्क को भी पहचानती है।"[18] आलोचना मूलतः अपने समय का बौद्धिक विमर्श है। समकालीन हिन्दी आलोचना अपने इसी बौद्धिक विमर्श में युग के यथार्थ जिसमें मनुष्य के समस्त स्वप्न और आकांक्षाएँ झिलमिला रही है, साथ ही उसके यथार्थ भरे दुःख अपने हाहाकारी स्वरों के साथ मौजूद है ऐसे में आलोचना के लिए बड़ी चुनौती बन जाती है कि वह आम आदमी के यथार्थ दुःख की दिशाओं को दूर करने की रचनात्मक और तथ्यात्मक स्तरों पर पहले करे। आज केवल रचना ही सामाजिक बदलाव का माध्यम भर नहीं है, रचना के साथ-साथ जन आन्दोलनों का प्रसार, सामाजिक चेतना और आम आदमी की ताकत को समझना सच्ची आलोचना और लोकतांत्रिकता की माँग है। समकालीन हिन्दी आलोचना मनुष्य की इन्हीं जरूरतों को सामने रखकर रचना के साथ आम आदमी के मनोविज्ञान को सही दिशा में ले जाने का कर्म उद्योग करती है। आज समाज के सामने, लोकतन्त्र के सामने और समय के बीच में बहुत सारे सवाल हैं, जिनसे रचना और आलोचना को संघर्ष करना पड़ता है। आज के विज्ञापनीय जगत् में सब कुछ



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

को एक आभासी सत्ता के रूप में बदलने का जो खेल चल रहा है वह रचना, लोकतंत्र और मनुष्य सभी के लिए खतरनाक है। पूँजी के द्वारा एक भयानक खेल खेला जा रहा है, जिसमें सभी अमीर कार्पोरेट घराने और सत्ता तथा विज्ञापन जगत् शामिल है। लूट का पूरा तन्त्र चल रहा है। ऐसे कठिन दौर में रचना और आलोचना दोनों की जहाँ मुश्किलें बढ़ती हैं वहीं उनकी जिम्मेदारियों, उनके तेवर आम आदमी के संदर्भ में जुड़ जाते हैं और रचना व आलोचना अपनी तीखी धार के साथ समय को निर्मित करते हुए मनुष्य की लोकतांत्रिक सत्ता को बड़ा बनाती है, नहीं तो हमारे इस पूरे दौर में जो संस्कृति बाजार और बाजारीकरण के द्वारा चलायी जा रही है वह तो यही है जिसकी ओर सत्यप्रकाश मिश्र इशारा करते हैं—''कमवाओ और कमाओ, लूटो और लूटने दो, सोचो मत, खरीदने आदि के तर्कशास्त्र मनुष्य को विशुद्ध उपभोक्ता या जानवर से भी बदतर बनाने का औचित्य सिद्धान्त है। किसी भी बौद्धिक के लिए ये सब काफी आतंकित करने वाले हैं।''[19] समकालीन रचनाशीलता इस स्थिति से सीधे-सीधे मुठभेड़ करती है और जीवन को समग्रता में देखने की माँग करती है। समकालीनता अपने आप में जीवन की आलोचना है जिसमें मनुष्य को निरन्तर बाजार की चालाकियों से बचने का रास्ता ही नहीं दिखाया जाता, बल्कि उसे इस लूट की संस्कृति से मुक्त रखने की तरकीबें भी बतलाती है। वह जिन्दगी की सच्चाइयों से सामना करना सिखलाती है, इसके लिए उसे कई स्तरों पर विरोध की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। इस अवस्था को सत्यप्रकाश मिश्र यों लिखते हैं—''समकालीनता सत्ता के विरोध से सम्भव है और रचना के तर्क से भी।''[20] समकालीन आलोचना जीवन को इसी परस्पर विरोधी मोर्चों पर समझने का दावा भी करती रही है। उसकी यह स्थिति किसी एक कोण से नहीं जन्मती, वह रचना से जीवन दशाओं की सम्भव परिकल्पना करती है, इसके साथ वह रचना के बाहर सत्ता और मनुष्य के परस्पर सम्बन्धों को समझने की प्रक्रिया में भी जीवन की सार्थक व्याख्या करती है। साहित्यिक परिवर्तन मूलत: जीवन के प्रति सोच की दिशा में परिवर्तन की अवस्था को भी रेखांकित करते हैं। इस स्थिति को मिश्रजी यों लिखते हैं—''मनुष्य के जीने की शर्त बदलते ही मनुष्य की चेतना बदल जाती है, जिसके कारण साहित्य के आधारभूत तत्त्व, सामाजिक वातावरण और चेतना, दोनों के बदलाव से साहित्य का वस्तु तत्त्व बदल जाता है।''[21] साहित्य की चेतना मनुष्य के वस्तु तत्त्व और जीवन जगत् से सीधे-सीधे जुड़ा होता है। साहित्य की आलोचना मूलत: मनुष्य और समाज के परस्पर सम्बन्धों की अर्थापन प्रक्रिया है। रचना के भीतर समाज कितना और कैसा है इसकी पहचान आलोचना करती है। रचना भी अन्य वस्तुओं की तरह एक विशेष प्रकार का उत्पादन है और इस प्रक्रिया में लीन व्यक्ति सत्ता मूलत: सामाजिक होती है। इस प्रक्रिया को समझाते हुए आलोचक सत्यप्रकाश मिश्र लिखते हैं—''उत्पादन में लीन व्यक्ति ही श्रम प्रक्रिया के तर्क से सामाजिक होता है, क्योंकि वह कई एक ग्रुप मनुष्यों के साथ मशीन को चलाने और गतिशील रखने में हिस्सा लेता है।''[22] यह सामाजिकता ही व्यक्ति को मशीनीकरण, अमानवीयकरण और अजनबीपन से मुक्त कराने का हमारे समय में एक बड़ा जरिया है। यह केवल वस्तुगत सच्चाई नहीं है, बल्कि विचारों की सामाजिकता का प्रश्न है। समाज की गतिशील अवस्था रचनागत सामाजिकता और सामाजिक रचनाशीलता की आलोचना ही समकालीन समाज के संकटों से लड़ने की ताकत प्रदान करती है। साहित्य मनुष्य को जीवन जीने का वाजिब तर्क प्रदान करता है। उसकी इसी वस्तुगत सच्चाई को सत्यप्रकाश मिश्र—''वास्तविक साहित्य मनुष्य को प्रतिष्ठापित करता है।''[23] बतलाते हैं, यह अवस्था



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

साहित्य की समझ को आलोचना से जोड़कर देखने पर और स्पष्ट हो जाता है। साहित्य की समझ को आलोचना से जोड़कर देखने पर और स्पष्ट हो जाता है। साहित्य से संस्कृति में मनुष्य के परिविस्तार को आलोचना स्थापित करती है। समकालीन आलोचना मनुष्य के सामाजिक विस्तार को गहरे अर्थों में रेखांकित करती है। समकालीनता एक तौर पर देखा जाए तो सामाजिकता का ही पर्याय है। जो समकालीन है वह सामाजिक भी है, साथ ही अपने समय से सीधा संवाद करता है। वह एक साथ इतिहास और भविष्य की यात्रा करता है और मनुष्य की सत्ता को सत्ता के समानान्तर प्रतिष्ठित करता है। समकालीनता की यह पहचान मनुष्य को अपने समय में मौजूद कई सारी चुनौतियों से लड़ने की ताकत प्रदान करती है साथ ही समय के रथ चक्र को मनुष्य केन्द्रिक बनाने की पहल समकालीनता और आलोचना दोनों का मुख्य सरोकार है। इस अवस्था को व्यक्त करते हुए सत्यप्रकाश मिश्र लिखते हैं—''यदि रचना सामाजिकृत मनुष्य से समाज को सम्प्रेषित है, तो यह प्रश्न उठेगा ही, मनुष्य और भाषा के तर्क से यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो जाता है।''[24] समकालीन हिन्दी आलोचना मनुष्य के सामाजीकरण की प्रक्रिया को पुख्ता करने की विचार पद्धति है। इस दौर की रचना प्रक्रिया मनुष्य की सत्ता को प्रतिष्ठित करने के साथ ही उसकी सामाजिकता को भी पहचान दिलाती है। इस दौर की आलोचना के लिए यह महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि वह अपने समय में मौजूद रचना के मनुष्य और उसके समाज को एक साथ सामने लाए, यदि इस कार्य को आलोचना पूरी सहजता के साथ कर पाती है तो जाहिर है कि एक न्यायपूर्ण लोकतांत्रिक समाज का जन्म अपने समय की रचनाशीलता से सम्भव बनेगा साथ ही मनुष्य के सुखों और दुःखों की एक नयी पहचान सामाजिकता का नया पाठ पढ़ायेगी। समकालीन समय में आलोचना की इस नैतिक जिम्मेदारी को समझाते हुए नामवर सिंह लिखते हैं—''आलोचना का ठोस, मूर्तिमान एवं व्यावहारिक प्रतिमान यही है एक प्रकार से यही साहित्य का प्रतिमान भी है और साहित्य के इतिहास का भी।''[25] आलोचना और रचना मूलत: मनुष्य की सामाजिकता और मनुष्य की प्रतिष्ठा को स्थापित करने का विधान है। समकालीन आलोचना अपने समय से सीधे बिंधी हुई है, अपने समय में मौजूद मनुष्य और उसका संसार केवल रचनात्मकता के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं होते बल्कि आलोचना के लिए और मनुष्य केन्द्रित सभी सत्ताओं के लिए यह सच मूल्यवान होता है।

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

समकालीन हिन्दी आलोचना अपने समय के जातीय सवालों और मनुष्य की सामाजिक पहचानों को केन्द्रीयकृत करते हुए रचना के समाजशास्त्र से समाज के सवालों को समझने का मानवीय प्रयत्न है। किसी भी सामाजिक इकाई में उस समाज के स्वप्न अपने यथार्थ से कितना फासला रखते हैं यह समझ ही उस समाज के विकास का एक बड़ा सूचकांक हो सकता है। सामाजिक अध्ययन की इस प्रक्रिया से अपने समकालीन समाज में यथार्थ सत्ताओं के साथ मनुष्य के लहूलुहान होने की स्थिति, मानव समाजों को अपने बुनियादी अधिकारों से ठीक से न जुड़ने की स्थिति, भूख, कुपोषण, अशिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं का अभाव कई बार मनुष्य को मनुष्य के दर्जे से नीचे गिरा देता है। अभाव की इन स्थितियों में जीवित मनुष्य एक साथ साहित्य, संस्कृति और समाज तथा लोकतंत्र के चेहरे पर एक तीखे प्रश्न की तरह कीलित है। यह अवस्था रचनाशीलता और आलोचना दोनों को अपने सार्थक होने की स्थिति के लिए एक बड़ी चुनौती है। साथ ही मानवीय विकल्प और मनुष्य की रचनात्मक विकास यात्रा को सिद्ध करने का एक भविष्य इन्हीं रास्तों से होकर गुजरता है। जब हमारा पूरा समय मनुष्य की बेहतरी के लिए यथार्थ



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

और स्वप्नगत चेतना के स्तरों पर एक साथ कार्य करना शुरू करता है। मनुष्य की इस अवस्था को सामने रखते हुए मादाम स्तेल कहती है कि—''साहित्य के जातीय स्वरूप और समकालीन राजनीति एक-दूसरे से गहरे जुड़े हुए हैं।'' आज साहित्य का अर्थापन केवल साहित्यिक प्रतिमानों से ही नहीं होता। साहित्य को समझने के लिए जितना साहित्यशास्त्र और साहित्यिक प्रतिमानों की जरूरत है उससे भी कहीं ज्यादा समकालीन समाज की व्यापक समझ और समकालीन समाज, राजनीति और अर्थनीति की गहरी समझ रचना और आलोचना दोनों के लिए जरूरी है। फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल', श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी', कलकान्त त्रिपाठी का 'पाहीघर', 'नौकर की कमीज', काशीनाथ सिंह का 'काशी का अस्सी' और 'रेहन पर रग्घू' तथा नागार्जुन की राजनीतिक कविताएँ—'हरिजन गाथा', 'धूमिल की पटकथा', 'मोचीराम', रघुवीर सहाय की 'आत्महत्या के विरुद्ध', 'हँसो-हँसो जल्दी हँसो', 'रामदास' से लेकर उदयप्रकाश, राजेश जोशी, अरुणकमल, आलोक धन्वा, विजेन्द्र, भगवत रावत, कुमार अम्बुज, बद्रीनारायण, बोधिसत्व आदि के यहाँ रचना केवल रचना के तर्क से या शास्त्र से आगे नहीं बढ़ती; वरन् मौजूदा दौर की यथार्थ समीक्षा, अपने समय गहरा विश्लेषण और सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक सम्बन्धों के साथ मनुष्य की स्थिति और लोकतन्त्र में मनुष्य के लिए मौजूद स्पेस की रचना मनुष्य के अधिकारों की लड़ाई में संगत प्रयोग करने से जुड़ी हुई हैं। रचनात्मक आस्वाद से ज्यादा महत्त्वपूर्ण इनका अपने समय में मनुष्य की उपस्थिति को रचनात्मक स्तरों पर लोकतांत्रिक प्रक्रिया के साथ जोड़कर दिखलाना ही रचना और आलोचना की सार्थकता का प्रमाण है, ये रचनाएँ अपने युग की सामाजिक आलोचनाएँ भी हैं और सामाजिकता का निर्माण भी करती है। मनुष्य के लोकतन्त्र का विस्तार करती है। आम आदमी के संवेदन से सीधे जुड़ती है और कबीर की तरह ही घोषित करती है, 'हम न मरै मरि है संसारा' की तर्ज पर रचना और आलोचना मनुष्य केन्द्रिक होकर आलोचना की उत्तरजीविता को सिद्ध करती है। आलोचना की इस स्थिति को मैनेजर पाण्डेय यों प्रस्तुत करते हैं—''आजकल आलोचना जितनी सौन्दर्यशास्त्री है उतनी ही समाजशास्त्री। जिन उपन्यासों में मानवीय यथार्थ का व्यापक बोध है, उनके रचनाकारों में यह कल्पना सबसे अधिक मिलती है।''[26] आलोचना सामाजिक यथार्थ के साथ ही मनुष्य की गतिशील अवस्था को प्रकट करता है। रचना और आलोचना दोनों ही अपने समय और समाज की गतिशील सैद्धान्तिकी को व्यक्त करने का माध्यम है। आधुनिक युग में मनुष्य की रचना यात्रा जहाँ एक तरफ मनुष्य केन्द्रिक होती है, वहीं वह सामाजिकता का व्यापक प्रसार करती है। समकालीन हिन्दी आलोचना मनुष्य की इसी सामाजिक अन्तर्यात्रा का सबसे बड़ा प्रमाण है, जिसमें रचना यात्रा निरन्तर मनुष्यों की सुनी-अनसुनी सभी आवाजों को न केवल सुनती है, बल्कि उन आवाजों के अधिकारों की लड़ाई भी लड़ती है। इस स्थिति को व्यक्त करते हुए मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि—''आधुनिक युग का लेखक और उसका लेखन अपने पूर्वजों की तुलना में आर्थिक-सामाजिक है। यह सामाजिकता इतिहास प्रक्रिया की देन है।''[27] मनुष्य अपनी ऐतिहासिक गति के साथ सामाजिक विकास प्रक्रिया में जीवन और समाज से गहरे स्तरों पर जुड़ते हुए ही सामाजिक हुआ है साथ ही अपने समय और समाज की मुश्किलों से लड़ने में समर्थ भी हुआ है। मनुष्य के इसी सामाजिक स्वरूप को एक लेखक अपनी नैतिक जिम्मेदारी और सामाजिक जिम्मेदारी के साथ प्रस्तुत करता है। यह जरूर है कि लेखक अपनी चिन्तन प्रक्रिया में अकेला होता है पर उसके सरोकार अकेले के नहीं होते, वह अपनी मनोभूमि में पूरी तरह से सामूहिक सत्ता



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

का, सचेतनता का और नैतिक जागरण का तथा सामाजिक मूल्य मीमांसा का निर्धारक होता है, इसीलिए लेखकीय सत्ताएँ सामाजिक सत्ता के रूप में बड़ी से बड़ी राजनैतिक सत्ता और खूँखार चेहरों से, निरंकुश सत्ताओं से सीधे-सीधे मुठभेड़ करती हैं। इसका प्रमाण लेखन का लम्बा इतिहास है। 'संतन को कहाँ सीकरी सो काम' कुम्भनदास की ये पंक्तियाँ अनायास नहीं आई हैं। इनका सामाजिक आत्मसंघर्ष और व्यापक मूल्यबोध है जिसकी रचना और रचनाकार अपने समय में आत्मसंघर्ष करता है। आलोचना मूलत: इसी आत्मसंघर्ष की पहचान है। एक लेखक की सर्जन यात्रा कभी भी निर्वात से नहीं जन्मती, वह निश्चय ही अपने समाज और सामाजिक सम्बन्धों से जन्म लेती है। इस अवस्था को मैनेजर पाण्डेय इस तरह से व्यक्त करते हैं—''लेखक की आर्थिक-सामाजिक स्थिति से उसकी मानसिकता के सवाल का गहरा सम्बन्ध होता है।''[28] यह स्थिति यहाँ लेखक की सामाजिकता को प्रकाशित करती है वहीं आलोचना की और स्वयं लेखक की पहचान को भी निर्मित करती है। समकालीन हिन्दी आलोचना में दलित विमर्श, स्त्री-विमर्श और आदिवासी विमर्श जहाँ इस स्थिति को परिपुष्ट करते हैं वहीं ये आलोचना की सामाजिकता को भी परिभाषित करते हैं।

समकालीन हिन्दी आलोचना आलोचना के परिप्रेक्ष्य में न केवल मनुष्य की सामाजिकता को तय करती है, बल्कि मनुष्य की विशिष्टताओं को सामने रखते हुए मानवीय वैशिष्ट्य के साथ मानवीय समाजों का उनके ऐतिहासिक विकासक्रम के साथ उनका सामाजिक अध्ययन कर आज के समय समाज में जहाँ उनकी उपस्थिति को निर्धारित करती है, वहीं लोकतन्त्र में उनकी सत्ता और उनके अधिकारों को न केवल सामने रखती है, बल्कि उनके अधिकारों की लड़ाई लड़ते हुए सामाजिक लोकतन्त्र की प्रक्रिया को व्यापक बनाती है। इसके लिए वह अपने समूचे समाज को अपने इर्द-गिर्द शामिल करती है जिसमें मनुष्य की सामाजिक संरचना, बाजार और आर्थिक संरचना की उपस्थिति तथा राजनीतिक चेतना सब मिलकर मनुष्य के भविष्य को तय करते हैं जिसमें उसकी रचना और आलोचना से मानवीय चेतना का निर्माण होता है। मैनेजर पाण्डेय इस बिन्दु पर लिखते हैं—''आज के जमाने में राजनीति और बाजार से साहित्य का स्वरूप प्रभावित होता है।''[29] साहित्य में आज जो आम आदमी का स्वर सुनाई पड़ रहा है उसका बड़ा कारण आज का राजनीतिक तन्त्र और बाजार भी है। ये मनुष्य की अस्मिता को न केवल सामने रखते हैं, बल्कि सदियों से गुम पहचानों को पहचान देते हैं, नयी आवाज देते हैं कला और रचना जगत् से जो समाज तथाकथित रूप से दूर था या यूँ कहें कि बड़ी चालाकी से दूर कर दिया गया था, वह समाज जब राजनीतिक कारणों से समाज का केन्द्रीय अंग बनता है या सत्ता में उसकी भागीदारी बनती है तो उसके सामाजिक और रचनागत प्रश्नों को सीधे तौर पर सामने लाया जाता है वैसे भी रचनागत प्रक्रिया सामाजिक विकास की प्रक्रिया से सीधे-सीधे जुड़ी होती है और वह मनुष्य की सामाजिकता को बार-बार व्यक्त करती है, पर राजनीतिक और आर्थिक कारणों से सामाजिक विकास के आन्दोलन जहाँ तेज होते हैं वहीं रचनागत आन्दोलन भी इस मनोभूमि में मनुष्य की सामाजिकता और मुक्ति के प्रश्न को केन्द्रीय प्रश्न के रूप में सामाजिक आन्दोलनों के इतिहास में सामने लाते हैं। इसका साक्ष्य भक्ति आन्दोलन और भक्ति कविता में देखा जा सकता है, जहाँ समाज के निचले पायदान पर खड़ी जातियों की आर्थिक स्थिति में सुधार आया, जगह-जगह बाजार खुलते हैं, लोगों को रोजगार मिलता है, आर्थिक स्थिति में सुधार आता है तो स्वत: आत्मसम्मान और आत्मबोध भाव जाग्रत होता है और एक प्रखर सामाजिक चेतना से लेस मानवीय चेतना का काव्य प्रस्फुटित होता है


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जो सारे भेदों-प्रभेदों को ध्वस्त करते हुए मानव मुक्ति की कविता रचना है और यह कविता अपने समय की सबसे बड़ी सामाजिक आलोचना है। इसी तरह स्वतंत्रता आन्दोलन के साथ आधुनिक युग में आत्मबोध व आत्मसम्मान के साथ मानवीय स्वतंत्रता की कविता लिखी जाती है। रचना में आम आदमी को जगह मिलती है। यह सब मनुष्य की सामाजिक आलोचना के क्रम में उसके राजनैतिक और सामाजिक जागरण की प्रतिक्रिया का फल तो है ही साथ ही उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार का भी बड़ा कारण है। राजनीतिक और आर्थिक स्थितियाँ मानव समाज और मानव सम्बन्धों पर नये सिरे से सोचने के लिए बाध्य करती हैं।

समकालीन हिन्दी आलोचना अपने समाज की रचनागत प्रक्रिया को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धों के साथ मानवीय चेतना को बदलने की सार्थक प्रक्रिया को केवल साहित्य में ही नहीं देखा जाता, बल्कि इस पूरी प्रक्रिया को आलोचना में सार्थक जगह मिलती है। आलोचना एक साथ अपने समय और समाज को आन्दोलित करते हुए मानव भविष्य का जन इतिहास लिखती है। इस स्थिति को मैनेजर पाण्डेय यूँ लिखते हैं—"कविता में समकालीन जीवन की संवेदना होती है। हर पाठ में उसकी संवेदना की ताजगी बनी रहती है।"[30] कहना न होगा कि यह ताजगी रचना के प्रति सामाजिक विश्लेषण से सीधे तौर पर जुड़ी होती है। जहाँ-जहाँ संवेदना की गूँज होती है वहाँ मनुष्य एकाकी नहीं होता, उसके रिश्ते-नाते, उसका समाज, सामूहिक सत्ता और चेतना, विचार की सामाजिक प्रक्रिया से जड़ती है। इसी भूमि पर आलोचक और आलोचना रचना का उत्तर इतिहास लिख रहा होता है। इस स्थिति के लिए उसे मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में—"अपने समय, समाज और इतिहास की प्रक्रिया से परिभाषित मनुष्य ही उपन्यास रचना का लक्ष्य है और समाजशास्त्री अन्वेषण का भी।"[31] विधाएँ चाहे कोई भी हो, वह अपनी समकालीनता और अपनी आलोचनात्मकता से परिभाषित होती है। युग संदर्भों को समझने के लिए रचना को उसके शास्त्र, विधा और समाज में उपस्थित मनुष्य के साथ उसके क्या कुछ रिश्ते हैं? ये सारे प्रश्न रचना के अन्वेषक आलोचक के लिए जरूरी बन पड़ते हैं। सामाजिक जिम्मेदारी से लिखा गया हर शब्द रचना के लिए, आलोचक के लिए और संस्कृति के लिए मूल्यवान होता है। यहाँ ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद का विचार मूल्यवान है—"सामाजिक प्रगति से प्रतिबद्ध कोई भी लेखक या आलोचक यों तेजी से बदलते हुए और प्रगति करते हुए समाज के प्रति अपने दायित्व को समझता है, तो आधारभूत सामाजिक-राजनीतिक सवालों पर ढुलमल समझौतावादी रवैया अख्तियार करना नहीं चाहेगा।"[32] क्योंकि शब्द की सत्ता मनुष्य की सामाजिक जवाबदेहियों की भी सत्ता होती है और आलोचना तो किसी भी कीमत पर रचना और समाज के रिश्ते में प्रगति के चिह्न से अलग नहीं हो सकती अन्यथा उसका वजूद भी नहीं होगा। भविष्य की इसी निर्माण यात्रा को जाँचते हुए कार्लमार्क्स लिखते हैं—"मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि इसके विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व ही उनकी चेतना को निर्धारित करती है।"[33] सामाजिक अस्तित्व ही व्यक्ति की चेतना और रचना की चेतना को निर्धारित करते हुए युग की चेतना को भी निर्धारित करता है। आलोचना का होना तभी सार्थक हो पाता है जब वह अपने समय, समाज और सत्ता के अन्तर्सम्बन्धों को परिभाषित करते हुए अपने युग के मानव समाजों का भविष्य रचना के अन्तर और बाह्य पाठ से स्थापित कर सके। आलोचना कभी भी एकांगी नहीं होती, उसे एक साथ रचना, समाज और संस्कृति के अन्तर्सम्बन्धों पर विचार करते हुए युग मानस का भी निर्माण करना होता है

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साथ ही उसे अपने युग के आम जन की आवाज को भी सुनना होता है और सुनने के लिए समय के सवालों के साथ सत्ता के समानान्तर खड़ा होना होता है। समकालीन हिन्दी आलोचना अपने सामाजिक निहितार्थों में पूरी तरह से जनतांत्रिक है। वह रचना के महिमाशाली अंशों का केवल पाठ नहीं करती न ही रचना में आये हुए आम जन को छोड़कर शास्त्र चर्चा में विलीन होती। वह सीधे-सीधे रचनात्मक विद्रोहों के साथ रचना का पाठ करती है और आम आदमी के अधिकारों को मानव भविष्य और लोकतन्त्र से जोड़ते हुए सामाजिक मनुष्य की परिकल्पना को साकार करती है। यहाँ शब्द और सत्ता के आपसी सम्बन्ध से इतिहास के नये नायकों की खोज होती है जो रचना प्रक्रिया के लिए महत्त्वपूर्ण है ही सामाजिक विकास की गति में भी अपना विशेष मूल्य रखते हैं। इस भूमि पर विचार करते हुए नम्बूदरीपाद लिखते हैं—''संस्कृति का निर्माण जनता करती है, दुनिया में कुछ भी सुन्दर है, शक्तिशाली है, मनुष्य जाति के सामूहिक श्रम की उपज है। मानव समाज में जो कुछ भी अच्छा है, महान है, सुन्दर है, शक्तिशाली है, जिसमें संस्कृति भी शरीक है, मेहनत करने वालों ने पैदा किया है।''[34] उत्पादन प्रक्रिया से जुड़ा हुआ श्रम ही सामाजिक चेतना का, लोकतान्त्रिकता का मानवीय चेतना का मूल्य निर्मित करते हुए संस्कृति को सामाजिक इतिहास की प्रगति से जोड़ता है। इस मनोभूमि में आलोचना मानव समाज की सामूहिक चेतना को न केवल निर्मित करता है, बल्कि इस चेतना के सामने समय-समय पर उपस्थित खतरों से संस्कृति कर्म को अलग करती है और रचना का सामाजिक विस्तार करते हुए मनुष्य के सृजन को संस्कृति के संदर्भों में सामाजिक और लोकतान्त्रिक मूल्य प्रदान करती है। आलोचना की इस गति को मलयज जैसे कवि यूँ प्रस्तुत करते हैं—''कविता कुछ भी सिद्ध नहीं करती सिवाय एक अनुभव को रचने के। आलोचना कुछ भी प्रमाणित नहीं करती उस रचे हुए अनुभव को व्यापक अर्थ विस्तार देने के।''[35] समकालीन हिन्दी आलोचना शब्द की इसी सामाजिकता को एक नैतिक अवधारणा के रूप में गति प्रदान करती है। यहाँ आलोचना अपनी ऐतिहासिक अवस्था को मानव विचार के इतिहास से जोड़ती ही है उसे इससे आगे वह सामाजिक प्रगति का कारक भी बनाती है। समकालीन आलोचना केवल रचना तक या रचनाकार तक अपने को सीमित नहीं करती, वह पूरे युग से अपने आपको जोड़ते हुए मानव चेतना को लगातार विचारों की गर्मी प्रदान करती है। मनुष्यों को एक निश्चित अवस्था में पड़े रहने या जैसा है वैसा ही रहे के यथास्थितिवादी विचार से नहीं जोड़ती, वह लगातार उनमें चेतना का स्पंदन भरते हुए मानवीय गति के लिए जगाये रखती है। समकालीन आलोचना की इसी प्रकृति को रेखांकित करते हुए अरुण कमल लिखते हैं कि—''आलोचना और आलोचक का सबसे पहला काम शायद यही रहा है कि लोगों को जगाये रखना, जब सब सो रहे हों, तब जाकर कुण्डी पीटना और केवल कविता के सवालों पर नहीं, कविता के मार्फत जीवन, सभ्यता और संस्कृति के सवालों पर।''[36] आलोचना रचना के एक-एक कोण पर विचार करते हुए मूलतः जीवन, सभ्यता और संस्कृति पर विचार करती है। कोई भी सार्थक आलोचना अपने समय से, समय के सवालों से कटकर रचना और मनुष्य की बात नहीं कर सकती। आलोचना निरन्तर मनुष्य के सामाजिक जागरण का प्रतिमान है। कबीर से लेकर प्रेमचन्द, भारतेन्दु सभी अपने समय समाज में रचना की सार्थक सामाजिक उपस्थिति के लिए निरन्तर जागरण करते हैं। कबीर का जागरण 'दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोय।' या भारतेन्दु का रुदन 'आवहुँ सब मिलि रोवहुँ भारत भाई, हा हा भारत दुर्दशा देखी न जाई।' (भारत दुर्दशा) यह अपने समय की गहरी सामाजिक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आलोचना है। इसी आलोचना से वे अपने समय की समकालीनता से जहाँ जुड़ते हैं, वहीं मानव भविष्य के संदर्भ में यह समकालीनता एक शाश्वत संदर्भ भी रखती है जो सीधे तौर पर रचना को समय के सामाजिक पाठ से जोड़ती है और आलोचना के लोकतंत्र का परिविस्तार भी करती है। आलोचना के इसी आशय को रखते हुए अरुण कमल लिखते हैं—"श्रेष्ठ आलोचना केवल कविता की आलोचना नहीं होती, वह जीवन की आलोचना होती है, क्योंकि कविता जीवन की भी आलोचना नहीं होती है।"[37] समकालीन आलोचना लगातार रचना के समानान्तर जीवन से जुड़ती है और जीवन का विमर्श कर समय का सच सामने रखती है। इस पूरी प्रक्रिया में वह मनुष्य की प्रतिष्ठा करती है जिसे अरुण कमल यूँ लिखते हैं—"हमारी समझ से जिस समाज में मानव गरिमा की जितनी अधिक प्रतिष्ठा हो, वह समाज उतना ही अधिक जनतांत्रिक है।"[38] इस जनतंत्र को केवल राजनीतिक आजादी से हाँसिल नहीं किया जा सकता है। समकालीन समाज में लोकतन्त्र की प्रक्रिया जहाँ एक तरफ मानव की गरिमा को राजनैतिक, सामाजिक अभिप्रायों से जोड़ती है तथा मनुष्य की प्रतिष्ठा को रचनात्मक मूल्य प्रदान करती है, वहीं आलोचना इस पूरी प्रक्रिया को जनतंत्र से सीधे तौर पर जोड़ने की कोशिश करती है। इस स्थिति को अरुण कमल मनुष्य से जोड़ने की प्रक्रिया के रूप में देखते हुए कहते हैं—"जनतंत्र के विकास का अर्थ है, साधारण जनता का कुछ व्यक्तियों का नहीं, साधारण मनुष्य का सहभाग।"[39] साधारण मनुष्य की सहभागिता सामाजिक चिंतन के प्रसार क्रम में दिनों दिन समय की केन्द्रीय वृत्ति बनकर उभरी है। जिसकी ओर कवि अरुण कमल इशारा करते हैं—"इन मूल्यों के अधीन चलने वाली आलोचना, चाहे वह राजनीतिक हो या सांस्कृतिक, वास्तविक जनतांत्रिक आलोचना होगी।"[40] जनतंत्र के सरे प्रयोग आम आदमी को केन्द्र में रखकर किये जाते हैं। इस राजनीतिक यथार्थ को सामाजिक मूल्य के रूप में पहचान दिलाने का काम समय की सामाजिक आलोचना करती है। यह आलोचना केवल साहित्य केन्द्रित या सत्ता केन्द्रित ही नहीं होती, इससे आगे वह जीवन केन्द्रित होती है जिसमें जीवन का सारा विधान शामिल होता है। हमारे रचनात्मक दौर में यदि रचना का विश्लेषण किया जाए तो रचना एक साथ साहित्य की विभिन्न विधाओं को जहाँ स्पर्श करती है, वहीं रचना अपने समय में मौजूद राजनीतिक यथार्थ और सामाजिक यथार्थ के साथ मानव जीवन को सम्भव बनाने वाली तमाम शक्तियों पर विचार करती है। यथा मनुष्य की आर्थिक संरचना, बाजार के साथ उसके सम्बन्ध और सत्ता के साथ मनुष्य की लोकतांत्रिकता का कितना सम्बन्ध है, यह सब कुछ इस दौर की विचार प्रक्रिया के क्रम में मिलता है। इस पूरे दौर में मनुष्य के सामने सत्ता और संस्कृति के संदर्भों में जब-जब संकट की घड़ी आई है तब साहित्य ही मनुष्य को बचाने का कर्म उद्योग करता रहा है। साहित्य के इस रूप को सम्भव बनाने की विचार प्रक्रिया आलोचना से ही जन्मती है। यहाँ अरुण कमल लिखते हैं—"साहित्य को निरन्तर प्रतिपक्ष की, वास्तविक प्रतिपक्ष की भूमिका निभानी है। आधुनिकता के दौर में भी जो श्रेष्ठ साहित्य आया है, उसने अन्ततः अपने समाज की विसंगतियों, दारुण स्थितियों को उभारकर रखा जो व्यक्ति को जीने की, उसके पूर्ण विकास की विरोधी थी।"[41] आलोचना को इसी प्रतिपक्ष के साथ खड़ा होने की जरूरत है। आलोचना अपने समय में प्रतिपक्ष की आवाज बनकर जीवनगत परिवेश और मानवीय व्यवस्था और लोकतंत्र को मनुष्य के लिए बेहतर व्यवस्था के ताने-बाने के रूप में साहित्य के जनतंत्र को आगे बढ़ाती है। यह काम मूलतः समकालीन आलोचना का है। उसकी इस प्रकृति को अरुण कमल यों रखते हैं—"आज समकालीनता का अर्थ है—पूँजी, बाजार,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

स्वार्थ और मानवीयकरण के विरुद्ध जाग्रत होना। आज मनुष्य बेहद अकेला होता जा रहा है, पर यह ऐसा अकेलापन नहीं है जहाँ एकान्त है। उसकी निजता, स्वायत्तता और स्वाधीनता का उल्लंघन हो रहा है। सामूहिकता में ही वास्तविक एकान्त है। आज कविता उसी सामूहिकता, उसी एकान्त की खोज है।''[42] मनुष्य की सामूहिक वृत्तियों की खोज यदि कविता करती है तो उसकी पहचान का दायित्व आलोचना का है। आलोचना ही आज के बेहद संकटपूर्ण समय में मनुष्य के सामूहिक तन्त्र को जनतंत्र से जोड़ते हुए जीवन की समग्र व्याख्या करती है। उसको अकेला नहीं होने देती। उसे अर्थपिशाच नहीं बनाती और न ही हिंसा के व्यूह जाल में उलझाती है। यद्यपि इन सारे जंजालों का आज प्रलोभन इतना ज्यादा है कि आये दिन हमारे आसपास मनुष्यों को अपने आत्म से अपने भौतिक संसाधनों से और अधिक अपनी सामूहिकता से दूर होना पड़ता है। बार-बार भ्रमित और छले जाने का शिकार होना पड़ता है। एक मायावी लोक और चकाचौंध का जादू आम आदमी को उसकी दुनिया से दूर ले जाने के लिए हमेशा तत्पर रहता है। ऐसे में साहित्य ही मनुष्य की आवाज बनकर मनुष्य के साथ खड़ा होता है। मनुष्यता को संरक्षित करते हुए वह मानव का भविष्य और संस्कृति की उत्तर-कथा को लिख रहा होता है। इस दिशा में उसका नेतृत्व युग की बौद्धिक मनीषा करती है जो आलोचना का पर्याय है। आलोचना के लिए यह बिल्कुल जरूरी नहीं है कि वह अपने समय के साहित्य की विशुद्ध समीक्षा ही करे बल्कि समय की भावी लड़ाइयों की ओर संकेत करना, अपनी और मानव समाज की आजादी के संघर्ष को सामने रखना तथा लोकतन्त्र के पक्ष में मनुष्य की सामाजिकता को तय करना ही अपने समय की वास्तविक आलोचना है। इस दिशा में लगातार पिछले दिनों में नामवर सिंह, प्रभाष जोशी, अरुंधति राय, अमर्त्य सेन, मेधा पाटकर, सुन्दरलाल बहुगुणा, राजेन्द्र सिंह, अरुणा राय आदि के जन-संघर्ष एक साथ मनुष्य, प्रकृति, पर्यावरण और लोकतंत्र की सत्ता को बचाने की सामाजिक जद्दोजहद ही इन्हें समकालीन समय का बड़ा मनुष्य बनाती है। उदारीकरण के बाद मनुष्य के पक्ष में खड़े ये विचारक वास्तविक लोकतंत्र और सामाजिक आलोचना के सबसे बड़े प्रहरी हैं। इनका संघर्ष अर्थ का संघर्ष नहीं है, बल्कि मनुष्य की सामाजिकता का और लोकतंत्र का संघर्ष है। इस स्थिति को परिभाषित करते हुए नामवर सिंह लिखते हैं कि—''मार्क्स आर्थिक मनुष्य के लिए संघर्ष नहीं कर रहे थे, उनका संघर्ष एक सम्पूर्ण मनुष्य के लिए था।''[43] यह संघर्ष अपने समय की वास्तविक रचनाशीलता का और समय की निर्मम आलोचना का भी होता है। अपने समय को उसके समूचे सत्यों के साथ समझना ही जनतंत्र की वास्तविक निर्माण प्रक्रिया है, जिसे केवल राजनीतिक यथार्थ से पूरा नहीं किया जा सकता। उसके लिए हमारा समय, सामाजिक यथार्थ और आलोचना की सामाजिकता एक साथ जिम्मेदार होती है। समय में मौजूद आलोचना की व्यापक मनोभूमि को प्रस्तुत करते हुए पूरनचन्द जोशी लिखते हैं—''मेरा समय हताश, संशयालु, मानवद्वेषी (सिनिकल) रुख की नहीं, मानव के भविष्य के प्रति आत्मविश्वासी और आशावान रुख की माँग करता है। यह गहरी मानव संवेदना को उच्च स्तर की गम्भीर बौद्धिकता से जोड़ने की भी अपेक्षा करता है। यह नये दौर के बुद्धिजीवियों, संस्कृतिकर्मियों और एक्टिविस्ट्स समुदाय के लिए एक ऐतिहासिक चुनौती है और अवसर भी।''[44] यह दौर जहाँ रचनाशीलता को आम आदमी के संवेदन से जोड़ता है वहीं आलोचना के लिए एक बड़ा स्पेस निर्मित करता है जिसमें वह रचना के साथ रचना के सामाजिक अभिप्राय, राजनीतिक और आर्थिक संरचना को समझने के साथ-साथ मनुष्य की वास्तविक उपस्थिति को एक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्न के रूप में सामने रखता है। आज तकनीकी विकास के साथ मनुष्य, मशीन और तकनीक का दिनों-दिन आदी बनता जा रहा है। यहाँ तक कि तकनीक ने उसके सारे वजूद छीन लिए, उसे सिर्फ सुविधाजीवी बना दिया। ऐसी स्थिति में आलोचना और रचना तकनीक के समानान्तर मनुष्य के वजूद को केन्द्रीयता प्रदान करती है। आगे पूरनचन्द जोशी लिखते हैं—''इक्कीसवीं सदी की ओर उन्मुख देशों का सांस्कृतिक भविष्य परिवर्तन और विकास के विकेन्द्रीकरण से प्रेरित सामुदायिकता के विकास से जड़ा है।''[45] यह सामुदायिकता रचना के सामाजिक पाठ से बनती है। रचना और आलोचना जब अपने आपको समय, समाज में स्थित सामाजिक प्रक्रियाओं से जोड़कर विचार और मनुष्य की चेतना शक्ति को क्रियान्वित करते हैं तो केवल रचना का सामाजिक विकास नहीं होता, बल्कि रचना के साथ समय की सामाजिक आलोचना समाज की गतिशीलता को, मनुष्य के जनान्दोलनों को प्रस्तावित करती है। आलोचना के इसी कर्म को विष्णु खरे यूँ लिखते हैं—''आलोचना का कर्त्तव्य उदासीन जड़ता को तोड़ना है।''[46] सामाजिक जड़ता को तोड़ने का काम अपने समय में रचना और आलोचना दोनों ही करती है। सामाजिक अंधियारा, भौतिक चकाचौंध के साथ दिनों-दिन बढ़ता जाता है जो रचना और आलोचना के लिए एक तरफ समय की चुनौती बनता है वहीं समय के प्रति मनुष्य के सार्थक हस्तक्षेप का प्रमाण भी बनता है। समय की इन्हीं चुनौतियों को केन्द्र में रखते हुए समकालीन आलोचना, जीवन, समाज और संस्कृति से गहरे अर्थों में जुड़ती है। इस स्थिति पर पुरुषोत्तम अग्रवाल टिप्पणी करते हैं—''समाज में निर्लज्ज उपभोगवाद और तरह-तरह संकीर्ण बिरादरीवाद सर्वव्यापी होता जा रहा है। हमारे राष्ट्रीय जीवन में इतनी विकराल और बहुविध चुनौतियाँ शायद पहले कभी नहीं आईं। क्या हर तरफ अंधेरा ही अंधेरा है?''[47] यह अंधेरा पूरे युग की ओर इशारा करता है। मनुष्य के पास आलोचना की रचनात्मक शक्ति ही वह आधारभूत जमीन है जिससे वह अंधेरे से उजाले की ओर यात्रा करता है। यह यात्रा मनुष्य की सांस्कृतिक सत्ता का और आलोचनात्मक शक्ति का प्रतीक है। आलोचना के इसी अर्थ को पुरुषोत्तम अग्रवाल यूँ प्रस्तुत करते हैं—''आलोचना व्यापक सांस्कृतिक सत्ता के संदर्भ में ही अर्थग्रहण करती है। सांस्कृतिक सत्ता के यथार्थ से टकराते हुए वैकल्पिक अवकाश का अनुसंधान आलोचना का धर्म है।''[48] आलोचना के इसी धर्म को समकालीन हिन्दी आलोचना रचना के वृहत्तर पाठ संदर्भों से जोड़ते हुए एक विकल्प का समाज रचती है जिसकी ओर आलोचक पुरुषोत्तम अग्रवाल इशारा करते हैं—''संस्कृति के सवाल आलोचना के भी सवाल हैं और उसे बार-बार पूछना चाहिए कि यहाँ से कहाँ जायें?''[49] यह सवाल मूलत: मनुष्य की गति का, विचारों की दुनिया का, वैकल्पिक समाज की संरचना का, मनुष्य के सांस्कृतिक अस्तित्व के इतिहास का है, जिससे हर युग की रचना और आलोचना टकराती है। यह मनुष्य की सांस्कृतिक विरासत है जिस पर गर्व के साथ समकालीन हिन्दी आलोचना आगे बढ़ रही है। यह लोकतंत्र की मानव गाथा भी है जिससे आम आदमी का वस्तुगत और रचनात्मक संवेदन जुड़ा हुआ है। समकालीन हिन्दी आलोचना और आलोचना के इसी अनुसंधानवृत्ति की ओर पुरुषोत्तम जी इशारा करते हैं कि—''हमारा आधुनिक सांस्कृतिक विमर्श आरम्भ ही होता है, स्वत्व को खोजने की बेचैनी से।''[50] यह बेचैनी सीधे-सीधे रचना और समाज में एक साथ महसूस की जा सकती है, बस दृष्टि की जरूरत है। आलोचना इसी बिन्दु पर अपने समय की समग्र तलाश होती है। समकालीन समाज का पूरा यथार्थ जितना रचना के लिए कारगर होता है, उससे भी कहीं ज्यादा यह

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आलोचना के लिए मूल्यवान होता है। समकालीन समाज का विश्लेषण रचनात्मकता के साथ आलोचना की भूमि में देखा जा सकता है। इसकी ओर पुरुषोत्तम जी संकेत करते हैं—''जब पर्यावरण के फैशन शुरू होने के बीस साल पहले ही गढ़वाल की औरतें अन्धाधुंध औद्योगीकरण की सामाजिक समीक्षा विकसित करते हैं, जब मध्य प्रदेश के देहातों के शिक्षक और छात्र प्रारम्भिक शिक्षा की राजनैतिक अवधारणा विकसित करते हैं, तब भी हिन्दी हार्टलैण्ड हमें कायर, पाखण्डी और भदेसही नजर आता है?''[51] रचना की समीक्षा से पहले कई बार समाज की सामाजिक समीक्षा होती रहती है। समाज की आँख से रचना संसार निर्मित होता है तो कई बार रचना संसार से समाज का संसार निर्मित होता है। समाज की सोचने की क्षमता ही अपने समय-समाज में सामाजिक बुद्धिजीवी पैदा करते हैं। आलोचना सामाजिक बुद्धिजीवी के राज्य की चिन्ता करती है। उसकी इस स्थिति को किशन पटनायक यों समझाते हैं—''मनुष्यों का कोई भी समूह बगैर सोचे कुछ भी नहीं करता।''[52] सोचने की यह प्रक्रिया केवल चेतना जगत् तक ही सीमित नहीं होती इससे आगे यह किशन पटनायक के शब्दों में—''जीवन, जगत्, वस्तु, समाज, भविष्य आदि की जो धारणाएँ जो मनुष्य की चेतना में रहती है उनके मुताबिक लोग कार्यरत हैं, इसीलिए समाज की सारी गति और दुर्गति के लिए बुद्धिजीवी की सक्रियता जितनी ज्यादा बढ़ती है वह समाज उतना ही लोकतांत्रिक, मानवीय मूल्यों का सर्जक और मानवीय विविधता एवं सांस्कृतिक बहुलता का संरक्षक होता है। सामाजिक सचेतनता मूलत: किसी भी समाज में आलोचनात्मक आत्मसंघर्ष से आती है। आलोचनात्मक संघर्ष किसी भी समाज में श्रम की संस्कृति को प्रसारित करने का केन्द्रीय विचार होता है। उसकी इस दिशा पर परमानन्द श्रीवास्तव लिखते हैं—''श्रम की भी संस्कृति होती है। संस्कृति बहुलता समाजवाद की पहचान है।''[54] इस पहचान को सामाजिक संस्कृति से समझा जा सकता है। आलोचना का विचार किसी भी संस्कृति में मनुष्य के भविष्य और लोकतांत्रिक चेतना व सत्ता से जुड़ा होता है, इसीलिए इस चेतना को लक्षित करते हुए अजय तिवारी लिखते हैं—''आलोचना की दृष्टि और विकल्प की खोज में बुद्धिजीवी की महत्त्वपूर्ण भूमिका है और वह अपनी भूमिका कारगर तरीके से निभा सकता है जब अपने हितों को जनसाधारण से जोड़े।''[55] समकालीन यथार्थ से जुड़ा बुद्धिजीवी केवल रचनात्मक यथार्थ की चिन्ता नहीं करता, वह अपने समय, समाज की समग्र चेतना को यथास्थितिवाद के विरुद्ध तैयार कर जीवन की प्रगति का सामाजिक इतिहास लिख रहा होता है। यहाँ वह मनुष्य की आलोचनात्मक सत्ता को प्रतिष्ठित करता है। समकालीन हिन्दी आलोचना का समाज मनुष्य के सामाजिक स्वप्न को न केवल जगाने का उपक्रम करता है, बल्कि सामाजिक आन्दोलनों का रचनात्मक स्तर पर नेतृत्व करता है। आज मुक्तिबोध का प्रश्न ज्यादा मूल्यवान है—''बशर्ते तय करो, किस ओर हो तुम!'' मनुष्य को अब अपनी जिम्मेदारियाँ और जवाबदेहियों के लिए तैयार होना होगा। अब भागने का रास्ता नहीं है और हो भी तो यह रास्ता बुद्धिजीवी, आलोचक और लेखक का रास्ता नहीं होता। बुद्धिजीवी और आलोचक को निरन्तर आत्मसंघर्ष से गुजरना पड़ता है। अपने समय के पाखण्ड से मुक्त होने का संघर्ष उसे हर क्षण करना पड़ता है। वह मनुष्य की सामाजिक सत्ता और लोकतांत्रिक सत्ता को सामाजिक अर्थवत्ता प्रदान करता है। समकालीन हिन्दी आलोचना हिन्दी समाज के सामाजिक पटल पर रचनात्मक प्रश्नों के साथ अपने समय, समाज की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक चिन्ताओं से रचना और समाज को जोड़ते हुए मनुष्य की जीवन्त गति का इतिहास लिखती है।


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

समकालीन हिन्दी आलोचना अपने समय के यथार्थ से सीधे तौर पर जुड़ी होती है। यथार्थ के अन्तर्गत रचना का यथार्थ और सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक प्रश्नों का यथार्थ भी मनुष्य से सीधे तौर पर जुड़ा होता है। आलोचना इन सारे सम्बन्धों को मनुष्य के अस्तित्व से जोड़कर सामाजिक विश्लेषण और अध्ययन की परम्परा को आगे बढ़ाती है। हर युग का यथार्थ आलोचना को अपने समय विशेष का एक नया पाठ और टूल प्रदान करता है जिससे केवल रचना का विश्लेषण ही नहीं किया जाता, बल्कि समाज का समग्र अध्ययन किया जाता है। रचना निरन्तर प्रश्नों की शृंखला से समाज के स्वप्नों को खोजने की कोशिश करती है वही आलोचना इन स्वप्नों को समय की संगति प्रदान करने की कोशिश में रहती है। आलोचना समय की निर्मम व्याख्या है। उसके विश्लेषण से आँख चुराकर कोई भी समाज अपनी गति प्रक्रिया में आगे नहीं जा सकता और न ही वह अपने इतिहास की निर्माण प्रक्रिया से जुड़ सकता है। आलोचना अपने समय की प्रत्येक धड़कन को बहुत ध्यान से सुनती है और अपने समय की आवाज को चिंतन की सान पर चढ़ाकर सामाजिक यथार्थ का इतिहास लिखती है। समय की सारी प्रक्रिया रचना के मार्फत आलोचना से जुड़ जाती है। आलोचना सामाजिक गति का, मानवीय चिंतन का दस्तावेज होती है जिसमें अपने समय की बौद्धिक मनीषा का कारगर हस्तक्षेप होता है। आलोचना अपने समय से संवाद और समय के भीतर कुछ नया रचने का साहस है। आलोचना एक नैतिक साहस है जहाँ कृति के भीतर और बाहर दोनों की गूँज आलोचक के कर्म का जरूरी हिस्सा बन जाती है। आलोचक किसी एक रास्ते से रचना में और समाज में प्रविष्ट नहीं होता, वह अनन्त कोणों से समय, समाज और राजनीति तथा मीमांसा करता है। आलोचना मनुष्य की मूल्यात्मक चेतना का दस्तावेज तो है ही, वह मनुष्य के नैतिक साहस का प्रतीक भी है। आलोचना की इस प्रकृति को परमानन्द श्रीवास्तव यूँ प्रस्तुत करते हैं—"आलोचना एक व्यापक अर्थ में संस्कृति विमर्श भी है ..... आलोचना का लोकतन्त्र सहमतिवाद के विरुद्ध है।"[56] आलोचना रचना की अन्तर्यात्रा से सीधे तौर पर जुड़ी होने के कारण वह रचना के इतिहास और सांस्कृतिक परिदृश्य को सामने लाते हुए जीवन की समग्रता को पकड़ती है। इस कार्य को उसे बहुत धैर्य से करना पड़ता है। रचना की अर्थभूमि तक पहुँचने के लिए धैर्य और जीवन के विकल्पों की तलाश करनी होती है। वह एक साथ अपने समय, समाज और भविष्य के समाजों से एक सार्थक मोड़ पर बातचीत है। जीवंत आलोचना ही रचनाओं की सर्जनात्मक यात्रा व रचना यात्रा को न केवल प्रकाशित करती है अपितु मनुष्य को उसके समय की रचनात्मक अर्थवत्ता से जोड़ते हुए अपने समय में उठ रही चुनौतियों से टकराते हुए जीवंत रचना का माहौल बनाती है। अपने समय को एक बेहतर विकल्प देने में रचनाकार के साथ-साथ आलोचक की अपनी नैतिक और सामाजिक जिम्मेदारी होती है।

समकालीन हिन्दी आलोचना सामाजिक यथार्थ से लोकतांत्रिक सत्ता को परिबाषित करने की कोशिश करती है। सामाजिक यथार्थ मनुष्य के पूरे वजूद को सत्ता, समाज, संस्कृति और अर्थ संदर्भों के क्रम में समझने की कोशिश करता है। समकालीनता के प्रत्यय से आलोचना न केवल अपने समय, समाज में विश्वसनीयता अंति करती है, बल्कि मनुष्य के ऐतिहासिक विकासक्रम में मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा करती है और मूल्य मीमांसा के क्रम में समकालीन समाज की नैतिक जरूरतों को रचनात्मक सत्ता से जोड़ते हुए समाज के पूरे मनोविज्ञान को सामने रखती है। समकालीन आलोचनात्मक सत्ता मनुष्य के व्यक्ति यथार्थ से सामाजिक यथार्थ की सत्ता को प्राप्त कर लोकतंत्र को विचारवान प्रक्रिया से जोड़ती है। आलोचना और लोकतंत्र


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए जगदीश्वर चतुर्वेदी लिखते हैं कि—''आलोचना में जनतंत्र का विकास तब होता है जब आलोचना अनुपलब्ध की तरफ ध्यान देती है। परिवर्तनकामी विचारों को भविष्य में ले जाती है।''[57] आलोचना की कार्यवाही जनतंत्र में छूट गये या छोड़ दिये गये लोगों को उनका वाजिब हक दिलाना केवल लोकतंत्र का विस्तार नहीं है बल्कि एक समाज की सामाजिक आलोचना का यह आत्मसंघर्ष भी है। आलोचना इसी भूमि से रचना और समाज के सम्बन्धों को प्रस्तावित करते हुए लोकतंत्र को व्यापक बनाती है। उसे राजनीतिक मुक्ति से आगे सामाजिक और नैतिक मुक्ति की प्रक्रिया से जोड़ती है। आलोचना के इस कार्य में एक साथ कवि, लेखक, बुद्धिजीवी, पत्रकार, डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, प्रशासक जब सभी शामिल होते हैं तो रचना का सामाजिक विस्तार तो सिद्ध ही होता है साथ ही रचना लोकतंत्र को प्राणवान भी बनाती है। इस बिन्दु पर जगदीश्वर चतुर्वेदी लिखते हैं—''आलोचना में जनतंत्र का विकास हाशिये के लोगों के साहित्य को सामने आने का अवसर देती है, आलोचना में लोकतंत्र का अर्थ है, सामाजिक परिवर्तन के मूलगामी विचारों को भविष्य को सौंपना।''[58] आलोचना केवल अपने समय में ही नहीं होती, वह समय के भीतर-बाहर मनुष्य की चेतना को यथार्थ से जोड़कर भविष्य का समाज रचती है। आलोचना के भविष्य से केवल समाज के भविष्य की दिशा भी तय होती है। रचना का पूरा अर्थतंत्र भविष्योन्मुखी आलोचना से ही तय होता है, यही आलोचना की संस्कृति है। आलोचना में लोकतंत्र मूलतः मनुष्य के संवेदन तंत्र और बाजार के साथ आम आदमी के रिश्ते तथा माध्यम में उसकी उपस्थिति को दर्शाना ही रचना का लोकतंत्र है। आलोचना में लोक स्थिति को दर्शाना ही रचना का लोकतंत्र है। आलोचना में लोकतंत्र जानने की प्रक्रिया से पूरा होता है अर्थात् मनुष्य की क्या जरूरतें हैं, उसके सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जरूरतों को मूल्य मीमांसा से जोड़कर रचना के विशेष सामाजिक संदर्भों को खोलना ही आलोचना का मूल कर्त्तव्य है। समकालीन आलोचना रचना प्रक्रिया से ज्यादा मनुष्य की सामाजिक प्रक्रिया, आर्थिक प्रक्रिया और सांस्कृतिक प्रक्रिया को समझते हुए आम आदमी के अस्तित्व को लोकतंत्र में एक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का विचार और सामाजिक आन्दोलन है।[59] आलोचना अपने देश-काल के मूल्यों और प्रतिमानों से संवाद करते हुए ही रचना का मूल्यांकन और उसके माध्यम से अपने समय, देश, सत्ता और इन सबके बीच संवाद के सेतु मीडिया बाजार सभी से संवाद करते हुए रचना को अर्थवान बनाती है। आलोचना की समकालीनता को और समकालीन आलोचना की अर्थवान परम्परा को समझाते हुए युवा आलोचक पंकज बोस लिखते हैं—''समकालीन आलोचना स्वभावतः ही आधुनिक होती है (क्योंकि समकालीनता और आधुनिकता परस्पर पूरक है)। काल, कला और संवेदना तीनों स्तरों पर।''[60] आलोचना की समकालीनता ही उसकी सामाजिकता का पर्याय है। इस भूमि पर आलोचना एक साथ समय, सत्ता, संस्कृति और लोकतंत्र को अपनी कसौटी पर कसती है। जहाँ तक समकालीन हिन्दी आलोचना का सवाल है तो वह अपने समय के मनुष्य की आशा, आकांक्षा को लोकतंत्र की परिधि में अर्थवान बनाने की संघर्ष प्रक्रिया से सीधे तौर पर अपने को जोड़ती है। समकालीन हिन्दी आलोचना अपने समय से आम आदमी का सीधा संवाद है। यहाँ रचना का अर्थ लोकतंत्र में आम आदमी के संवेदन और अधिकारों की संरक्षा के साथ-साथ मानवीय अस्मिता को अर्थ प्रदान करते हुए लोकतंत्र की सामाजिक व्याप्ति को सामने लाने से रहा है। आलोचना की इसी अर्थवत्ता को व्यक्त करते हुए पंकज बोस लिखते हैं—''समकालीनता में उत्तरदायित्वों की खुली दुनिया और


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

एक समान विशेषताओं वाले सामाजिक संदर्भों को एक बिन्दु पर मिलाने की योजना रहती है।''[61] समकालीन हिन्दी आलोचना इन्हीं अर्थों में जीवन के वृहत्तर सन्दर्भों से जुड़ते हुए रचना का अर्थवान पाठ करती है जिसमें पूरा समाज अपने यथार्थ से साक्षात्कार तो करता ही है, अपने भविष्य का मूल्यांकन करना भी सीखता है। समकालीन आलोचना सामाजिक जीवन की उत्तरजीविता से मनुष्य को अपने समय में जहाँ व्यापक दुनिया से जोड़ती है, वहीं लोकतंत्र में मनुष्य के स्वप्न को सामाजिक जागृति के आन्दोलनों से जोड़ते हुए भविष्य के सामाजिक यथार्थ को गढ़ती है, वहीं मनुष्य की नैतिक दुनिया से हमारे समय के सामाजिक यथार्थ का मूल्यांकन कर एक ऐसी मूल्य मीमांसा निर्मित करती है जिसमें आम आदमी का स्वप्न और मानवीय अस्तित्व लोकतांत्रिक चेतना के साथ पूरा होता है। समकालीन हिन्दी आलोचना मनव चेतना की लोकतांत्रिक सत्ता का जीवंत दस्तावेज है।

## संदर्भ


1. मैनेजर पाण्डेय—भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण-2007, पृ. 21।
2. राजेश जोशी—'एक कवि की नोट बुक', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2004, पृ. 171।
3. राजेश जोशी—एक कवि की दूसरी नोट बुक, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2010, पृ. 21।
4. वही, पृ. 27।
5. वही, पृ. 33।
6. मुक्तिबोध—नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, द्वितीय संस्करण-1977, पृ. 99।
7. सत्यप्रकाश मिश्र—कृति-विकृति-संस्कृति, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2010, पृ. IX।
8. वही, पृ. X।
9. वही, पृ. 72।
10. नामवर सिंह—जनसत्ता, 03 मार्च, 2010।
11. विश्वनाथ त्रिपाठी—जनसत्ता, 03, मार्च, 2010।
12. वही।
13. दिनेश कुमार—शोर भरे समय में, जनसत्ता, 26 सितम्बर, 2010।
14. मुक्तिबोध—नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, द्वितीय संस्करण-1977, पृ. 145।
15. वही, पृ. 147।
16. मुक्तिबोध—नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, द्वितीय संस्करण-1977, पृ. 167।
17. वही, पृ. 176।
18. सत्यप्रकाश मिश्र—कृति-विकृति-संस्कृति, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2010, पृ. XIV।
19. वही, पृ. XVII।
20. वही, पृ. 72।
21. वही, पृ. 131।
22. वही, पृ. 133।
23. वही, पृ. 141।
24. वही, पृ. 302।
25. नामवर सिंह—इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, 2002, पृ. 176।
26. मैनेजर पाण्डेय—साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, तृतीय संस्करण-2006, पृ. 17-18।
27. वही, पृ. 106।
28. वही, पृ. 107।
29. वही, पृ. 213।
30. वही, पृ. 225।
31. वही, पृ. 227।
32. ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद—कला, साहित्य और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2002, पृ. 28।




CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

33. कार्ल मार्क्स—सिलेक्टिड वर्क्स, मास्को, 1946, पृ. 300।

34. ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद—कला, साहित्य और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2002, पृ. 104।

35. मलयज—कविता से साक्षात्कार, पृ. 10।

36. अरुण कमल—कविता और समय, वाणी प्रकाशन, 2002, नयी दिल्ली, पृ. 165।

37. वही, पृ. 167।

38. वही, पृ. 184।

39. वही, पृ. 184।

40. वही, पृ. 184-185।

41. वही, पृ. 208।

42. वही, पृ. 234।

43. नामवर सिंह—आलोचक के मुख से, राजकमल प्रकाशन, पृ. 21।

44. पूरनचन्द जोशी—आजादी की आधी सदी : स्वप्न और यथार्थ, राजकमल प्रकाशन, 2003, पृ. 81।

45. वही, पृ. 132।

46. विष्णु खरे—आलोचना की पहली किताब, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2004, पृ. 145।

47. पुरुषोत्तम अग्रवाल—तीसरा रुख, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1996, पृ. 17।

48. वही, पृ. 21।

49. वही, पृ. 22।

50. वही, पृ. 51।

51. वही, पृ. 94।

52. किशन पटनायक—विकल्पहीन नहीं है दुनिया, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2001, पृ. XI।

53. वही, पृ. XI।

54. परमानन्द श्रीवास्तव—प्रतिरोध की संस्कृति और साहित्य, भारतीय ज्ञान पीठ, नयी दिल्ली, 2011, पृ. 150।

55. अजय तिवारी—आलोचना की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2007, पृ. 44।

56. परमानन्द श्रीवास्तव—समकालीन आलोचना : अवरोध और अन्तर्विरोध, वाक्, वर्ष 2008, अंक-4, पृ. 58।

57. जगदीश्वर चतुर्वेदी—आलोचना में अलोकतंत्र, वाक्, वर्ष-2008, अंक-4, पृ. 69।

58. वही, पृ. 69-70।

59. सामाजिक आन्दोलन का विचार रचना के पाठ के साथ समानान्तर मीडिया की सत्ता और लोकतंत्र की संरचना से निर्मित हुआ है जिसमें मुख्य भूमिका जनसत्ता, इंडिया टुडे, आउटलुक, राजस्थान पत्रिका, दैनिक भास्कर, दैनिक जागरण, नई दुनिया और इलेक्ट्रॉनिक न्यूज चैनल एन.डी.टी.वी., जी.टी.वी. और आजतक तथा स्थानीय न्यूज चैनल्स व स्थानीय पत्रकारिता सभी ने मिलकर सामाजिक आन्दोलनों के विचार को लोकतंत्र का केन्द्रीय विचार बनाया है और परिवर्तन की नयी बयार से सामाजिकता का, लोकतंत्र का और रचनात्मकता का एक नया सवेरा समाज के सामने उदित किया है।

60. पंकज बोस—आलोचना का उत्तर पाठ, वाक्, 2008, अंक-4, पृ. 100।

61. वही, पृ. 101।

❑

द्वितीय तल, एफ-7,
रूपनगर काउन्टी, कोटा रोड,
झालावाड़-326 001 (राज.)



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# अध्यात्म और सूर साहित्य

डॉ. रेखा गुप्ता

अध्यात्म दर्शन का प्रारम्भिक रूप है। सभ्यता के विकास के आदिम काल में भी मनुष्य के पास किसी न किसी प्रकार का दर्शन अवश्य रहा है। जीवन और जगत् के प्रति कतिपय विश्वास और मान्यताएँ वह रखता आया है। सभ्यता के आतिकाल से धर्म सामाजिक जीवन का अविभाज्य अंग रहा है। धर्म लोकोत्तर शक्तियों में विश्वास करता है। ये शक्तियाँ अदृश्य हैं, किन्तु हैं अवश्य। वे लौकिक घटनाओं की कर्ता, नियामक और संचालक हैं। इस गोचर जगत् के अतिरिक्त एक संसार और भी है। यदि उपयुक्त साधनों का प्रयोग करके सही रास्ते पर चला जाए तो उस इन्द्रियातीत जगत् में पहुँचा जा सकता है। मृत्यु के उपरान्त भी मनुष्य की आत्मा शेष रहती है। इस प्रकार के तमाम विश्वासों के समूह को हिन्दी साहित्य कोश में अध्यात्मवाद की संज्ञा दी गई है।[1]

गीता के आठवें अध्याय में भी अध्यात्म की चर्चा की गई है। अर्जुन जिज्ञासा करते हुए श्रीकृष्ण से पूछते हैं—

*किं तद्ब्रह्म, किं अध्यात्मं किं पुरुषोत्तम*
*अधिभूतं च किं प्रोक्तं अधिदैवं किमुच्यते।*[2]

भगवान् उत्तर देते हुए कहते हैं—

*अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोध्यात्मुच्यते*
*भूत भावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।*

अर्थात् अविनाशी जीवात्मा को ब्रह्म कहते हैं और उसका नित्य स्वभाव अध्यात्म है और इन प्राकृत देहों की सृष्टि रूप कार्य कर्म कहलाता है। यहाँ ब्रह्म शब्द से जीवात्मा निर्दिष्ट है, जिसका स्वरूप अविनाशी, नित्य और अविकारी है परन्तु इस ब्रह्म से परे परब्रह्म भी है जो स्वयं भगवान् का वाचक है। ''भौतिक जगत् का मिथ्यातत्त्व तथा निराकार ब्रह्म का सत्य एवं उसकी सर्वव्यापकता को हमारे देश में सदैव स्वीकार किया गया है। वैदिक साहित्य



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

में निर्गुण परमसत्ता की विद्यमानता मान्य थी और उसी परमसत्ता की दैवीय शक्ति प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों में समाहित मानी जाती थी। वरुण, सूर्य, अग्नि आदि भौतिक तत्त्व प्रदान करने वाले देवताओं के रूप में पूज्य थे। प्रकृति के अंश-अंश में उस परम सत्ता की अनुभूति की जाती थी।''[3] समय के साथ-साथ परिवर्तित चिंतनधारा को लिए अनेक दार्शनिक-चिंतक हुए जिन्होंने चिंतनशील मानव-समाज को आत्म-चिंतन और आत्मिक-विकास के लिए प्रेरित किया। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद, रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्य ने द्वैतवाद, निम्बकाचार्य ने द्वैताद्वैतवाद और वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की। इन तमान विचारधाराओं ने आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत् आदि के विषय में अपने अलग-अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत किए। हम इन सभी चिंतनधाराओं को आस्तिकता, नैतिकता और अध्यात्म की आधारशिला के रूप में देखते हैं। इस दर्शन की नींव पर ही भक्ति का निर्माण होता है जो जनसाधारण को अध्यात्म की ओर उन्मुख करती है और सांसारिक कष्ट की स्थिति से उबारने में सहायक सिद्ध होती है।

कुछ ऐसी ही स्थिति हमें मध्ययुगीन भक्ति साहित्य की दिखाई पड़ती है जब मुगल शासन से त्रस्त जनता को अपनी विवशता और निराशा से मुक्ति का एक मात्र मार्ग ईश्वर की शरण में जाना ही दिखाई देता है। देश की सांस्कृतिक एवं भावात्मक एकता में इस भक्ति आन्दोलन का अप्रतिम योगदान है। इस समय देश के विभिन्न भागों में भक्त कवियों ने भक्ति की वह भावधारा प्रवाहित की जिसमें स्नान कर जनता का हृदय पावन हो गया। एक ऐसे साहित्य की सर्जना इन कवियों ने की जो सत्यं, शिवं और सुन्दरं की त्रिवेणी के समान भारतीय जन-मानस में आज तक गहरी पैठ बनाए हुए है।

रामभक्त, कृष्णभक्त, सूफी और सन्तों ने मिलकर अपने आध्यात्मिक साहित्य से जनता का मार्गदर्शन किया, उसे सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया। इन्हीं में से एक कृष्णभक्ति की अजस्र धारा प्रवाहित करने वाले प्रज्ञाचक्षु सूरदास के साहित्य में सगुण भक्ति की चर्चा मैं संक्षेप में करूँगी।

सूरदास के विषय में जो भी जानकारी उपलब्ध है उसका आधार 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' ग्रंथ है। इसके अनुसार पहले सूरदास गऊघाट पर रहकर कृष्ण के विनय के पद गाया करते थे। उनकी भक्ति की प्रशंसा सुनकर ही वल्लभाचार्य जी स्वयं उनसे मिलने आए थे। बाद में वे सूरदास को अपने साथ गोवर्धन ले आए। यहीं पर सूरदास ने वल्लभाचार्य जी से पुष्टिमार्ग की दीक्षा ग्रहण की। यद्यपि सूरदास रचित अनेक ग्रन्थों की चर्चा की जाती है परन्तु इनमें से अनेक ग्रन्थों की प्रामाणिता संदिग्ध मानी जाती है। अत: मैंने अपने पत्र का आधार उनके प्रमुख ग्रन्थ 'सूरसागर' के पदों को ही बनाया है।

''सूर के व्यक्तित्व में भक्ति का आवेश प्रधान रूप से व्याप्त था। दैन्य और विनय से प्रारम्भ करके पोषण-अनुग्रह से होते हुए वे सख्य और वात्सल्य में लीन होकर बाद में शृंगार की सीढ़ियों से चढ़कर दाम्पत्य भाव तक पहुँचे।''[4] इन सब स्थितियों में भी भक्ति की ही प्रधानता रही है। सूर की सगुण भक्ति का मेरुदण्ड पुष्टिमार्गीय भक्ति ही है। भगवान् की भक्त पर कृपा का नाम ही पोषण है—'पोषणं तद्अनुग्रह:'। पोषण के भाव को स्पष्ट करने के लिए दो रूप बताए गए हैं—साधन रूप और साध्य रूप। साधन भक्ति में भक्त को प्रयत्न करना पड़ता है परन्तु साध्य रूप में भक्त सब कुछ विसर्जित करके भगवान् की शरण में स्वयं को छोड़ देता है। भगवान् की कृपा ही भक्त का कल्याण करके उसे इस लोक से मुक्ति



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दिलाने में सहायक होती है जिस पर यह कृपा होती है वह बड़ा भाग्यशाली होता है। सूरदास कहते हैं—

*जापर दीनाथ ढरै*
*सोई कुलीन बड़ौ सुन्दर सोई, जा पर कृपा करै।*
*सूर पतित तरि जाय तनक में, जो प्रभु नैक ढरै।*

माया-मोहजनित इस संसार से मुक्ति के लिए वे ईश्वर से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

*अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।*
*काम क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल*
*सूरदास की सबै अविद्या दूर करो नंदलाल।*

यद्यपि भक्ति के दार्शनिक स्वरूप ब्रह्म, जीव, माया, जगत् आदि का यथास्थान उल्लेख दिखाई देता है परन्तु न तो सूर का उद्देश्य किसी दार्शनिक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना था और न ही तुलसी के समान लोकरक्षा के अनुकूल किसी मर्यादा पुरुषोत्तम का चित्रण करना। उन्होंने तो कृष्ण के उन भावात्मक स्थलों को चुना है जिनमें उनकी अन्तरात्मा की गहरी अनुभूति पैठ सकी है। वे तो कृष्ण के सौन्दर्य और माधुर्य पक्ष को उजागर कर लोगों के मन में जीवन के प्रति अनुराग उत्पन्न करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने जीवन के सुन्दरतम रूप बाल्यकाल और यौवनकाल का विस्तार से वर्णन कर जीवन के उमंग व उत्साह युक्त पक्ष को सबके सामने रखा और लोगों को आनन्दविभोर कर दिया।

सूरदास का मन नन्द के घर के आनन्दोत्सव, बालक्रीड़ाओं, दधि-माखन लीला, मुरलीवादन, रासलीला आदि में जिस तल्लीनता से रमता है, जैसा सुन्दर और सूक्ष्म वर्णन इन प्रसंगों का सूर-साहित्य के भीतर दिखाई देता है, वैसा किसी और कवि में नहीं दिखाई देता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि—"वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया है उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का वे कोना-कोना झाँक आए हैं।"[5] सूरदास द्वारा कृष्ण के बाल रूप के वर्णन की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

*सोभित कर नवनीत लिए*
*घुटरुन चलत रेणु तन मंडित मुख दधि लेप किए।*

और—

*मैया मोरी कबहुँ बढ़ैगी चोटी*
*किती बार मोहि दूध पियत भई*
*यह अजहुँ है छोटी।*

बाल रूप के सौन्दर्य को दर्शाने वाले ऐसे अनेक पद हैं जो अपनी सहजता से मन को मुग्ध कर देते हैं। कृष्ण और राधा के परिचयात्मक मिलन का यह वर्णन भी कितना सहज एवं आकर्षक है—

*बूझत श्याम कौन तू गोरी*
*कहाँ रहति, काकी तू बेटी*
*देखी नहिं कहुँ ब्रज की खोरी*
*काहे को हम ब्रज तन आवति*
*खेलत रहत आपनी पौरी।*

कहीं किशोरावस्था की चंचलता से युक्त दृश्य हैं तो कहीं यौवनावस्था के प्रेममय वर्णन। कहीं रासलीला के रंग हैं तो कहीं फाग की मस्ती। बाल सहचरी गोपियाँ युवावस्था में कृष्ण के अपूर्व सौन्दर्य में बँधी चली जाती हैं। "सूर का संयोग वर्णन कोई क्षणिक घटना नहीं है, वह तो प्रेम और संगीत की गहरी धारा है जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता। राधा-कृष्ण के रंग-रहस्य के इतने चित्र सामने आते हैं कि सूर का हृदय प्रेम की नाना उमंगों का अक्षय



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भण्डार प्रतीत होता है।''[6] संयोग की यह उन्मादकता कृष्ण के मथुरा चले जाने पर विरह की दारुण दु:ख में बदल जाती है। पूरा ब्रज प्रदेश कृष्ण के विरह में व्याकुल हो जाता है। लाड़ले पुत्र कृष्ण का विरह माता यशोदा से सहन नहीं होता। वे नन्द बाबा से कहती हैं—

*छाँड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यौ।*
*फाटि न गई ब्रज की छाती, कत यह सूल सह्यौ।*

गोपियों को भी कृष्ण के बिना रात नागिन-सी जहरीली लगने लगती है—

*पिय बिन साँपिन कारी राति।*
*कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया उसि उलटी ह्वै जात।*

और कभी वे हरे-भरे वनों को देखकर उन्हें उलाहना देने लगती हैं—

*मधुबन तुम कत रहत हरे।*
*विरह बियोग श्याम सुन्दर के, ठाढे क्यों न जरै।*

और कभी पपीहे की पिउ-पिउ सुनकर कृष्ण की स्मृति हो जाने के कारण उसे डाँटते हुए कहती हैं—

*हौं तो मोहन के बिरह जरी रे, तू कत जारत।*
*रे पापी, तू पंखि पपीहा, पिउ पिउ सारी रात पुकारत।*

प्रेम की गम्भीरता दर्शाने के लिए विरह की जितनी स्थितियाँ हो सकती हैं, उन सबका सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन यहाँ मिलता है। यद्यपि सूर का उद्देश्य श्रृंगार-वर्णन करना नहीं था, क्योंकि वे भक्त पहले थे, कवि बाद में। लेकिन उनके काव्य में रूप और सौन्दर्य की वह पराकाष्ठा दिखाई देती है, कृष्ण के प्रति प्रेम की वह तल्लीनता दिखाई देती है, जिससे ईश्वरीय प्रेम का उदय होता है, जिससे आत्मा पवित्र और निर्मल हो जाती है। यह प्रेमभाव ही कृष्ण-भक्ति का मूल है। कृष्ण के इस स्वरूप का दर्शन कर जनता धन्य हो गई। सूर का काव्य इसीलिए निर्गुण पर सगुण और ज्ञान पर प्रेम की विजय का काव्य है।

भ्रमरगीत प्रसंग में वे स्पष्ट दर्शाते हैं कि वह उद्धव जिसे अपने ज्ञान पर बड़ा गुमान था, जो निर्गुण ब्रह्म का समर्थक था, वह गोपियों के निश्छल प्रेम के आगे परास्त हो जाता है। कृष्ण का उद्धव को गोपियों के पास भेने का उद्देश्य ही यह था कि वे गोपियों के प्रेम की गूढ़ता और तन्मयता को दखकर अपने ज्ञान का घमण्ड त्याग दें और सगुण भक्ति की सुगमता एवं सरसता को स्वीकार करें। कृष्ण कहते हैं—

*प्रेम भजन न नेकु याकै, याए क्यों समुझाय।*
*सूर प्रभु मन यहै आनी, ब्रजहिं देहुँ पठाय।*

गोपियों और उद्धव के तर्क-वितर्कों के पश्चात् उद्धव को समझाते हुए गोपियाँ कहती हैं—

*उर में माखन चोर गड़े*
*अब कैसहुँ निकसत नाहीं, उधो! तिरछे ह्वै जु अड़े।*

और अन्त में अपने प्रेम की अनन्यता दर्शाते हुए कहती हैं—

*उधो! मन नाहीं दसबीस*
*एक हुतो स गयो स्याम संग को आराधे ईस।*

गोपियों के सीधे व सरल तर्कों के सामने उद्धव के सारे गम्भी चिंतन युक्त तर्क निष्फल हो जाते हैं और गोपियों का प्रेम जीत जाता है। इस प्रकार सूरदास ने कृष्ण की रंजक एवं सहज लीलाओं का गान कर सहित्य का नूतन संस्कार किया और यही इनकी सफलता है। ''जन-मानस को विमुग्ध करने वाला उनका काव्य भक्ति का नवनीत है जो भावत्रस्त विपन्न-जन को स्निग्ध व शान्त करता हुआ मोहन की सौन्दर्यमयी लीलाओं में लीन करने की अद्भुत शक्ति रखता है। सूर ने अपनी दिव्य-दृष्टि से



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

देख लिया था कि ज्ञान की सार्थकता भक्ति में है और भक्ति को रसमय बनाने के लिए काव्य का आश्रय अनिवार्य है। भक्ति और धर्म को सर्वजन सुलभ बनाने में सूर की साहित्य-साधना का विशिष्ट योगदान है।''[7]

## संदर्भ


1. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, पृ. 25।
2. श्रीमद्‌भगवतगीता, अध्याय-8, श्लोक 1-3।
3. भारतय मिथक कोश, पृ. 26।
4. प्रज्ञाचक्षु सूरदास, प्रो. हरवंशलाल शर्मा, पृ. 112।
5. सूरदास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 97।
6. वही, पृ. 106।
7. प्रज्ञाचक्षु सूरदास, पृ. 105।


❑


व्याख्याता : हिन्दी,
कानोड़िया महिला महाविद्यालय,
जयपुर (राज.)


## हिन्दी विभागाध्यक्षों से अनुरोध

इस अंक में हम हिन्दी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय, काँचीपुर, इम्फाल (मणिपुर) से पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त शोधार्थियों की सूची प्रकाशित कर रहे हैं।

विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालयों के विभागाध्यक्षों और आचार्यों से निवेदन है कि वे इस प्रकार की सूचनाएँ हमें दें। आगामी अंकों में हम इन्हें प्रकाशित कराने का प्रयास करेंगे।

**—प्रबन्ध सम्पादक**



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# किसानों, मजदूरों और दलितों के महाप्राण कवि : बाबा नागार्जुन

डॉ. आदित्य कुमार गुप्ता

**सा**हित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है, अपने युग की समस्त अच्छाइयों-बुराइयों का सजीव प्रतिबिम्ब तत्युगीन साहित्य में मिल जाता है। साहित्यकार जब अपने युग की नब्ज पहचान कर अकिंचन, बहुजन समाज की विविध समस्याओं, संघर्षों, उन पर होने वाले अत्याचारों, अभावों, जीवन की आशा-आकांक्षाओं और विषम तथा जटिल परिस्थितियों को साहित्य के माध्यम से वाणी देता है तब वह अकिंचन जनता का महाप्राण कालजयी साहित्यकार बन जाता है। बाबा के नाम से श्रद्धावश सम्मानित नागार्जुन ऐसे ही अकिंचन जनता के महाप्राण कवि हैं जिसने अपराजित संकल्प शक्ति और शिद्दत के साथ अपने समय के जन आन्दोलनों को आवाज दी और मानवतावादी दृष्टि का परिचय देते हुए अपनी कविता में उस मानव को उसकी समग्र जीवनाधायिनी परिस्थितियों के साथ उकेरा है, जो समाज में असहाय, अकिंचन, शोषित, उपेक्षित, पददलित तथा हाशिये पर जीवन जीने को विवश है। वह बहुसंख्यक निम्न-मध्य वर्ग किसान, मजदूर, दलित, सर्वहारा वर्ग है, जो आज नहीं, सदियों से आर्थिक और सामाजिक विषमता की चक्की में पिसता आ रहा है। जो सुबह से लेकर शाम तक हाड़-तोड़ मेहनत करता है परन्तु दो जून की रोटी नसीब नहीं होती, जिसका सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षिक, राजनीतिक आदि सभी स्तरों पर शोषण हो रहा है, जो गरीबी, भुखमरी के दलदल से तमाम अपनी कोशिशों एवं अथक परिश्रम करने के बावजूद भी बाहर नहीं निकल पा रहा है तथा जीवन की जटिल एवं संघर्षभरी परिस्थितियों के बीच घुट-घुटकर जीने को अभिशप्त है। जिसके जीवन की समस्यायें सुरसा की तरह बढ़ती ही जाती हैं। जिसकी अस्मिता एवं अस्तित्व को आये दिन तथाकथित अभिजात्य सत्तामदान्ध वर्ग के द्वारा तार-तार कर दिया जाता है। अभावों और समस्याओं में जीना जिसकी नियति बन गयी


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है, जिसकी पुकार को कहीं कोई सुनने वाला नहीं है, जिसे समाज से दुत्कार एवं अपमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला है। डॉ. रामेश्वर राय ने लिखा है—अठहत्तर प्रतिशत से अधिक लोग बीस रुपये प्रतिदिन पर गुजर-बसर करने के लिए अभिशप्त हैं। राजनीति और समाज में धर्मान्धता और असहिष्णुता बढ़ी है। एक आजाद देश जीवन जीने की आधारभूत संसाधनों की व्यवस्था करना दूर—भूख की समस्या का समाधान भी नहीं कर सका है। प्रशासन की जिम्मेदारी भूखों को रोटी मुहैया कराना नहीं, बल्कि भूख से हुई मौतों पर परदा डालना है। नागार्जुन ने लिखा है—

*"मरो भूख से फौरन आ धमकेगा थानेदार /*
*लिखवा लेगा घरवालों से / वह तो बीमार था।"*[1]

नागार्जुन ने समाज के इसी भूखे, व्यथित एवं शोषित अकिंचन जन के हक के लिए संघर्ष किया है। डॉ. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना ने ठीक ही लिखा है—उनका (नागार्जुन) सर्वाधिक झुकाव उस जन-जीवन की ओर रहा है, जो अभावों एवं विषमताओं की चक्की में पिस रहा है, जो निरन्तर कठिनाइयों से जूझ रहा है, जो शोषण का शिकार बना हुआ है, जो पूँजीवादी दैत्यों के चंगुल में फँसा हुआ कराह रहा है, जो साम्राज्यवादी बुल्डोजरों के द्वारा धराशायी किया जा रहा है, जो भ्रष्ट एवं व्यभिचारी नेताओं की वासना तृप्ति का साधन बन रहा है, जो पग-पग पर ठुकराया जा रहा है।[2]

वस्तुतः नागार्जुन जमीन से जुड़े साहित्यकार हैं, उनकी कविताओं में बहुसंख्यक अकिंचन जनता की हकीकत बयाँ हुई है। वे शोषित, पीड़ित, पद दलित जनता के उत्थान एवं खुशहाली के लिये प्रतिबद्ध हैं। वे उसकी उन तमाम स्थितियों, परिस्थितियों, वात्याचक्रों, जीवन के बीहड़ों को वाणी देने के लिए प्रतिबद्ध है जो उसकी हालातों के लिए जिम्मेदार हैं। इसीलिए वे लिखते हैं—

*प्रतिबद्ध हूँ, सम्बद्ध हूँ, आबद्ध हूँ*
*प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, प्रतिबद्ध हूँ*
*बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त*
*संकुचित स्व की आपाधापी के निषेधार्थ ...*
*अविवेकी भीड़ की भेड़िया-धसान के खिलाफ ...*
*प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा प्रतिबद्ध हूँ।*[3]

नागार्जुन की कविता पीड़ा और अभावों को आत्मसात् करके रची जाने वाली कालजयी कविता है जिसमें सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से उपजा हुआ बीहड़ जंगल है। गरीबी, भुखमरी और अभावों की कथा-व्यथा के चित्र हैं। उन्होंने भूख, गरीबी, अभाव और बेकारी के दु:खों की मार को न केवल देखा, अपितु भोगा था। स्वयं अभावों की चक्की में पिसते हुए तड़फे थे। 'रवि ठाकुर' शीर्षक कविता में जीवन के हालातों का हवाला देते हुए लिखा है—

*पैदा हुआ था मैं*
*दीन हीन अपठित किसी कृषक कुल में*
*आ रहा हूँ पीता अभाव का आसव ठेठ बचपन से*
*कवि। मैं रूपक हूँ दबी हुई दूब का*
*हरा हुआ नहीं कि चरने को दौड़ते॥*
*जीवन गुजरता प्रतिपल संघर्ष में॥*
*कलम ही मेरा हल है, कुदाल है॥*
*बहुत बुरा हाल है॥*

जिन्दगी का यह अभाव और आसव उनकी कविता का बीज है जो जन-जन की पीड़ा व्यथा को आत्मसात कर आक्रोश, विक्षोभ, व्यंग्य तथा क्रान्ति एवं प्रतिरोध के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। परिस्थितियों के वात्याचक्रों ने नागार्जुन को पूरी तरह झकझोर दिया था। अभावों की चट्टानों से टकराकर आगे बढ़ते रहना उन्होंने सीखा था। अभाव और गरीबी उनके बढ़ते कदमों को रोक नहीं

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पाये। उनके काव्य में अभावग्रस्त जिन्दगी के अनेक चित्र मिलते हैं। उन्होंने लिखा है—

*मानव होकर मानव के ही चरणों में मैं रोया*
*दिन बागों में बीता रात को पटरी में मैं सोया*
*कभी घुमक्कड़ यार दोस्त से मिलकर कभी अकेले -*
*एक एक दाने की खातिर सौ-सौ पापड़ बेले।*

बिहार के दरभंगा जिले के तरौनी गाँव में जून 1911 में जन्मे (याद आता मुझे अपना वह तरउनी ग्राम, याद आती लीचियाँ, वे आम) नागार्जुन का वास्तविक नाम वैद्यनाथ मिश्र था। बाइस वर्ष की आयु में अपराजिता देवी से विवाह हुआ और कुछ समय बाद घर छोड़कर चले गये। सन् 1936 में श्रीलंका पहुँचे और बौद्ध धर्म की दीक्षा ली तथा नागार्जुन कहलाये। बौद्ध भिक्षु बनकर तिब्बत, बर्मा एवं हिमालय के विभिन्न भागों की यात्रायें की। पहले 'यात्री' नाम से लिखा बाद में नागार्जुन के नाम से लिखने लगे। देश की राजनीतिक एवं सामाजिक दशा से चिन्तित हो सैद्धान्तिक रूप से वामपंथी चिन्तन को स्वीकार किया और जन-आन्दोलनों का नेतृत्व करते हुए कई बार जेल गये। एक बार जेल से छूटने के बाद जबरदस्ती पिता श्री गोकुल मिश्र घर ले आये और पुनः गृहस्थ बनकर साहित्य साधना में लग गये। आपका मैथिली, हिन्दी, संस्कृत के साथ-साथ पाली और बंगला भाषा पर भी असाधारण अधिकार था। संस्कृत में लिखी 'देशदशकम्', 'कृषक दशकम्' तथा 'श्रमिक दशकम्' रचनायें इस बात का प्रमाण है।

नागार्जुन बहुरंगी एवं वैविध्यपूर्ण रचनाकर्म के कारण सदैव चर्चा में रहे। काव्य के साथ-साथ उपन्यास, आलोचना, अनुवाद, बाल साहित्य पर भी सफलतापूर्वक कलम चलायी। आपके प्रमुख काव्य ग्रन्थों में—'युगधारा', 'सतरंगे पंखों वाली', 'प्यासी पथराई आँखें', 'भस्मासुर' (खण्डकाव्य), 'तालाब की मछलियाँ', 'तुमने कहा था' के अतिरिक्त 'खून और शोले', 'प्रेत का बयान', 'चना चोर गरम' आदि भी महत्त्वपूर्ण है। नागार्जुन का समग्र साहित्य अकिंचन, शोषित, वंचित जनता को उसके अधिकार दलवाने एवं सामाजिक कुरीतियों तथा विषमताओं के प्रतिरोध का साहित्य है। उनका विरोध उस शासन तथा समाज व्यवस्था से है जो असमानता, शोषण और अन्याय तथा अत्याचार को जन्म देती है और बहुसंख्यक जनता को अंकिचन तथा अभावग्रसित बनाती है। इसलिए साधारण, उपेक्षित और असफल मानव समुदाय के प्रति उनके मन में सहानुभूति तथा आदर का भाव है। उन्होंने लिखा है—

*जो नहीं हो सके पूर्ण काम*
*मैं उनको करता हूँ प्रणाम*
*जिनकी सेवायें अतुलनीय*
*पर विज्ञापन से रहे दूर*
*प्रतिकूल परिस्थितियों ने जिनके*
*कर दिये मनोरथ चूर-चूर*
*उनको प्रणाम।*[5]

नागार्जुन अभावग्रस्त-अकिंजन वर्ग के दुःख-दर्द को अच्छी तरह समझते हैं तथा भारतीय जन-जीवन में जिन अभावों, अन्यायों और सामन्तवादी उत्पीड़नों का अनुभव करते हैं उन्हीं को काव्य के माध्यम से मुखरित करते हैं। उन्हें इस बात का गहरा क्षोभ है कि किसान, मजदूर, सर्वहारा, अकिंचन वर्ग दिन-रात परिश्रम करने के बाद भी पेट की ज्वाला शान्त नहीं कर पाता है, परन्तु उसकी कमाई पर उच्च वर्ग वैभव-विलासमय, एशो-आराम का जीवन बिता रहा है। किस प्रकार मुखौटा लगाकर छद्म साधुवेषी बनकर लोग अकिंचन जनता को लूट रहे हैं। उन्होंने लिखा है—

*जमींदार हैं, साहूकार हैं, बनिया हैं, व्यापारी हैं।*
*अन्दर अन्दर विकट कसाई, बाहर खद्दर धारी हैं।*


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

*सब घुस आये भरा पड़ा है, भारत माता का मंदिर।*
*एक बार जो फिसले अगुआ फिसल रहे हैं, फिर-फिर॥*

समाज की इस अकिंचन जनता की समस्याओं का कोई अन्त नहीं है। इसके दु:ख-दर्द को कोई समझना नहीं चाहता। इसीलिए अन्याय, अत्याचार, शोषण का विरोध करते हुए किसान, मजदूर आदि अकिंचन जनता के प्रति उन्होंने अनेक कविताओं में सहानुभूति प्रकट की है किन्तु इसके साथ ही एक अखण्ड शक्ति और आस्था भी उनकी कविताओं के तल में विद्यमान हैं। 'प्रेत का बयान' शीर्षक कविता में भुखमरी का, 'नाकहीन मुखड़ा' में भिखमंगों की करुण दशा का, 'खुरदरे पैर में' एक रिक्शा चालक की दयनीय दशा का तथा 'अकाल और उसके बाद' कविता में अकिंचन जन-जीवन की दुर्दशा के यथार्थ और सजीव चित्र प्रस्तुत किये हैं—'कई दिनों तक चूल्हा रोया चक्की रही उदास'। निर्धनता की चक्की में पिसते आम जन की करुण दशा का बिम्ब इन पंक्तियों में देखिए—

*फटी दरी पर बैठा है चिर रोगी बेटा*
*राशन के चावल से कंकड़ बीन रही पत्नी बेचारी*
*गर्भसार से अलस शिथिल हैं अंग अंग*
*मुँह पर उसके मटमैली आभा*
*छप्पर पर बैठी है बिल्ली*
*किसके घर से जाने क्या कुछ खा आई हैं*
*चला चलाकर जीभ स्वाद लेतीं होठों का।*

नागार्जुन भारतीय किसानों के नेता स्वामी सहजानन्द फारवर्ड ब्लाक के नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त आदि कई विभूतियों के सम्पर्क में रहे, जिनका प्रभाव उनके साहित्य पर परिलक्षित होता है। परन्तु सर्वाधिक उन्हें प्रभावित किया पं. राहुल सांकृत्यायन एवं निरालाजी ने। डॉ. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना ने लिखा है—''राहुलजी से प्रेरित होकर जहाँ नागार्जुन ने राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण किया वहाँ निरालाजी से प्रेरित होकर आपने साहित्य के क्षेत्र में कलम सम्भाली। इसी कारण राजनीतिक दृष्टि से जहाँ नागार्जुन पूर्णतया साम्यवादी विचारधारा की ओर उन्मुख हुए वहाँ साहित्यिक दृष्टि से काव्य की उस जनवादी विचारधारा को लेकर चले जिसमें यथार्थ के सुदृढ़ धरातल पर मानव जीवन के चित्र अंकित किये गये हैं।''[6] निराला की तरह नागार्जुन के काव्य में अकिंचन जनता के सामाजिक, राजनीतिक शोषण एवं अत्याचारों के प्रति आक्रोश, क्षोभ, तीक्ष्ण, व्यंग्य, तड़पन, क्रान्ति, विद्रोही भावना, ललकार और कहीं-कहीं हुँकार है। उन्होंने लिखा है—

*गूँज रहा है दसों दिशा में भूखे खेतिहरों का स्वर।*
*सुने प्रीमियर, सुने मिनिस्टर, सुने असिम्बली के मेम्बर॥*

लेकिन अकिंचन जनता-किसान, मजदूर और सर्वहारा वर्ग की कौन सुनता है? उसकी आवाज नक्कारखाने में तूती की तरह हो रही है। न कोई मिनिस्टर सुनता है और न कोई असिम्बली मेम्बर सुन रहा है। किसानों, मजदूरों और दलितों की दुर्दशा से दु:खी होकर वे मजदूर राज्य को स्थापित करने का आह्वान करते हैं। किसान मजदूर भी जमीन के स्वामी बनकर अभावों से मुक्ति पा जायेंगे—

*खेत मजूरों और किसानों में जमीन बँट जायेगी।*
*नहीं किसी काम कर के सिर पर बेकारी मँडरायेगी।*
*नौकरशाही का यह रद्दी ढाँचा होगा चरम चूर।*
*सुजला, सुफला के गायेंगे गीत प्रसन्न किसान-मजूर।*

नागार्जुन के काव्य का मुख्य स्वर व्यंग्य और प्रतिरोध का है। उन्हें किसानों, मजदूरों, दलितों के अनेकविध शोषण करने वाले छद्मवेषी नेताओं, अफसरों से गहरी चिढ़ है। नफरत है। धोखा-धड़ी, भ्रष्टाचार, लोभ, ईर्ष्या आदि भावों के सहारे जीवन व्यतीत करने वाले ये लोग

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अकिंचन जनता को जोंक की तरह चूस रहे हैं—

*''ऊपर वाले बैठे-बैठे खाली बात बनाते हैं*
*बाढ़ अकाल-महामारी में काम नहीं कुछ आते हैं*
*नत नयन*
*मुद्रित मुख*
*प्रजाकर*
*बैठे हैं कुर्सी पर*
*मात्र वेतन से मतलब''*

देश में गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, महँगाई का ताण्डव मचा हुआ है। किसान मजदूर सर्वहारा वर्ग भूख की भट्ठी में झुलस रहे हैं लेकिन देश के हुक्मकारों को इसकी कोई चिन्ता नहीं। नागार्जुन व्यंग्य मिश्रित विद्रोही शैली में लिखते हैं—

*देश हमारा भूखा-नंगा घायल है बेकारी से*
*मिले न रोटी रोजी भटके दर दर बने भिखारी से*
*स्वाभिमान सम्मान कहाँ है, होली है इंसान की*
*बदला सत्य अहिंसा बदली लाठी गोली डण्डे हैं।*
*कानूनों की सड़ी लाश पर प्रजातंत्र के झण्डे हैं।*
*निश्चय राज बदलना होगा शासक नेताशाही का*
*पद लोलुपता दलबन्दी का भ्रष्टाचार तबाही का॥*

वस्तुतः नागार्जुन की कविता किसान, मजदूर और सर्वहारा दलित वर्ग के जीवन की त्रासदियों की मुँह बोलती तस्वीरे हैं जिनमें इस वर्ग के जीवन की विवशताओं, मजबूरियों और विकृतियों तथा संघर्षो के गहरे रंग उकेरे गये हैं। आर्थिक और सामाजिक विषमता की चक्की में पिसने वाले लोगों के प्रति 'घिन नहीं आती' शीर्षक कविता में उन्होंने सहानुभूति प्रकट करते हुए लिखा है—

*''कुली मजदूर हैं बोझा ढोते हैं खींचते हैं ठेला*
*धूल, धुआँ भाप से पड़ता है सबका पाला*
*थके-मांदे जहाँ तहाँ हो जाते हैं ढेर*
*सपने भी सुनते हैं, धरती की धड़कन।''*

भुखमरी, अकाल, बाढ़, महामारी, महँगाई और बेरोजगारी के प्रकोप और फूत्कार से पीड़ित किसान, मजदूर, सर्वहारा वर्ग आदि अकिंचन जनता की करुण कथा नागार्जुन की कविता में चित्रित है। डॉ. हरिचरण शर्मा ने लिखा है—''मजदूरों की विषमता और अभावों में पल रही जिन्दगी, परिवेश में व्याप्त आपाधापी, स्वार्थपरता, यांत्रिकता और शोषण तथा पूँजीपतियों के अत्याचार व उत्पीड़न की कथाओं के सहारे विकसित व्यथा प्रसंगों की मुँहबोलती तस्वीर नागार्जुन की कविताओं में कैद हैं।'[7]

*कहीं बाढ़, भूचाल, कहीं पर, कहीं अकाल कहीं बीमारी*
*महँगाई की क्या नजीर दूँ मानो द्रुपद सुता की सारी।*
*भूखों मरो चबाओ पाती, मगर अन्न का नाम न लेना*
*कहीं न तुम भी पकड़े जाओ, कहीं सफाई पड़े न देना।*

प्रो. रामचरण महेन्द्र ने लिखा है कि—''नागार्जुन सर्वहारा कविता की धारा को तीव्र कर देते हैं, उनमें मजदूर वर्ग की संघर्षशील चेतना समुन्नत रूप में प्रकट हुई है। पूँजीवादी चट्टानों से टकराती, भयंकर संघर्षों में तपती, मजदूर वर्ग की हिमायत करती हुई नागार्जुन की काव्यधारा जनवादी परम्पराओं में आगे बढ़ी है।''[8] वास्तव में नागार्जुन अपने समय के जागरूक, सावचेत और संवेदनशील कवि थे। किसानों, मजदूरों, शोषितों, दलितों के प्रति उनके मन में अपार स्नेह की धारा थी। 'हरिजन गाथा' शीर्षक कविता में अभिजात्य वर्ग के द्वारा अकिंचन दलितों को जिन्दा जलाये जाने की घटना पर गहरा रोष प्रकट करते हुए मानवता के लिए कलंक बताया। वे बेहद क्षोभ और आक्रोश प्रकट करते हुए लिखते हैं—

*ऐसा तो कभी नहीं हुआ था कि*
*एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं -*
*तेरह-के-तेरह अभागे -*


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

*अकिंचन मनु पुत्र*
*जिन्दा झोंक दिये गये हों*
*प्रचण्ड अग्नि की विकराल लपटों में*
*साधन सम्पन्न ऊँची जातियों वाले*
*सौ सौ मनु पुत्रों द्वारा*
*ऐसा तो कभी नहीं हुआ था।*

अन्तत: कहना यह है कि नागार्जुन अकिंचन जनता के महाप्राण कवि हैं। उनकी कविता में किसानों, मजदूरों, दलितों, शोषितों की कथा-व्यथा, आशा-आकांक्षा समग्रता से अभिव्यक्त हुई है। वे अपने समय की समग्र राजनीतिक एवं सामाजिक विकृतियों, विषमताओं को पूरा जोखिम उठाकर निर्भीकता से रूपायित करते हैं। उनके तीक्ष्ण व्यंग्य से बड़ा से बड़ा नेता या अफसर बच नहीं पाया है। इस सम्बन्ध में विश्वम्भर मानव ने लिखा है—"पिछले पचास वर्षों में नागार्जुन जैसा तीखी और सीधी चोटें करने वाला व्यंग्यकार हमारे साहित्य में नहीं हुआ।"[9] वस्तुत: स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक दसा की स्पष्ट तस्वीर उनके काव्य में अंकित है। आज भले ही हमारा देश इक्कीसवीं शती के दूसरे दशक में प्रवेश कर चुका है, परन्तु हमारे देश का परिदृश्य बहुत अधिक बदला नहीं है। किसानों, मजदूरों और दलितों की दशा में बहुत ज्यादा बदलाव नहीं आया है। आज भी किसान गरीबी, भुखमरी और कर्ज से पीड़ित हो, आत्महत्या करने के लिए विवश हो रहे हैं, आये दिन समाचार-पत्रों में पढ़ने को मिल जाता है। मजदूरों का शोषण हो रहा है, दलितों पर अत्याचार हो रहे हैं, उनकी अस्मिता से खिलवाड़ किया जा रहा है। अत: नागार्जुन आज भी अकिंचन जनता के कालजयी महाप्राण साहित्यकार हैं और कल भी रहेंगे। उनकी महत्ता इस बात में है कि वे अपनी कविता में अकिंचनजन की सभी समस्याओं को वाणी देते हैं और संवेदनशीलता प्रकट करते हुए उसकी खुशहाली एवं समृद्धि की कामना करते हैं—

*तन जर्जर है भूख प्यास से*
*व्यक्ति व्यक्ति दु:ख दैन्य त्रस्त है*
*दुविधा में समुदाय पस्त है।*
*लो मशाल, अब घर घर को आलोकित कर दो*
*सेतु बनो प्रजा प्रयत्न के मध्य*
*शान्ति को सर्वमंगला हो जाने दो।*

## संदर्भ


1. 'कथादेश', दिसम्बर-2010, पृ. 21।
2. हिन्दी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, पृ. 446।
3. नागार्जुन प्रतिनिधि संकलन (सं. प्रभाकर मार्चन), पृ. 167।
4. 'सिन्दूर तिलकित भाल', शीर्षक कविता।
5. अनुक्रमित-1, पृ. 41।
6. हिन्दी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, पृ. 448।
7. नये प्रतिनिधि कवि, पृ. 21।
8. हिन्दी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, पृ. 457।
9. विश्वम्भर मानव—नयी कविता नये कवि, पृ. 36।


❑


हिन्दी विभाग,
राजकीय बिड़ला महाविद्यालय,
भवानीमण्डी (राज.)




CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# केदारनाथ अग्रवाल की 'धरती' कविता : 'भावों का औदात्यपूर्ण चित्रण'

**युवराज माने**

केदारनाथ अग्रवाल प्रगतिशील कवि हैं। केदारनाथ ने कविताओं के साथ निबन्ध, यात्रा वर्णन आदि साहित्य भी लिखा है। लेकिन वे प्रमुखता से कवि के रूप में ख्यात हैं।

केदारनाथ अग्रवाल की कविता प्रमुख रूप से जन-मानस से सम्बन्धित है। उनकी कविता में प्रकृति-प्रेम, प्रेम, समाज का यथार्थ वर्णन दिखाई देता है। कुछ कविताओं में उन्होंने व्यंग्य को अपनाया है।

केदारनाथ अग्रवाल का जन्म बाँदा जिले के कमासिन गाँव में सन् 11 अप्रैल, 1911 में हुआ। कवि के प्रकाशित साहित्य में 'युग की गंगा' (1947), नींद के बादल (1947), लोक और आलोक (1951), फूल नहीं रंग बोलते हैं (1965), आग का आईना (1970), देश-देश की कविताएँ (1970), समय-समय पर निबन्ध संग्रह (1970), अपूर्वा (1984), आधुनिक कवि (1985), पंख और पतवार (1979), मार प्यार की थापें (1981), विचार और बांदा (1980), विवेक विवेचन (1981), हे मेरी तुम (1981) आदि हैं।

शोध निबन्ध प्रस्तुति हेतु 'धरती' कविता : 'भावों का औदात्यपूर्ण चित्रण' शीर्षक का निर्धारण किया है। भावों का औदात्यपूर्ण चित्रण लांजायनस के सिद्धान्त 'उदात्त तत्त्व' का एक तत्त्व है। 'लांजायनस' ने अपने ग्रन्थ 'पेरिइप्सुस' में उदात्त का सिद्धान्त निरूपित किया है। प्रबल भावावेग को लांजायनस ने दूसरा स्थान दिया है। काव्य के 'औदात्य' के लिए जो महत्त्वपूर्ण पाँच तत्त्व माने हैं, वे निम्न प्रकार के हैं—

(1) गम्भीर विचार,

(2) भावों का उदात्त रूप में चित्रण,

(3) अलंकार नियोजन,

(4) उत्कृष्ट भाषा तथा

(5) गरिमामयी रचना विधान।



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

**'धरती' कविता : भावों का औदात्यपूर्ण चित्रण**

शोध निबन्ध प्रस्तुति हेतु केदारनाथ अग्रवाल की 'धरती' कविता का चयन किया है। यह कविता 'आपके युग की गंगा' कविता संग्रह से संग्रहीत हैं। बच्चन सिंह अग्रवाल के काव्य को दो श्रेणियों में विभाजित करते हैं— 'राजनीतिक काव्य और प्रकृति प्रेम' और 'समाज सम्बन्धी काव्य' (बच्चनसिंह-1997)। 'धरती' कविता उनके समाज सम्बन्धी कविता के अन्तर्गत आती है।

'धरती' कविता भावों का औदात्यपूर्ण चित्रण है, यह हम कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। स्वयं कवि कहता है—"मैं कविता में उदात्त का विरोधी नहीं हूँ, सहज साधारण का पक्षपाती हूँ। मेरा स्वभाव है जो कुछ भी लूखाँ वह सब साफ-सुथरा और सुलझा हुआ हो। वह दूसरों को भी उतना ही ग्राह्य हो जितना मुझे है, यही मेरी धारणा है। मैं कविता की सार्थकता उसकी बोधगम्यता में देखता हूँ।"

(केदारनाथ अग्रवाल, 1978)

केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में समसामयिक परिस्थितियों का यथार्थ वर्णन मिलता है। उन पर मार्क्सवाद का प्रभाव है, पर वह किसी वाद में अटके न रहकर हमेशा प्रगतिशील या प्रगतिपथ पर रहे हैं। आजादी के बाद भी किसानों की, खास तौर से गरीब किसानों की स्थिति में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं आया है। ऐसी स्थिति होने के बावजूद भी कवि कहता है—

*यह धरती है उस किसान की,*
*जो बैलों के कंधों पर,*
*बरसात घाम में,*
*जुआ भाग्य का रख देता है,*
*खून चाटती हुई वायु में।*

(केदारनाथ अग्रवाल, 1979)

किसान जानता है कि वह जो खेती कर रहा है। वह एक जुआ है। जुए के खेल की तरह अगर खेती में भी भाग्य ने साथ न दिया तो वह सब कुछ हार बैठता है, पर भाग्य पर आधारित रहने वालों की यह धरती नहीं है। धरती उनकी है जो अथक श्रम करता है। किसान को मालूम है कि अगर वर्षा न होगी तो उसके बोये हुए बीज बेकार में जाएँगे। उसे कई रुपयों का नुकसान उठाना पड़ेगा पर फिर भी वह बीज बोता है। यहाँ कवि ने अपनी पंक्तियों के माध्यम से किसानों के उस उदात्त भाव को दर्शाया है जो अपने नुकसान या फायदे का न सोचते हुए दूसरों के भले के लिए कर्म करते हैं। कवि का किसान भी यही करता है। बरसात में जब उसका (किसान) शरीर भीगता है, तो बरसात की बूँदों से नहीं, पसीनों के मोतियों से। गर्मियों के दिनों में जब किसान अपने खेतों में हल चलाता है, तब जो गर्म लू लगने वाली हवा चलती है, वह उसकी पीड़ा को और बढ़ाती है। मानो वह उसके शीर्ण शरीर से खून चूस रही हो। फिर भी किसान अपनी हार नहीं मनता है और आगे बढ़ता है। कठिन परिस्थितियों के बावजूद भी वह नये वर्ष में नयी फसल के लिए तैयार रहता है और अनाज का ढेल लगाता है—

*और बीज फिर बो देता है,*
*नये वर्ष में नयी फसल के।*
*ढेर अन्न का लग जाता है,*
*यह धरती है उस किसान की।*

(केदारनाथ अग्रवाल, 1979)

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि के दिव्य भावावेग की झलक दिखाई देती है। लांजायनस ने भावावेग के संदर्भ में स्पष्टता से कहा है—"भव्यता के लिए उचित प्रसंग से सच्चे भाव से बढ़कर साधक और कुछ नहीं होता। वह शब्दों को एक मनोरम उन्माद से अनुप्राणित कर देता है और उन्हें दिव्य आवेश से भर देता है।"

(निर्मला जैन, 1920)


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ये जो धरती है वह न देवताओं की है, न दानवों की, या न अन्य किसी की। वह है तो सिर्फ श्रमजीवी किसान की। कवि कहता है—यह धरती न भगवान् कृष्ण की, न प्रभु राम की, न पाण्डु पुत्र भीम, सहदेव, नकुल की, न ही अर्जुन जैसे वीर की, न सेठ, साहूकार की, न गरीब भीखमंगों की, न उनकी जो तेग, तलवार के नोक पर राज करते हैं, न किसी धर्म की। धरती है केवल और केवल उस किसान की जिसे वह अपना सब कुछ समझता है। आज की हिन्दी कविताओं को किसकी आवश्यकता है, इस संदर्भ में कवि का मंतव्य है—''अब हिन्दी की कविता न रस की प्यासी है, न अलंकार की इच्छुक है और न संगीत की तुकान्त पदावली की भूखी है। भगवान् अब उसके लिए व्यर्थ है। आज जैसे कि राजा शासक हैं, पूँजीपति शोषक हैं। अब वह चाहती है—किसान की वाणी, मजदूर की वाणी और जन-जन की वाणी।''

(केदारनाथ अग्रवाल, 1979)

यह धरती है उस किसान की,
जो मिट्टी का पूर्ण पारखी,
जो मिट्टी के संग साथ ही,
तपकर,
गलकर,
जीकर,
मरकर,
खपा रहा है जीवन अपना
देख रहा है मिट्टी में सोने का सपना

(केदारनाथ अग्रवाल, 1979)

ये जो किसान है वह मिट्टी का पारखी है। उसे मिट्टी का ज्ञान है। जिस तरह जौहरी हीरे को परखता है, उसी तरह किसान अपनी धरती को। किसान अपना जीवन धरती के साथ गर्मियों में तपकर, बारिशों में भीगकर गुजारता रहा है। वह धरती के साथ ही जीता है, और उसी के साथ मरता है। किसान जो मिट्टी में सोने का सपना देख रहा है, वह सोना उसकी फसल होती है। वह उस हरे सोने को देखकर अह्लादित होता है और उसे तैयार करने के लिए जितने दु:खों को, पीड़ाओं को उठाया है वह सब भूल जाता है।

किसान अपने तन का खाद डालकर धरती को जीवित रखता है और खुद भी जीता है। कवि ने किसान जीवन के इस यथार्थ को समझा और उसे अपनी कविता में यथार्थ रूप में प्रकट किया है।

इस कविता के अध्ययन के बाद केदारनाथ अग्रवाल के बारे में शमशेर बहादुर सिंह का मंतव्य सटीक लगता है। वे लिखते हैं—''आज का नौजवान, गरीब, भूखा, किसान और संघर्षशील मजदूर केदार के छन्द-प्रवाह में अपना हठ, अपना दर्द, अपनी जॉफिशानी, अपनी ट्रेजेडी और अपने दु:खों को जीतने वाली अदम्य आशा को लेकर हमारे सामने बोलने लगता है।''

(केदारनाथ अग्रवाल, 1979)

**निष्कर्ष**

केदारनाथ अग्रवाल की 'धरती' कविता में किसान जीवन का गम्भीर चित्रण मिलता है। किसान और धरती का अटूट रिश्ता होता है। किसान जानता है कि खेती जुए के खेल की तरह होती है। लेकिन यह जुआ किसान अपने श्रम, आत्मविश्वास के बलबूते पर खेलता है।

धरती न देवताओं की होती है, न राजा-महाराजाओं की; धरती सिर्फ किसान की होती है। किसान मिट्टी में सोना उगाता है। केदारनाथ अग्रवाल ने किसान की विवश स्थिति को समझा और उसे अपनी कविता में वाणी दी है। कवि का किसान संकटों और हालातों से हार न मानकर साहस के साथ सामना करता है और विजयी होता है। हमें


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

यह कविता हमारे पूर्व प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री का नारा 'जय जवान जय किसान' की याद दिलाता है। जवान देश का रक्षक है तो किसान देश का अन्नदाता।

अर्थात् स्पष्ट है कि 'धरती' कविता से धरती तथा किसान के गहरे सम्बन्ध स्पष्ट होते हैं तथा किसान के संघर्षरत जीवन का एहसास होता है। किसान की विवश स्थिति का समग्र अवलोकन प्रस्तुत कविता द्वारा कवि केदारनाथ अग्रवाल ने किया है। 'धरती' शीर्षक कविता में उदात्त तत्त्व के एक उपतत्त्व 'भावों के औदात्यपूर्ण चित्रण' का अविर्भाव दिखाई देता है।

## संदर्भ


1. अग्रवाल, केदारनाथ—गुलमेहंदी, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पहला संस्करण जनवरी-1978 ई., पृ. क्र. 8, 55, 55, 55, 56, 5।
2. सिंह बच्चन—हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण-1997, पृ.क्र. 441।
3. जैन निर्मला (अनु.)—उदात्त के विषय में, दिग्दर्शन चरण जैन, ऋषभ चरण जैन एवं सन्तति, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1970 ई. पृ.क्र. 88।
4. डॉ. मिश्र भगीरथ—पाश्चात्य काव्यशास्त्र इतिहास सिद्धान्त और वाद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण-1993 ई.।


❑


शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
शिवाजी विश्वविद्यालय,
कोल्हापुर (महाराष्ट्र)




CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# कवि गोरख और पाश की कविता में यथार्थवादी सौन्दर्य दृष्टि

**अर्चना त्रिपाठी**

**कि**सी भी विषय के व्यवस्थित एवं तर्क शुद्ध अध्ययन को हम 'शास्त्र' कहते हैं। तर्कशास्त्र, भाषाशास्त्र, नीतिशास्त्र और इसी कड़ी में आगे जोड़कर देखें तो—सौन्दर्यशास्त्र।

हम जानते हैं कि साहित्य जीवन के सौन्दर्य की व्याख्या है, आनन्द का संचार है, सारे भाव जगत् आदि सौन्दर्य में समाहित हो जाते हैं, सुन्दर भाषा, सुन्दर ढंग से प्रस्तुतिकरण आदि सौन्दर्य के अन्तर्गत आता है। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परिभाषा उल्लेखनीय है—''सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, वह मन के भीतर की वस्तु है।''

**तुलसी** के यहाँ सौन्दर्य परम्परित रूप से चली आ रही सुन्दरता से लिया गया है। **सूरदास** के यहाँ यही सौन्दर्य परम्परित परम्परा के साथ-साथ लोक-तत्त्व को ग्रहण करता है। **जायसी** शास्त्रीय परम्परा से हटकर सौन्दर्य का वर्णन करते हैं और नारी के शक्ति रूप, पारस रूप को दिखाते हैं—

नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीए सरीर।
हंसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर॥

सौन्दर्य विधान के चार क्षेत्र बनते हैं—

(1) रूप सौन्दर्य विधान—(अ) स्त्री सौन्दर्य, (ब) पुरुष सौन्दर्य।

(2) भाव सौन्दर्य विधान।

(3) कर्म सौन्दर्य विधान।

(4) प्रकृति सौन्दर्य विधान।

सौन्दर्यशास्त्र के विद्वान् जिस सौन्दर्य का विवेचन करते हैं, वह साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं का सौन्दर्य होता है। सौन्दर्यशास्त्र का विषय उस व्यापक सौन्दर्य की व्याख्या है जो प्रकृति, मानव-जीवन तथा कलाओं में विद्यमान है। सौन्दर्यशास्त्र दर्शन का एक अंग है।



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रेमचन्द ने कहा था—''हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी और हमें निश्चय ही विलासिता के मीनार से उतरकर उस बच्चों वाली काली रूपवती का चित्र खींचना होगा जो बच्चे को खेत की मेड़ पर सुलाकर पसीना बहा रही है।''

प्रगतिशील कवियों के यहाँ सौन्दर्य का ढाँचा बदला और वे अपनी कविताओं में पीलेपन, साँवली, काली तथा पपड़ियाए होंठ की बात करने लगे, सौन्दर्य का यही यथार्थवादी दृष्टिकोण गोरख और पाश के यहाँ विकसित रूप में दिखती है, पंजाबी कवि पाश 'मेरी माँ की आँखें' कविता में कहते हैं—

*जब एक लड़की ने मुझसे कहा –*
*मैं बहुत सुन्दर हूँ*
*तो मुझे उसकी आँखों में दोष लगा था*

..................................

*दो पल के लिए गाँव आया हूँ*
*और वही चालीस वर्ष की लड़की*
*अपने लाल को बदसूरत कहती है*
*और मुझे फिर उसकी आँखों में दोष लगता है .....*

ग़रीबी की मार ऐसी कि अपना बेटा ही बदसूरत जान पड़ता है। इस तरह सौन्दर्य की परिभाषाएँ समय के साथ अपने-आप बदल जाती हैं।

आगे गोरख पाण्डेय 'आँखें देखकर' कविता में आँखों का सौन्दर्य कुछ इस तरह व्यक्त करते हैं—

*ये आँखें हैं तुम्हारी। तकलीफ़ का उभड़ता हुआ समुंदर*
*इस दुनियाँ को। जितनी जल्दी हो। बदल देना चाहिए .....*

ऐसा क्रान्तिकारी भाव दुनिया को बदल देने की चाहत जो प्रिय की आँखों से भी अछूती न रह सकी। उन आँखों में भी अब सूरमा की जगह आक्रोश नज़र आने लगा है।

'उफ् कितना मुश्किल' कविता में गोरख ने ग़रीबी की मार झेलती आतंकित माँ और जीवंत रूपसी को इन शब्दों में बाँधते हैं और सौन्दर्य के बंधे-बंधाये पैमाने पर छींटाकसी करते हैं—

*उफ् कितना मुश्किल होता है*
*आदमी और जोंक में फर्क कर पाना*
*आतंकित माँ की कहानियों में फैले भूत ने*
*हमारी आत्मा की जीवंत रूपसी को चुराकर*
*सात सागर पार किसी पराए देश के तिलिस्म में*
*कैद कर लिया है .....*

गोरख जहाँ एक तरफ अपनी कविता में संघर्ष के स्वर दिखाते हैं, वहीं दूसरी तरफ रूपसी ऐसी जो हमेशा कवियों के यहाँ रमणी, कली के रूप में आती है, उसका उल्लेख आत्मा और अस्मिता से करते हैं जिसे पूँजीपति वर्ग किस तरह तिलिस्म में कैद करके रखा है और आम जन कुछ नहीं कर पा रहा है।

यथार्थवादी सौन्दर्य का चित्रण करते हुए कवि पाश व्यंग्य की धार से जन-जन तक अपनी कविता पहुँचाते हैं। उन्होंने देखा कि बात को सीधे-सीधे कह देने से वह असर नहीं करने वाली, उन्होंने व्यंग्य से काम लेकर झूठ और छद्म पर चोट की। मिसाल के लिए कवि पाश 'शब्द, कला और कविता' में लिखते हैं—

*आपको शायद ख़बर न थी। उन बेवा पलों का दर्द महसूस करने वाले की*
*जो पिरामिडों की पकड़ में नहीं आया। आप शिलालेखों के शाही मोहरों को भी*
*कविता की कला कहते रहे हैं .....*

इनकी कविताओं का जो सौन्दर्यलोक निर्मित होता है, वह इसी शब्दलोक की मौखिक परम्परा से अपना उजास पाती है। जब कवि पाश रेशम जैसे कोमल भावलोक के भीतर एक नया सौन्दर्य गढ़ते हैं तो उनकी विलक्षण बुद्धि सामने आती है—

*''चिंताओं की परछाइयाँ। उम्र के वृक्ष से लम्बी हो गई*
*मुझे तो लोहे की घटनाओं ने। रेशम की तरह ओढ़ लिया।''*


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

इसी चिंता की बात गोरख एक नई दृष्टि के साथ 'वह चीख' में करते हैं—

*जैसे खालीपन के जड़ समुद्र में*
*अस्तित्व का अभी पहला-पहला तनाव शुरू हुआ हो*
*उसकी चीख़ की बेहद लम्बी नाराज़ बाहों में*
*ताकत है सारा कुछ समेटने की .........*

यह ख़ालीपन, यह चीख़ उस मज़दूर की है, जो आज तक समाज में अपने अस्तित्व की लड़ाई में ही मर-खप गया, ऐसी दृष्टि गोरख की ही हो सकती है जो कि बाहों को एक नई उपमा से नवाजते हैं और कहते हैं— 'बेहद लम्बी नाराज़ बाहें'।

पाश अपनी हर कविता में इस बात का ख़ास ख़्याल रखते हैं कि अच्छे विचार सहज शब्दों का एक अद्वितीय लिबास पहनकर सामने आये। पाश की कविता में शब्द दिल के लहू में डूबकर आते हैं और तभी तो वे पूरे आत्मविश्वास के साथ कह उठते हैं—

*''शब्द हैं कि पत्थरों पर घिस-घिसकर बह जाते हैं*
*लहू है कि तब भी गाता है।''*

दोनों कवियों के यहाँ शोषण और दमन के खिलाफ आवाज़ बुलंद है, ये कवि कविता को जीवन के नजदीक लाकर उसके माध्यम से अपना संदेश जन-जन तक पहुँचाते हैं और कवि गोरख एक ज़रूरी हिदायत ही दे डालते हैं—

*''कविता, युग की नब्ज धरो''*

आज जरूरत है एक नई सौन्दर्य दृष्टि की जो बदलते हुए रूप और उसकी रफ्तार से वाकिफ करा सके। बुराई की परतें उघाड़कर असलियत को पेश करने की ज़रूरत है।

'इनकार' कविता में पाश की उद्घोषणा है कि वे अपने वर्ग से जुड़े हैं और जुड़े रहेंगे और व्यवस्था के किसी भी सौन्दर्यबोध को स्वीकार नहीं करेंगे।

गोरख और पाश दोनों कवि परम्परित सौन्दर्य को स्वीकार नहीं करते हैं। परिवर्तनशीलता में तथा यथार्थवादी सौन्दर्य में विश्वास करते हैं।

रूप के स्तर पर तथा भाव के स्तर पर गोरख और पाश दोनों कवियों की कविताएँ अपने आप में सफलता के पायदान पर है, पाश और गोरख की कविता की सबसे बड़ी विशेषता उसकी बिम्बावली है। पूरी भारतीय कविता में यह एक नई किस्म की बिम्बावली थी।

पाश के यहाँ कुछ बिम्बों में चौंकाने वाली प्रवृत्ति भी मिलती है, जैसे 'युद्ध और शान्ति' कविता में शान्ति के लिए 'गाँधी के जांघिए' की उपमा।

इस प्रकार गोरख और पाश की कविता को और उनके सौन्दर्यबोध को कुछ कविताओं के माध्यम से आँकना दुष्कर है। इनकी कविताएँ स्वतंत्र विश्लेषण की माँग करती हैं। फिर भी कहा जा सकता है कि यद्यपि ये दोनों कवि प्रगतिशील विचारधारा के तथा एक युग के होने के साथ-साथ जनवादी धारा से भी जुड़े रहे, यहाँ तक कि इन्हें नक्सलवादी आन्दोलन का प्रमुख कवि भी माना जाता रहा है।

ये कवि विचारधारा एक होते हुए भी इनके यहाँ कहीं-न-कहीं से क्षेत्रीय रूप, क्षेत्रीय बोली का व्यापक प्रभाव दिखाई पड़ता है। यहाँ पर यह बहस बिल्कुल निरर्थक जान पड़ती है कि गोरख बड़े कि पाश ...? पंजाब के जन कवि पाश और उत्तर प्रदेश के जन कवि गोरख दोनों ही अपने युग में सम्प्रेषणीय और प्रासंगिक बने हुए हैं ..... और आगे भी बने रहेंगे ... क्योंकि ध्यान रहे ... ''इतिहास अपने को दुहराता है ... वर्ग-संघर्ष की खाई कहीं पटती नजर नहीं आ रही ...।''

❑

म. गाँ. अं. हि.,
वि. वर्धा,
पी-एच.डी. हिन्दी, (तु.सा.)


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# भूमण्डलीकरण और हिन्दी का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

**अनुजा बेगम**

*''भारतीय भाषाएँ नदियाँ हैं और हिन्दी महानदी।''*

—गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर

किसी भाषा को देखने के तीन संदर्भ होते हैं—उस भाषा का अपना क्षेत्रीय संदर्भ, उस भाषा का अपना राष्ट्रीय संदर्भ और उसका अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ। भूमण्डलीकरण के इस दौर में, हिन्दी भाषा ही एक ऐसे भाषा-परिवार की एक आधुनिक भाषा है जो विश्व में सबसे बड़ा है तथा जिसके बोलने वाले की संख्या विश्व में सबसे ज्यादा हैं। संसार की भाषाओं में हिन्दी भाषा को तृतीय स्थान प्राप्त है। इसके बोलने वालों की संख्या तीस करोड़ के आसपास है।

डॉ. सुशील कुमार चटर्जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Indoahyan and Hindi' में कही थी—''जहाँ तक बोलने वालों की संख्या का प्रश्न है, हिन्दी भाषा विश्व में तीसरे नम्बर पर है। विश्व में सबसे अधिक बोलने वालों की संख्या चीनी की है, दूसरे नम्बर पर अंग्रेजी है और तीसरे नम्बर पर हिन्दी।'' हिन्दी भाषा की बोलियाँ, उप-बोलियाँ तथा उसके स्थानीय रूप भी विश्व में किसी अन्य भाषा से कहीं अधिक हैं। अत: हिन्दी का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना महत्त्व है, विशेषकर भूमण्डलीकरण के इस दौर में।

*''असतो मा सद्गमया॥*
*तमसो मा ज्योर्तिगमया॥*
*भृत्योर्मा अमृतम् गमया॥''* —रूपी भारतीय

संस्कृत मूलत: विश्व-संस्कृति की प्राचीनतम रूप है। भारतवर्ष एशिया महादेश की एक प्रमुख देश है, अत: यहाँ की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। एशिया महादेश की भाषाओं में हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जो अपने देश के साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय देशों में भी बोली और लिखी जाती है। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने हिन्दी भाषा के संदर्भ में



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लिखा है कि—भारतीय भाषाएँ नदियाँ हैं और हिन्दी महानदी। हिन्दी में यदि और नदियों का पानी आना बन्द हो जाए तो हिन्दी स्वयं सूख जाएगी और यह नदियाँ भी भरी-पूरी नहीं रह सकेंगी।

आज भूमण्डलीकरण के इस दौर में देखा जाय तो भारतीय संस्कृति क्रमशः विश्व-संस्कृति में अपना एक अलग पहचान बनाया है। विश्व-संस्कृति आज भारतीय संस्कृति से जुड़े हुए हैं तथा 'हिन्दी' ही वह कड़ी है; जो विश्व-संस्कृति एवं भारतीय-संस्कृति के बीच की समन्वय की एकता को मजबूत बनाया है। आज से लगभग कई वर्ष पूर्व 'विश्व हिन्दी सम्मेलन' में 11 जनवरी, 1975 को विश्व हिन्दी नगर के मुख्य पंडाल में जो गोष्ठी हुई थी, उस गोष्ठी का प्रारम्भ करते हुए मॉरीशस के युवा क्रीड़ा-मंत्री श्री दयानन्दलाल वसंतराय ने जो कामना की वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने कहा—

''हिन्दी की गंगा द्वारा प्रदान की गई यह विश्वव्यापी भावात्मक एकता अमर रहे और संसार के विभिन्न भागों में बसे हुए हिन्दी भाषा-भाषी लोग सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं भावात्मक स्तर पर एक-दूसरे के अधिक-से-अधिक समीप आकर एक ऐसे भाइचारे में बँध जाएँ जो सद्भाव, सहयोग, संवेदन, सहिष्णुता तथा मैत्री पर आधारित हो।''

उन्होंने मॉरीशस में हिन्दी की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा था—

''मॉरीशस में हिन्दी के प्रति बहुत उत्साह है। हिन्दी हमारी संस्कृति और धर्म की भाषा है। हमारे उन्मुक्त चिंतन की भाषा है। इसके द्वारा हम विश्व के एक बहुत बड़े जन-समुदाय के साथ जुड़े हैं। उससे कटना हमारे लिए सम्भव नहीं। हिन्दी भारत की राजभाषा है। हमें भारत से सहज-स्वाभाविक प्रेम है। उसकी उन्नति हमें सुख देती है और विपन्नता दुःख।''

अतः भूमण्डलीकरण मूल रूप से दो बातों से जुड़ी हुई हैं—'निजीकरण' एवं 'उदारीकरण'। आज इस वैश्वीकरण में, भारतवर्ष की 'राष्ट्रभाषा एवं राजभाषा' 'हिन्दी' स्वराष्ट्र के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी अपना सम्बन्ध स्थापित किये हैं।

भूमण्डलीकरण का तात्पर्य हैं—आर्थिक उदारीकरण। भूमण्डलीकरण के दौर में, आज विश्व की अर्थव्यवस्थाओं का उदारीकरण हो रहा है। भारत में १९८३ (1983) में प्रौद्योगिकी नीति का निर्माण हुआ था। भारत का भूमण्डलीकरण की बुनियादी मान्यता यह है कि—अमेरिका की राजनीतिक-आर्थिक चौधराहट और यूरोप की सभ्यतामूलक विश्व-दृष्टि के तहत संचालित यह प्रक्रिया भारतीय लोकतंत्र के संस्थापक मूल्यों और संरचनाओं को बेहद रफ्तार और निर्ममता से बदले दे रही है।

भूमण्डलीकरण के इस दौर में, जिस तेजी के साथ विश्व में परिस्थितियाँ बदलती जा रही हैं; भारत उनसे अछूता नहीं है। दरअसल आज भारत इस बदलाव के पटल पर एक सशक्त नायक के रूप में उभर रहा है। विभिन्न क्षेत्रों में नए इतिहास की रचना की जा रही है। आज भारत अंतरिक्ष कार्यक्रम, कम्प्यूटर, सूचना प्रौद्योगिकी, प्रतिरक्षा, नाभिकीय कार्यक्रम, कृषि, मानव-स्वास्थ्य, महासागर विकास जैसे क्षेत्रों में विशाल मानचित्र पर एक सशक्त पहचान बना चुका है। भारतवर्ष आज एक सशक्त विश्व-शक्ति के रूप में उभर रहा है।

आज हिन्दी तकनीक एवं सूचना प्रौद्योगिकी के साथ कदम मिलाकर चलने में समर्थ है जिससे वह 'ग्लोबल विलेज' में प्रवेश कर चुकी है। प्राचीन भारतीय संस्कृति में ज्ञान का महत्त्व था। वर्तमान युग में, सूचना प्रौद्योगिकी ज्ञान की केन्द्र-बिन्दु है। आवश्यकतानुसार, विभिन्न दिशाओं में ज्ञान का सम्प्रेषण करना प्रौद्योगिकी का मुख्य उद्देश्य है। आज भारत प्रौद्योगिकी उन्नति को अपनाकर द्रुत गति से


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

विकास कर रहा है और जापान, अमेरिका जैसे विकसित देशों की श्रेणी में खड़ा होने जा रहा है।

हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा है। भूमण्डलीकरण के इस दौर में आज भारतवर्ष के बाहर भी हिन्दी का व्यापक प्रचार-प्रसार हो रहा है। हिन्दी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मात्र विचाराभिव्यक्ति का साधन नहीं, वह राजनीतिक और सांस्कृतिक उद्देश्यों की प्राप्ति का भी एक समर्थ साधन सिद्ध हो चुकी है। हिन्दी का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग यह है कि हिन्दी के विश्व-मैत्री की ऐक कड़ी होने का।

'द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन' में 'धर्मयुग' के यशस्वी संपादक डॉ. धर्मवीर भारती ने कहा था—

''मैं संसार में मॉरीशस का विशेष महत्त्व इस दृष्टि से भी मानता हूँ कि यह एक ऐसा देश है जिसने अपनी आजादी की लड़ाई हिन्दी भाषा के सहारे लड़ी और उन मूल्यों की, मानव अस्मिता की उस स्थापना के लिए उस अपनी भाषा के माध्यम से प्रयास किया।''

और मॉरीशस ही क्यों, फ्रीजी में भी काफी कुछ यही हुआ। और भारत में? भारत में देश की आजादी की लड़ाई में महात्मा गाँधी ने हिन्दी के अस्त्र का ही सहारा लिया। वे प्रायः 1910 से ही कहा करते थे कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का सवाल मेरे लिए देश की स्वतंत्रता से कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

वेस्टइंडीज, गियाना, ट्रिनिडाड, सूरीनाम या कुछ अन्य देशों में हिन्दी सांस्कृतिक एकता का एक समर्थ साधन है।

14 सितम्बर, 1949 सन् भारतीय इतिहास की एक गौरवपूर्ण तिथि है, क्योंकि इसी दिन स्वतंत्र भारत की संविधान सभा ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा और देवनागरी को राष्ट्रलिपि घोषित किया था।'एक हृदय हो भारत जननी'— यही मूल मन्त्र राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार का मूल ध्येय है।

भूमण्डलीरण के इस दौर में, हिन्दी का विश्व-विस्तृत फैलाव को देखते हुए यह नारा लगाया जा सकता है कि—'एक हृदय हो विश्व जननी।'

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर देखा जाय तो वहाँ हिन्दी पढ़ने वाले लोग दो तरह के हैं—विदेशी एवं प्रवासी भारती। विदेशों में हिन्दी अधिकतर हमारे मज़दूर भाइ-बहिनों के साथ गई। उनकी यह सांस्कृतिक धरोहर रही और अपने सत्व से वहाँ कायम रही। हिन्दी का जन्म संस्कृत और जनता की आम भाषा के मिलने से हुआ। इस भाषा को अहिन्दी भाषा-भाषियों ने सँवारा और बढ़ाया। केशवचन्द्र सेन, राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गाँधी जैसे अहिन्दी भाषा-भाषी महान पुरुषों ने इसका प्रचार किया और इसे बल दिया। विदेशी विद्वानों ने भी इसकी सेवा की और ग्रियर्सन जैसे व्यक्तियों ने हिन्दी में ज्ञान का खजाना बढ़ाया। महात्मा गाँधी ने कहा कि यदि भारत को एक राष्ट्र बनाना है तो चाहे कोई माने या न माने, राष्ट्रभाषा तो हिन्दी ही बन सकती है। तमिल के महाकवि सुब्रह्मनियम भारती ने भी राष्ट्र की एकता के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी पर ही जोर दिया।

विदेशों के लिए हिन्दी प्रेम और सद्भाव की वाहिका है। विदेशी लोग हिन्दी सीखते हैं; जिनका प्रमुख कारण निम्नलिखित है—

(i) भारत से अपने को आर्थिक, व्यापारिक, सामाजिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से जोड़ना।

(ii) हिन्दी में बातचीत करना।

(iii) हिन्दी फिल्मों और उनके गीतों को समझना।

(iv) अकादमिक दृष्टि से हिन्दी का गहन अध्ययन करना।



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

विदेशी हिन्दी विद्वानों ने हिन्दी में साहित्यिक रचनाएँ की हैं; शब्दकोश लिखे हैं और हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध रचनाओं का अपनी-अपनी भाषा में अनुवाद किया है। आज हिन्दी भाषा केवल भारत तक ही सीमित नहीं है। वह अपने पड़ोसी देश पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका में भली प्रकार बोली और समझी जाती है। नेपाल की तो प्रमुख भाषा है। इसके अतिरिक्त मॉरिशस, फिजी, ट्रिनिडाड और सूरीनाम का बहुसंख्यक जन-समाज भारतीय प्रवासियों का है, जिनकी मूल भाषा आज भी हिन्दी है। वहाँ स्कूलों में हिन्दी पढ़ाई जाती है। इन देशों में हिन्दी के समाचार-पत्र और पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होते हैं। फिजी और मॉरिशस में हिन्दी को संवैधानिक मान्यता प्राप्त है। मॉरिशस में हिन्दी के अनेक लब्धप्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। वहाँ के विद्यालयों में अधिक संख्या हिन्दी माध्यम स्कूलों की है। संयुक्त राष्ट्रसंघ में हिन्दी की मान्यता का प्रस्ताव इन्हीं देशों का संयुक्त प्रयास था। इन्हीं देशों में से किसी-न-किसी देश में प्रतिवर्ष 'विश्व हिन्दी सम्मेलन' का आयोजन होता है, जिसमें विश्व भर के प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं।

योरोप का कोई ऐसा देश नहीं जहाँ हिन्दी भाषी लोग बहुत संख्या में न बसे हों। इसलिए इन देशों में न्यूनाधिक रूप में हिन्दी के पठन-पाठन की भी व्यवस्था है। रूस, जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली, चेकोस्लाविया, रूमानिया आदि देशों के विश्वविद्यालयों में एम.ए. और पी-एच.डी. स्तर तक हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की समुचित व्यवस्था है। अमेरिका के अनेक विश्वविद्यालयों में भी एम-ए. स्तर तक हिन्दी की नियमित कक्षाएँ चलती हैं। जापान में भी बड़ी संख्या में लोग हिन्दी जानते हैं। कुछ जापानी लेखकों द्वारा हिन्दी में लिखे गए बाल-उपन्यास, कहानियाँ और निबन्ध भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। स्पष्टत: हिन्दी केवल भारत की ही नहीं, बल्कि एशिया तथा अन्य कई देशों के सांस्कृतिक स्पंदन की भाषा है। उसका विश्व भर में प्रसार है। वह विश्व भाषाओं में अंग्रेजी और चीनी भाषा के बाद तीसरा स्थान रखती है।

हिन्दी आज विश्व भाषा के रूप में अनेक देशों में तेजी से लोकप्रिय होती जा रही है और विश्व के विराट फलक पर अपने अस्तित्व को आकार दे रही है। हिन्दी मात्र एक भाषा ही नहीं, भारतीय संस्कृति की सबल, समर्थ और सशक्त संवाहिका है, जो विदेशों में बसे करोड़ों की संख्या में प्रवासी भारतीयों और भारत मूल के लोगों के बीच आत्मीयता के सम्बन्ध-सूत्र स्थापित करने और उन्हें भारत, भारतीयता तथा भारतीय संस्कृति से निरन्तर जोड़े रखने में एक सशक्त माध्यम का काम करती है। इसी में वे अपनी अस्मिता की पहचान भी पाते हैं।

चीन के बाद विश्व का सबसे बड़ा बाजार होने के कारण भारत से सहज सम्पर्क बनाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विदेशी लोग हिन्दी सीखने के लिए उत्सुक हैं। आज हिन्दी का बाजारीकरण हो रहा है एवं भूमण्डलीकरण के फलस्वरूप भारतवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय देशों से आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक एवं साहित्यिक क्षेत्रों से जुड़ गये हैं। इससे हिन्दी का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और भी मजबूत हो गया।

विश्व के अनेक देशों के विश्वविद्यालयों में हिन्दी शिक्षा दी जाती है, जिनमें मॉरीशस, फीजी, हॉलैण्ड, जर्मनी, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, थाईलैण्ड, उजबेकिस्तान, तजाकिस्तान, क्रोएशिया, कनाडा, चीन, जापान, रोमानिया, बल्गारिया, रूस, हंगरी और पोलैण्ड आदि देश प्रमुख हैं। अकेली अमेरिका के CO से अधिक विश्वविद्यालयों में हिन्दी शिक्षण की सुविधा उपलब्ध है। जिन देशों में हिन्दी शिक्षण की औपचारिक शिक्षा व्यवस्था में स्थान नहीं मिला, वहाँ भारतीय समुदाय की स्वयंसेवी संस्थाएँ हिन्दी का अध्यापन करती हैं। स्वाधीन भारत की राजभाषा और बहुसंख्यक समाज की सम्पर्क भाषा होने के कारण हिन्दी का विश्व-परिदृश्य बहुत व्यापक हो रहा


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है। भारतवर्ष के अहिन्दी भाषी प्रदेशों में भी हिन्दी का व्यापक प्रचार-प्रसार हो रहा है।

एशियाई देशों में हिन्दी का प्रचार-प्रसार होने वाले देशों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

**(1) दक्षेस (सार्क के देश) के देश**—भारतवर्ष, नेपाल, पाकिस्तान, भूटान, बांग्लादेश, मालदीव, श्रीलंका।

**(2) दक्षिण-पूर्व एशिया के देश**—लाओस, थाइलैण्ड, कम्बोडिया, म्यांमार।

*(3) चीन, जापान और बौद्ध संस्कृति से प्रभावित देश।*

**(4) अरब और इस्लाम की संस्कृति से प्रभावित देश**—ईरान, इराक, अफगानिस्तान, सऊदी अरब, कतर, ओमान, यमन, मध्य एशिया के देश—कजाकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान, उजबेकिस्तान, संयुक्त अरब अमीरात (दुबई)।

**यूरोप में हिन्दी जानने वाले देश**—रूस, ब्रिटेन, नार्वे, जर्मनी, फ्रांस, हॉलैण्ड।

*अफ्रीका के देश, जहाँ भी हिन्दी प्रचार-प्रसार हो रहा है, क्रमशः*—मॉरीशस, सूरीनाम, दक्षिण अफ्रीका।

**अमेरिका में हिन्दी जानने वाले देश**—मयाना, ट्रिनिडाड एण्ड टोबैगो, फिजी (विश्व के कुछ हिन्दी जानने वाले अन्य देश)।

उपर्युक्त देशों में हिन्दी का प्रचार-प्रसार हुआ एवं मॉरिशस, फिजी, सूरीनाम (दक्षिणी अमरीका), गुयाना (दक्षिण अमरीका), ट्रिनिडाड (वेस्टइंडीज), दक्षिणी अफ्रीका, बर्मा, नेपाल, हॉलैण्ड, इंग्लैण्ड, कनाडा, जापान, सोवियत संघ तथा चीन आदि देशों में हिन्दी पत्र-पत्रिका का भी प्रचार-प्रसार हुआ। हिन्दी पत्रकारिता का भविष्य उपर्युक्त देशों में मात्र मॉरिशस, फीजी, सूरीनामी, गुयाना तथा दक्षिणी अफ्रीका में ही उज्ज्वल है, अन्य देशों में बर्मा, नेपाल, हॉलैण्ड के सम्बन्ध में सनिश्चय कुछ कहना, कम-से-कम आज बहुत कठिन है।

भूमण्डलीकरण के कारण जहाँ अंग्रेजी का दायरा व्यापक हुआ है, वहीं हिन्दी की भी जरूरत बढ़ी है। देश की बहुत बड़ी जनसंख्या हिन्दी बोलती है। भारत के बाहर भी कई देशों में हिन्दी भाषियों का बाहुल्य है, इसलिए व्यापारिक कम्पनियाँ चाहे देशी हो या विदेशी, अपना माल बेचने के लिए हिन्दी की उपेक्षा नहीं कर सकती। अतः व्यापारिक संस्थानों में हिन्दी की जानकारी रखने वालों की आवश्यकता तो रहेगी ही। विश्व बाजार ने तो हिन्दी की ताकत को पहचाना है, किन्तु हिन्दी अपनी इस ताकत को कब पहचानेगी। निश्चय ही इसके लिए राष्ट्रीय सोच की आवश्यकता है, मानसिकता बदलने की आवश्यकता है और आवश्यकता है राजनीतिक इच्छा-शक्ति की। अतः राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन ने कहा है—"भाषा और संस्कृति से खिलवाड़ करने वाली राजनीतिज्ञ आते हैं और चले जाते हैं। भारतीय संस्कृति की प्रतीक हिन्दी सदा अमर रहेगी।"

निष्कर्षतः आधुनिक युग विज्ञान और तकनीकी का है। इसकी मानव की प्रगति के लिए बहुत आवश्यकता है। ज्ञान दिन-प्रतिदिन तीव्र गति से बढ़ रहा है। हिन्दी में विज्ञान और तकनीकी के साहित्य को बहुत बड़े पैमाने पर बढ़ाना चाहिए। आजकल बच्चों के कार्यक्रम में हिन्दी का ही अधिक उपयोग हो रहा है। हिन्दी तब बढ़ेगी जब उसमें विज्ञान और ज्ञान का ऐसा साहित्य रचा जाए जिसे विश्व की अन्य भाषाएँ भी ग्रहण करने के लिए उत्सुक हो। हिन्दी को गुणों से भरना है और ऐसे विचार से भरना है कि यह जनता के हित में अधिक से अधिक ज्ञान दे सके।

शब्द को तो भारत में ब्रह्म कहते हैं। ऐसे ही हिन्दी को व्यापक होना चाहिए। शब्दों का तो बहुत बड़ा खजाना है किन्तु यह खजाना उपयोगी तभी होगी जब शब्दकोशों



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

में बन्द न रहे और इसका प्रयोग हो, हमारे प्रतिदिन के जीवन में। भाषा आदान-प्रदान का माध्यम है। राजनीतिक भेदभाव लाने से उसका महत्त्व घटता है।

हिन्दी में नवीन विचार, ज्ञान एवं मनुष्य के दुःख-दर्द का साहित्य बढ़ाना चाहिए ताकि लोगों को उससे सन्तुष्टि हो और अपनापन दिखे। हमारे देश में त्रिभाषा सूत्र है। मातृभाषा तो आवश्यक है ही, राष्ट्रभाषा अन्य भाषाओं के बीच कड़ी है और एक बाहरी भाषा अन्तर्राष्ट्रीय कड़ी के रूप में चाहिए—इससे राष्ट्र की एकता को बल मिलेगा, अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री बढ़ेगी और संसार से ज्ञान लेने और दे के लिए दरवाजे खुले रहेंगे।

आज भूमण्डलीकरण के इस दौर में हिन्दी ने विश्व-मैत्री स्थापन करने में अपना सशक्त पहचान दिखाया है। आज भूमण्डलीकरण के कारण ही हिन्दी का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी जुड़ गये हैं। सात्विक हृदय द्वारा विश्व-मानव हिन्दी को आगे बढ़ाये एवं हिन्दी भाषा भी अपनी भव्यता से आगे बढ़ें। जैसे-जैसे वैश्वीकरण बढ़ेगा, हिन्दी भी बढ़ेगी। जितना बाजारवाद बढ़ेगा—हमारी भाषाएँ उतनी ही आगे बढ़ेंगी।

अन्त में, भव्य भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी विश्व-भाषा पर अपना समन्वयात्मक एकता को स्थापित कर सकें उसी आशा सहित राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्तजी द्वारा कही गई पंक्ति से अपनी लेखनी को विराम देना पसन्द करूँगी—

*''है भव्य भारत ही, हमारी मातृभूमि हरी भरी।*
*हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा, और लिपि नागरी।।''*

## संदर्भ


1. डॉ. भोलानाथ तिवारी—हिन्दी भाषा का अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ।
2. अज्ञेय—भारत का भूमण्डलीकरण।
3. डॉ. (श्रीमती) विनोद बाला अरुण—विश्व हिन्दी पत्रिका।
4. डॉ. रमेश 'तरुण'—प्रयोजनमूलक हिन्दी।
5. शरद भटनागर एवं डॉ. (श्रीमती) भारती शर्मा—प्रयोजनमूलक हिन्दी।
6. डॉ. मलिक मोहम्मद—राजभाषा हिन्दी : विकास के विविध आयाम।
7. चित्र महन्त—राष्ट्रभाषा-प्रचार : एक झाँकी।
8. डॉ. देवीदत्त शर्मा एवं डॉ. कृष्ण मधोक—भारत की सम्पर्क भाषा।
9. डॉ. वासुदेवनन्दन प्रसाद—आधुनिक हिन्दी व्याकरण और रचना।
10. शैल—भाषा-भारती।
11. श्रीमती प्रकाशवती 'दुग्गल' एवं श्यामजी गोकुल वर्मा—हिन्दी शिक्षण।
12. डॉ. नगेन्द्र—हिन्दी साहित्य का इतिहास।


❑

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
पाण्डु महाविद्यालय,
गुवाहाटी-12 (असम)



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu



# जीवन के बदलाव को अभिव्यक्त करती कहानियाँ 'समय कभी थमता नहीं'

**डॉ. अजय अनुरागी**

पुस्तक : समय कभी थमता नहीं
(कहानी संग्रह)

लेखक : हेतु भारद्वाज

प्रकाशक : पंचशील प्रकाशन,
फ़िल्म कॉलोनी, जयपुर–302003

वर्ष : 2012

पिछले पाँच–छ: दशक से कहानी लेखन में सक्रिय वरिष्ठ कथाकार एवं साहित्यकार हेतु भारद्वाज की विभिन्न समय में लिखी गयी कहानियों का संग्रह है 'समय कभी थमता नहीं'। इन कहानियों से गुजरते हुए समय के साथ बदलते जीवन के विभिन्न उतार–चढ़ावों को गम्भीरता के साथ महसूस किया जा सकता है।

पुस्तक में संग्रहीत कहानियाँ विभिन्न विषयों एवं परिवेश को चित्रित करने वाली कहानियाँ हैं जिससे पाठक को ताजगी का अनुभव होता रहता है। इन कहानियों में ग्रामीण परिवेश की यथार्थवादी अभिव्यक्ति मिलती है। समय के साथ–साथ ग्रामीण जीवन में व्याप्त विसंगतियाँ और विडम्बनाएँ इन कहानियों में प्रमुख रूप में उभरकर आयी हैं।

हर कहानीकार समय के परिवर्तन को अपने ढंग से अनुभव करता है और उसे व्यक्त करने की शैली भी उसकी अपनी होती है। हेतु भारद्वाज अपनी कहानियों मे समय की निर्बाध अभिव्यक्ति करते हैं। पुस्तक के शीर्षक नाम की कहानी 'समय कभी थमता नहीं' में इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है। बेतरतीबी से लिखी गयी इस कहानी में अलग–अलग संदर्भों में भी अन्त: जुड़ाव है जो हमारे मन की पर्तों को खोलता चलता है। यह बात सही है कि ''भाषा मन की बात ही नहीं कहती, समय के प्रवाह की गाँठें भी खोलती है'' और यह भी कि ''सीमाएँ हम बनाते हैं ताकि उन्हें तोड़ सकें''। किन्तु जब सीमाएँ टूटती हैं, परम्पराएँ ध्वस्त होती हैं तो काका सरीखे पुरातन से चिपके हुओं को परेशानी होती है जिन्हें अपने नव विवाहित पुत्र एवं बहू का नहर की पटरी पर घूमना अच्छा नहीं लगता। जबकि आगे चलकर युवक और युवतियों की नहर के किनारे घूमने की नयी परम्परा बन जाती है। पुरानी परम्परा को तोड़कर नयी परम्परा की शुरुआत में विरोध एवं अवरोध तो सहना ही पड़ता है। नयी लीक भी तभी बनती है। इस कहानी का दूसरा संदर्भ एक शोधार्थी



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

से जुड़ा हुआ है। यह शोधार्थी भी परामर्शदाता के समक्ष नि:संकोच अपनी बात कहती है। बात ही बात में वह पारिवारिक स्थिति भी बता देती है ताकि अपना विवाह स्वयं कर सके। अपनी पीड़ा बताते हुए कहती है—''मेरे पास तो पिता बदलने की सुविधा भी नहीं है। माँ ने बहुत सहा है। औरत के लिए अपने पति को शेयर करना बहुत मुश्किल होता है, सर।'' आगे चलकर यह लड़की अपने ब्याय फ्रेंड से शादी कर लेती है। घर वालों की सहमति के बिना ही साहसी कदम उठा लेती है।

इस कहानी में तीसरा संदर्भ बिंदा का आता है जिसके निधन की सूचना लेखक को खत से प्राप्त होती है। बिंदा का चरित्र बिंदास किस्म का रहा है—''गाँव के लोगों के लिए बिंदा या तो साली थी या मामी। पर बिंदा ने सबसे साली का सम्बन्ध निबाहा। गाँव में मान्यता थी कि साली आधी घरवाली होती है पर बिंदा मर्जी से गाँव के कई लोगों की घरवाली रही। इतना ही नहीं बिंदा ने गाँव के किशोरों को अच्छी ट्रेनिंग दी। उसने स्वयं को तो उनके प्रशिक्षण का केन्द्र बनाया ही गाँव की किशोरियों को भी उनका हमराज बनाया। एक प्रकार से बिंदा का व्यक्तित्व ऐसा रहा कि पूरे गाँव ने उसका मजा लिया। उसकी किसी गतिविधि पर गाँव के लोगों को एतराज नहीं हुआ। जब उसके पति का निधन हो गया तो उसने गाँव के एक मान्य व्यक्ति से शादी कर ली। शायद यह तथ्य अन्यत्र नहीं मिलेगा कि बिंदा के आधे बच्चे उसके पति को फूफा कहते थे और आधे पापा।'' यह कहानी ग्रामीण सम्बन्धों की पड़ताल करती है। इस सम्बन्ध में कहानीकार का मानना है कि ''आधुनिकता के तत्त्व तो हर समय और हर समाज में होते हैं।'' इस कहानी के तीनों पहलू आधुनिकता और स्त्री स्वतंत्रता से जुड़े हुए हैं। बेतरतीब बिखरे हुए तीन कथानक एक कहानी में गूँथ दिये गये हैं। तीनों भिन्न-भिन्न होते हुए भी आंतरिक लय से सम्बद्ध हैं।

संग्रह में 'पराजय दर पराजय' की सोमा हो या 'फरागती' की चंदा हो, 'बीत गयी वो बात गयी' की बन्नो हो या 'सपनों का सफर' की सुमी रानी सब कहानियों में स्त्री की छटपटाहट है। यह छटपटाहट कहीं पति पीड़ा से उत्पन्न है तो कहीं पारिवारिक प्रताड़ना से उत्पन्न है तो कहीं समाज के बंधन से प्रकट हुई है।

'एसी और हैला हाय' ईंट-भट्टे वाले धनपत की कहानी है जो डिग्री कॉलेज खोल लेता है तथा उसे भी ईंट भट्टे की तरह ही चलाना चाहता है। धन बल से किस तरह व्यक्ति अपने काम निकलवा लेता है इसका खुलासा इस कहानी में हुआ है। 'भुवन बिहारी की जीत' कहानी राजनेताओं और उनके समर्थकों द्वारा समाज में की जाने वाली अभद्रता और अराजकता को बयान करती है। दूसरी ओर यह भी सिद्ध करती है कि राजनीति में विजय प्राप्त करनी है तो गुंडे-बदमाशों का समर्थन प्राप्त करना ही पड़ेगा। 'रिसता हुआ जख्म' कहानी में प्रधान द्वारा बाढ़ पीड़ितों को मदद दिलाने के नाम पर उनसे बेगार करवाने तथा उनके शोषण पर आधारित है। जो भी विरोध करता है उसे दबा दिया जाता है। बोदू और तीतरबाज प्रधान की शिकायत तहसीलदार से करते हैं—''साब, हमारे गाँव में जिन लोगों को पैसा दिया जा रहा है, उनमें काफी ऐसे हैं जिनका कोई नुकसान नहीं हुआ। परधान ने मनमानी की है। गरीब तो बेचारे रह ही गये हैं। बोदू ने जैसे गिड़गिड़ाकर कहा। हमारा तो सब कुछ बह गया फिर भी हमें मदद नहीं मिल रही।'' तीतरबाज ने कहा। इस घपले में तहसीलदार भी शामिल था। दोनों के विरोध को कुचल दिया गया। फिर भी उनके द्वारा किया गया विरोध इस दमन से बचने के लिए जरूरी है।

संग्रह में एक कहानी अंध श्रद्धा और अंध विश्वास के नाम पर व्यक्ति के मन में उठने वाले उहापोहों को उजागर करती है। समाज पीड़ित एक स्त्री को अनाचार के



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बाद मार दिया जाता है। जिस स्थान पर वह मार डाली जाती है उसे देवी का पवित्र स्थान घोषित कर दिया जाता है। पूजा-अर्चना शुरू हो जाती है, मेला भरने लग जाता है। लोग अपने इलाज के लिए वहाँ दूर-दूर से आने लगते हैं। इस तरह पाखंड शुरू हो जाता है। जबकि असलियत कुछ और ही है। पीपल वाली देवी के अनुसार—''प्रधान तथा उसके आदमियों ने यही प्रचारित किया कि डाकुओं से लड़ते-लड़ते मैं मारी गयी। मैंने गाँव के लिए बलिदान किया और रातोंरात पीपल वाली माता बनकर पुजने लगी। बदनसीब चंदा देवी बन गयी। प्रधान तथा उसके लोगों ने चंदा इकट्ठा कर यह मन्दिर बनवाया और यह सारा पाखंड शुरू किया।''

कई बार घर-परिवार में रोगी की मनोदशा को देखते हुए उसके अनुरूप ही इलाज के लिए जाना पड़ता है। भले ही हम उसके सख्त विरोधी ही क्यों न हों? लेखक भी अपनी पत्नी की इस तरह की बीमारी के प्रति कोई सहानुभूति नहीं दिखाता है किन्तु जब उसका स्वास्थ्य गिरता जाता है तो मजबूरन—''मैं उसके इलाज के लिए कहाँ-कहाँ नहीं भटका हूँ। साधु, फकीर, ओझा, बायगी, सयाने सभी के पास गया। कोई बताता कि अमुक साधु के पास चले जाओ, वह सारी बात बिना पूछे बता देगा और इलाज कर देगा। पर मुझे आज तक किसी माई के लाल ने बिना मुझसे पूछे कुछ नहीं बताया। कई बार तो इन धूर्त लोगों की मूर्खताओं पर मुझे गुस्सा भी आया है, पर सब कुछ चुपचाप पी गया हूँ। पूरे तीन साल काट दिये इन चक्करों में, पर कुछ नहीं मिला। पत्नी को भी लगने लगा कि सब ढोंग करते हैं, किसी के पास कुछ भी नहीं है। पर उसके मन का वहम दूर नहीं हो रहा। किसी डॉक्टर के पास चलने को वह तैयार नहीं हो पाती। उसकी दृढ़ धारणा है कि उसके ऊपर किसी ने कुछ करा रखा है। करने वाला इलाज करने वाले से ज्यादा ताकतवर है।''

इस तरह की धारणाएँ व्यक्ति के आत्मबल को कमजोर करती हैं। किन्तु समाज की इस सच्चाई को झुठलाया नहीं जा सकता है।

संग्रह में 'पंचायत राज' शीर्षक से प्रतीक कहानी भी है जो पंचतंत्र की याद दिलाती है। साथ ही दो आधुनिक लघु कथाएँ भी संकलित हैं जिनमें वर्तमान विकृतियों को कहानीकार ने व्यंग्य के माध्यम से उभारा है।

'समय कभी थमता नहीं' संग्रह निरन्तर परिवर्तित होते समय की स्थितियों-परिस्थितियों को कहानियों के द्वारा बेधने में सफल रहा है। निश्चित ही ये कहानियाँ मानवीय चिंताओं को अपने भीतर समेटे हुए हैं।

❑

संपादक, एक और अंतरीप

1, न्यू कॉलोनी, झोटवाड़ा-पंखा

जयपुर–302012



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu



# शोध विषयक सुझाव

आप जब मेरे विभाग में आये थे तो 'समय माजरा' निकालते थे, अपने साथ ले भी आये थे। मुझे 'पंचशील शोध समीक्षा' निकालने का पता इसके पहले वाले अंक से तब चला जब मैंने अपने अध्यक्ष के कमरे में देखा, माँगा, पढ़ा। 'समय माजरा' तो आप अच्छा निकालते थे और यह पत्रिका भी खूब मेहनत करके आप दोनों निकालते हैं। पत्रिका का स्तर देखकर ही मैंने अपना लेख भेजा था। ISSN नम्बर से महत्त्वपूर्ण मेरे लिए मेहनत से निकलने वाली पत्रिका का आकर्षण था, वर्ना तो आजकल ISSN नम्बर वाली व्यावसायिक साहित्यिक पत्रिकाओं की कमी नहीं है। मैं आपके इस दु:ख में शरीक हूँ और उपभोक्तावाद और बाजारवाद के जमाने का सच यही है कि चमकदार विज्ञापनी बिकाऊ चीजें ज्यादा चलेंगी।

डॉ. दयाशंकर
हिन्दी विभाग
सरदार पटेल विश्वविद्यालय
वल्लभ विद्यानगर-388120

मैंने वर्ष 2009 के प्रारम्भ में प्रकाशित आपकी पत्रिका 'पंचशील शोध समीक्षा' का अवलोकन किया। पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। इसमें आपके द्वारा प्रकाशित सामग्री लाजवाब है। मुझे लगा कि हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपनी समालोचनात्मक सामग्री के साथ शामिल होने के इच्छुक समीक्षकों के लिए यह एक भव्य प्रवेश द्वार है। साथ ही इस दिशा में शोध करने के इच्छुक शोधार्थियों के लिए भी सन्दर्भ के रूप में अद्‌भुत सामग्री प्रस्तुत करने वाली यह पत्रिका बहुत ही उपयोगी है।

डॉ. एस. कृष्णबाबु
दक्षिण भारतीय राजभाषा संस्थान
विशाखपट्टणम



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

'पंचशील शोध समीक्षा' हिन्दी जगत में प्रकाशित समकालीन राष्ट्र स्तरीय पत्रिकाओं में अग्रणी स्थान रखती है। इसमें प्रस्तुत सामग्री उच्च स्तरीय होने के साथ-साथ सभी विधाओं को समायोजित करती है। एक शीर्ष स्तर की साहित्यिक पत्रिका में जो सृजन होना चाहिए वह सब बातों, विषय-वस्तु से सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् रूप से यह पत्रिका सराबोर रहती है। मानो गुलशन में सदा मलयानिल बहती है जिससे पाठक मंत्र-मुग्ध हो जाते हैं। यह अति हर्ष का विषय है।

किन्तु 'जुलाई-सितम्बर-2012' का अंक हाथ में आते ही अत्यन्त दुःख की अनुभूति हो रही है। अपने चरम पर पहुँचकर एकाएक इस पत्रिका का लुप्त हो जाना शायद कोई भी पाठक स्वीकार नहीं कर पाएगा। सम्पादकीय में आपने बेबाक, लेकिन विनम्र, अत्यन्त साफगोई के साथ हिन्दी साहित्यानुरागियों, पाठकों, अध्यापकों की विसंगतियों एवं विकृतियों का आकलन करते हुए अपने-आपको प्रस्तुत किया, उसमें सत्यता है। इन तथाकथित साहित्यानुरागियों के लिए मैं केवल इतना कहूँगा-

*''ता उम्र ये खता हम करते रहे,*

*धूल चेहरे पे थी हम आईना साफ करते रहे।''*

अतः एक पाठक के नाते इस पत्रिका के पटाक्षेप को स्वीकार करना मेरे लिए भी सम्भव नहीं है। यह केवल एक पत्रिका की बात नहीं अपितु आने वाले समय में हिन्दी साहित्य के लिए एक खतरे की घंटी है, जिसे सभी को समझना होगा। मैं केवल इतना विनम्र निवेदन मात्र कर सकता हूँ कि कृपया यदि सम्भव हो तो इस निर्णय पर पुनः एक बार विचार किया जाए....

डॉ. संदीप रणभिरकर
नांदेड़ (महाराष्ट्र)

'पंचशील शोध समीक्षा' का अंक-17 यथासमय मिला। यह पढ़कर बड़ा दुःख हुआ कि आप इस पत्रिका के प्रकाशन को अंक-20 के बाद स्थगित कर रहे हैं। जैसे मैंने आपको फोन पर कहा था कि तीन सौ सदस्यों का परिवार बनाना भी पत्रिका की बहुत बड़ी सफलता है। आशा है आप पुनर्विचार करेंगे। प्रकाशक गुप्ता जी को भी मेरा विनम्र अनुरोध है कि वे इसे तुरन्त स्थगित ना करें और यह कदापि न सोचें कि 'पंचशील शोध समीक्षा' असफल हुई है।

डॉ. कुबेर कुमावत
प्लॉट नं. 8(ब), द्वारका नगर
पिंपले रोड, अमलनेर-425401
(महाराष्ट्र)

'पंचशील शोध समीक्षा' जैसी उच्च स्तरीय पत्रिका के स्थगन का समाचार पढ़कर बेहद पीड़ा हुई। आज शोध के नाम पर जिस तरह की कमाऊ पत्रिकाएँ निकल रही हैं उनका कोई महत्त्व है। हमारा तो यही निवेदन है कि पत्रिका का प्रकाशन जारी रखें। हम लोग पूरा सहयोग करेंगे।

डॉ. विनोद शाही
जालंधर (पंजाब)



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# शोध सूची

## हिन्दी विभाग

## मणिपुर विश्वविद्यालय, काँचीपुर, इम्फाल ( मणिपुर ) से पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त शोधार्थियों की सूची

**डॉ. एस. तोम्बा सिंह ( शोध निदेशक )**

| क्र.सं. | शोधार्थी | शोध विषय | वर्ष |
|---|---|---|---|
| 1. | चन्द्रेश्वर दुबे | हिन्दी और नेपाली भाषा की व्याकरणिक कोटियों का तुलनात्मक अध्ययन | 1985 |
| 2. | विक्टोरिया देवी | हिन्दी और मणिपुरी के प्रत्ययों का तुलनात्मक अध्ययन | 1987 |

**प्रो. के.एन.पी. मागध ( शोध निदेशक )**

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | लम्बोदर झा | पश्चिम बंगाल में मैथिली की विभाषा खुट्टा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन | 1986 |
| 2. | अनन्त कुमार नाथ | ग्वालपारा जिले का मनसा काव्य : पाठ संपादन और अनुशीलन | 1986 |
| 3. | मथुराप्रसाद शर्मा | बज्जिका और असमिया के संस्कार गीतों का तुलनात्मक अध्ययन | 1987 |
| 4. | रमा श्रीवास्तव | रामायनी कथा और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन | 1989 |
| 5. | गोरखनाथ मिश्र | राम-रसायन और रामरस-लहरी का तुलनात्मक अध्ययन | 1990 |
| 6. | दिनेश कुमार चौबे | रामायनी कथा और सप्तकाण्डर रामायण का तुलनात्मक अध्ययन | 1990 |
| 7. | नीराजना महन्त | मगही और असमिया लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन | 1992 |
| 8. | प्रीति श्रीवास्तव | आत्मरामायण और रामरस-लहरी का तुलनात्मक अध्ययन | 1996 |
| 9. | जीनत अहमद | हिन्दी और असमिया के मृगावती संज्ञक काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन | 1996 |
| 10. | रामप्रसाद प्रधान | छगनलाल जैन : व्यक्तित्व और कृतित्व | 1997 |
| 11. | ह. इबेयाइमा देवी | मिथक प्रयोग की दृष्टि से लक्ष्मीनारायण लाल की नाट्य कृतियों का अध्ययन | 1998 |
| 12. | ईरू श्रीवास्तव | गोस्वामी तुलसीदास के काव्यों में लोक तत्त्व | 2002 |



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

**प्रो. जगमल सिंह ( शोध निदेशक )**

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | श्याम लाल | लोकगाथाओं में कथानक रूढ़ियाँ | 1986 |
| 2. | अरुण प्रकाश ढौंडियाल | हिमांशु जोशी के आँचलिक कथा साहित्य में समसामयिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति | 1987 |
| 3. | लक्ष्मीनारायण कारपैंटर | राजस्थान और ब्रज के लोक गीतों का तुलनात्मक अध्ययन | 1991 |
| 4. | शेर सिंह | हिन्दी के प्रकृतिवादी उपन्यास | 1991 |
| 5. | हीरालाल प्रसाद | भोजपुरी और असमिया लोक गीतों का तुलनात्मक अध्ययन | 1994 |
| 6. | एस. लनचेनबा मीतै | हिन्दी और मणिपुरी की प्रमुख लोक गाथाओं में कथानक रूढ़ियाँ | 1996 |
| 7. | दीपा डेका | राजस्थानी और असमिया लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन | 1998 |
| 8. | ओ. सरजूबाला देवी | यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र की कहानियों में नारी पात्र | 1996 |
| 9. | लल्लन सिंह | भोजपुरी एवं राजस्थानी लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन | 2001 |

**प्रो. जवाहर प्रसाद सिंह ( शोध निदेशक )**

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | शारदा पाण्डेय | आँचलिकता के परिप्रेक्ष्य में फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों का अध्ययन | 1989 |
| 2. | सुरेश कुमार मिश्र | हिमांशु श्रीवास्तव के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन | 1992 |
| 3. | के. प्रमिला देवी | सातवें दशक की हिन्दी और मणिपुरी कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन | 1993 |
| 4. | एस. जेम्स | आँचलिकता के परिप्रेक्ष्य में रामदरश मिश्र के उपन्यासों का अध्ययन | 1995 |
| 5. | विनोद कुमार शर्मा | सामाजिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में अमरकान्त की कहानियों का अध्ययन | 1996 |
| 6. | डब्ल्यू. इबेयाइमा देवी | समकालीन महिला कहानीकारों की कहानियों में नारी मुक्ति-चेतना के विविध आयाम | 1997 |
| 7. | बेचन सिंह | हिन्दी कहानियों में मध्य वर्ग | 1988 |
| 8. | दीनानाथ | शिवप्रसाद सिंह के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन | 1998 |
| 9. | हीरालाल गुप्त | आँचलिकता के परिप्रेक्ष्य में नागार्जुन के उपन्यासों का अध्ययन | 1987 |



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

**डॉ. लम्बोदर झा ( शोध निदेशक )**

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | एल. इबेमहल देवी | भोजपुरी गीतिकाव्य के परिप्रेक्ष्य में मणिपुरी गीतिकाव्य अनुशीलन | 1992 |
| 2. | ऐेक. नरेन्द्रजीत सिंह | मणिपुर उपत्यका के प्रमुख स्थान तथा ग्राम नामों का भाषाशास्त्रीय अध्ययन | 1996 |

**प्रो. देवराज ( शोध निदेशक )**

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | ऋषमदेव शर्मा | सन् उन्नीस सौ सत्तर के पश्चात् की हिन्दी कविता का अनुशीलन | 1989 |
| 2. | जयशंकर राय | नई कविता की शिल्पविधि | 1994 |
| 3. | महेशचन्द्र सांख्यधर | साठोत्तरी हिन्दी नुक्कड़ नाटकों में समकालीन भारतीय राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिदृश्य | 1994 |
| 4. | सच्चिदानन्द चतुर्वेदी | अज्ञेय के निबन्धों का विश्लेषणात्मक अध्ययन | 1995 |
| 5. | टी-एच. सुरेन्द्र सिंह | हिन्दी साक्षात्कार साहित्य के विकास में अज्ञेय का योगदान | 1996 |
| 6. | टी.एच. एनिबोलिन देवी | विष्णु प्रभाकर के नाटकों में आधुनिक नारी | 1996 |
| 7. | दिनेश कुमार वर्मा | भारतीय जन-मानस और समकालीन हिन्दी कहानी (नौवें) | 2000 |
| 8. | ई. विजयलक्ष्मी | प्रमुख साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों का अध्ययन | 2003 |
| 9. | एस. सुशीला देवी | मणिपुरी नाट्य परम्परा : एक अध्ययन (1750-1850) | 2004 |
| 10. | पूनम शर्मा | हिन्दी उपन्यासों में स्वातंत्र्य चेतना की भाषिक अभिव्यक्ति | 2006 |
| 11. | बृज नन्दन यादव | बुन्देलखण्ड क्षेत्र में प्रचलित कहावतों का लोकतात्त्विक अध्ययन | 2006 |
| 12. | आर.के. कुंजलिनी देवी | काव्य रचना में व्यंग्य की भूमिका और मुक्तिबोध की प्रमुख लम्बी कविताएँ | 2008 |
| 13. | ब्रजकुमार शर्मा | मणिपुर का हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता (ऐतिहासिक और साहित्यिक अध्ययन) | 2011 |
| 14. | गोमा देवी शर्मा | भारतीय नेपाली साहित्य का विश्लेषणात्मक इतिहास | 2011 |
| 15. | वा. चनू इबेहाइबी | समकालीन चेतना के परिप्रेक्ष्य में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना एवं श्रीबिरेन के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन | 2011 |

**प्रो. के. इबोहल सिंह ( शोध निदेशक )**

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | टी.एच. सुरेन्द्र सिंह | हिन्दी साक्षात्कार साहित्य के विकास में अज्ञेय का योगदान | 1996 |
| 2. | एच. मेघचन्द्र सिंह | धूमिल एवं लाइश्रम समरेन्द्र के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन | 1997 |
| 3. | दुर्गा प्रसाद | निराला के काव्य में युगबोध | 1997 |


CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

| | | | |
|---|---|---|---|
| 4. | ह. अनन्दी देवी | समकालीन हिन्दी रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में मणिपुर का समकालीन रंगमंच | 2002 |
| 5. | एस. विमला देवी | शिवप्रसाद सिंह के निबन्ध : एक अध्ययन | 2003 |
| 6. | डब्ल्यू. देबेन सिंह | समाजशास्त्रीय अध्ययन दृष्टि और कबीर का काव्य | 2004 |
| 7. | आरके. मोबी | समाजशास्त्रीय दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में मोहन राकेश के नाटकों का अध्यन | 2004 |
| 8. | डब्ल्यू. मेरातोम्बी देवी | भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या और तमस | 2009 |
| 9. | वाई शिवानन्दा सिंह | मोहन राकेश के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन | 2011 |

**प्रो. ह. सुवदनी देवी ( शोध निदेशक )**

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | पल्लवी सोम | भीष्म साहनी के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन | 2002 |
| 2. | एल. हाउकीप | हिन्दी और थादौ की व्याकरणिक कोटियों का व्यतिरेकी अध्ययन | 2003 |
| 3. | नन्दलाल बराल | कमलेश्वर के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन | 2006 |
| 4. | टि. रितारानी देवी | हिन्दी की व्याकरणिक कोटियों के परिप्रेक्ष्य में अन्द्रो की व्याकरणिक कोटियों का अनुशीलन | 2007 |
| 5. | सुलताना बेगम | अब्दुल बिसमिलाहा के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन | 2008 |
| 6. | शरत कुमारी नोङमइकापम | मन्नू भण्डारी के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन | 2009 |

**डॉ. एस. लनचेनबा मीतै ( शोध निदेशक )**

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | सीताराम अधिकारी | साठोत्तरी हिन्दी और भारतीय नेपाली कविताओं का तुलनात्मक अध्ययन | 2008 |
| 2. | के. फुल्लोना देवी | हिन्दी नई कहानी के परिप्रेक्ष्य में मोहन राकेश की कहानियों का अध्ययन | 2009 |
| 3. | टंकनाथ शर्मा खाटिवारा | फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों का लोकतात्त्विक अध्ययन | 2009 |

❑

सौजन्य

अध्यक्ष हिन्दी विभाग,

मणिपुर विश्वविद्यालय,

इम्फाल–795 003



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# हमारे साहित्यिक प्रकाशन

## उपन्यास

**ओमप्रकाश शर्मा 'महामौनी'**

गौतमीपुत्र भाग-1 (सद्धर्म का महावट) 700.00

गौतमीपुत्र भाग-2 (आंचल का दूध) 800.00

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भाग-1 (चन्द्रोदय) 200.00

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भाग-2 (अभिषेक) 200.00

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भाग-3 (दिग्विजय) 300.00

चारुमती-परिणय 200.00

**श्यामसुन्दर भट्ट**

महाराणा संग्रामसिंह 400.00

दर्प 300.00

**मनमोहन सहगल**

मिले सुर मेरा तुम्हारा 300.00

काला सच 200.00

**सुरेन्द्र कान्त**

शाहआलम 175.00

बेगम हजरत महल 200.00

**तेजपाल चौधरी**

सूरज फिर उगेगा 350.00

सांझ हो गयी 350.00

आओ लौट चलें 250.00

**शशिभूषण सिंहल**

घर अपना-अपना 200.00

**यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'**

सत्यपथ 200.00

**डॉ. श्रीगोपाल काबरा**

नेपथ्य के दावेदार 150.00

**प्रो. के. एल. कमल**

स्वातंत्र्योत्तर भारत : विश्वासघात 150.00

**हरदान हर्ष**

आचार्य चाणक्य 100.00

**प्रेमचन्द**

सेवासदन 300.00

**जयशंकर प्रसाद**

कंकाल 200.00

तितली 200.00

## व्यंग्य संग्रह

**डॉ. सूर्यबाला**

मेरी प्रिय व्यंग्य रचनाएँ 250.00

**पूरन सरमा**

मेरी व्यंग्य रचनायें 500.00

दफ़्तर में वसंत 300.00

साहित्य की खटपट 300.00

बड़े आदमी 200.00

अफसर की गाय 200.00

**अशोक प्रियदर्शी**

खुला बाज़ार उर्फ झुमरी-तिलैया 200.00

**शंकर पुणतांबेकर**

फर्जी से पैदा भयो 400.00

बाअदब बेमुलाहजा 250.00

**लतीफ घोंघी**

बतरस 150.00

**अजय अनुरागी**

तराजू में नेता 300.00

चापलूसी का अनुशासन 200.00

साहित्य में पूँजी निवेश 200.00

चरणम् शरणम् गच्छामि 200.00



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

## कहानी संग्रह

**रवीन्द्रनाथ टैगोर**

| | |
|---|---|
| रवीन्द्रनाथ टैगोर की श्रेष्ठ कहानियाँ | 200.00 |

**आलमशाह ख़ान**

| | |
|---|---|
| कथा यात्रा | 500.00 |

**हेतु भारद्वाज**

| | |
|---|---|
| समय कभी थमता नहीं | 300.00 |
| रास्ते बंद नहीं होते | 150.00 |

**लक्ष्मी शर्मा**

| | |
|---|---|
| एक हँसी की उम्र | 250.00 |

**श्याम जांगिड़**

| | |
|---|---|
| एकला चलो रे | 150.00 |

**हीरा साधक**

| | |
|---|---|
| सुबह की पहली किरण | 200.00 |

**अजय अनुरागी**

| | |
|---|---|
| रामायण की कहानियाँ | 250.00 |
| महाभारत की कहानियाँ | 250.00 |
| वेताल पचीसी | 150.00 |

**मनोहर वर्मा**

| | |
|---|---|
| चूहा नगर में 'म्याऊँ' | 150.00 |

**महेन्द्र सिंह शेखावत 'उत्साही'**

| | |
|---|---|
| श्रेष्ठ लघु कथाएँ | 100.00 |

**ममता गौतम**

| | |
|---|---|
| जीवन की कहानियाँ | 150.00 |

## राजनीति विज्ञान

**प्रो. धर्मचन्द जैन**

| | |
|---|---|
| लोकसभा भाग-1 | 500.00 |
| लोकसभा भाग-2 | 500.00 |
| लोकसभा भाग-3 | 500.00 |

## इतिहास

**प्रो. मिश्री लाल मांडोत**

| | |
|---|---|
| मध्यकालीन भारत के प्रमुख इतिहासकार (सल्तनतकाल एवं मुगलकाल) | 300.00 |

## संस्कृति

**राघवेन्द्रसिंह मनोहर**

| | |
|---|---|
| राजस्थान के रजवाड़ों का सांस्कृतिक वैभव | 400.00 |

## विज्ञान/पर्यावरण

**डॉ. परशुराम शुक्ल**

| | |
|---|---|
| विश्व की विलक्षण मछलियाँ | 500.00 |
| मछलियों का रोचक एवं विलक्षण संसार | 500.00 |
| सागरों, महासागरों और नदियों की रोचक मछलियाँ | 600.00 |
| धरती की अद्‌भुत मछलियाँ | 600.00 |

## गिजुभाई साहित्य

**गिजुभाई बधेका**

| | |
|---|---|
| मॉण्टेसरी शिक्षा पद्धति | 250.00 |
| प्राथमिक विद्यालय में व्यावसायिक शिक्षा | 200.00 |
| दिवा स्वप्न | 150.00 |
| कथा कहानी का शास्त्र | 200.00 |
| बाल शिक्षण जैसा मैंने समझा | 80.00 |
| प्राथमिक विद्यालय में शिक्षा पद्धतियाँ | 150.00 |
| प्रथमिक विद्यालय में भाषा शिक्षा | 150.00 |
| शिक्षकों से | 100.00 |
| माता पिता की माथापच्ची | 125.00 |
| ऐसे हों शिक्षक | 125.00 |
| माँ बाप बनना कठिन है | 125.00 |
| माता-पिता से | 125.00 |
| माता पिता के प्रश्न | 80.00 |
| चलते फिरते शिक्षा | 100.00 |

## कोश

**डॉ. परशुराम शुक्ल**

| | |
|---|---|
| उभयचर कोश | 500.00 |
| जलीय सरीसृप कोश | 500.00 |

**वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा**

| | |
|---|---|
| समाजशास्त्र विश्वकोश | 700.00 |



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

**डॉ. एस. एल. नागोरी, श्रीमती कान्ता नागोरी**

| | |
|---|---|
| स्वतंत्रता सेनानी कोश (1857) | 500.00 |
| स्वतंत्रता सेनानी कोश (मुस्लिम) | 500.00 |
| स्वतंत्रता सेनानी कोश (गाँधीयुगीन) | 975.00 |

**प्रहलाद शर्मा**

कम्प्यूटर शब्दकोश 300.00

**धनराज चौधरी**

सचित्र विज्ञान विश्वकोश 200.00

**शंकर पुणतांबेकर**

व्यंग्य अमरकोश 400.00

**इन्दु प्रकाश सिंह**

हिन्दी मुहावरा लोकोक्ति कोश 100.00

**बदरीप्रसाद साकरिया, भूपतिराम साकरिया**

राजस्थानी-हिन्दी शब्द कोश *(दो खण्डों में)* 600.00

**भागीरथ कानोड़िया, गोविन्द अग्रवाल**

राजस्थानी कहावत कोश 400.00

## दर्शन

**अर्जुन देव आर्य 'विषम'**

| | |
|---|---|
| ईशोपनिषद् | 200.00 |
| केनोपनिषद् | 300.00 |
| कठोपनिषद् | 500.00 |

**डॉ. रामदेव साहू**

सांख्यकारिका 300.00

**बालकृष्ण राव**

श्रीमद्भागवत अनुशीलन 600.00

## जीवनी

**सुरेन्द्र शर्मा**

| | |
|---|---|
| लोकमान्य तिलक : व्यक्तित्व एवं कृतित्व | 250.00 |
| स्वामी रामतीर्थ : एक दिव्य विभूति | 250.00 |
| विनोबा भावे : भूदान यज्ञ प्रणेता | 250.00 |

**डॉ. कमलेश सकवार**

राजा राममोहन राय : जीवन और दर्शन 250.00

**डॉ. राजेश सकवार**

महादेव गोविन्द रानाडे 400.00

**गोपीनाथ कालभोर**

| | |
|---|---|
| शहीद भगतसिंह | 300.00 |
| गोपाल कृष्ण गोखले : जीवन और दर्शन | 200.00 |

**मदनलाल पंवार**

मदन मोहन मालवीय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व 300.00

**हरदान हर्ष**

| | |
|---|---|
| महात्मा ज्योतिराव फूले : व्यक्ति और विचार | 350.00 |
| स्वामी दयानन्द सरस्वती : जीवन और विचार | 200.00 |
| डॉ. भीमराव अम्बेडकर : जीवन और दर्शन | 200.00 |

**रामलाल विवेक**

महात्मा गाँधी : जीवन और दर्शन 200.00

**प्रो. एस. एम. चाँद, डॉ. इक़बाल फ़ातिमा**

सरदार वल्लभभाई पटेल : जीवन और विचार 300.00

**डॉ. मनीषा गुप्ते**

गोपाल कृष्ण गोखले : व्यक्तित्व एवं कृतित्व 500.00

**अचिन्त्यकुमार सेन गुप्ता**

परमपुरुष श्रीश्री रामकृष्ण *(प्रथम एवं द्वितीय खण्ड)* 500.00

परमपुरुष श्रीश्री रामकृष्ण *(तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड)* 500.00

## विविध

**डॉ. हेतु भारद्वाज**

संस्कृति, शिक्षा और सिनेमा 300.00

**प्रो. पी. डी. शर्मा 'पथिक'**

भर्तृहरि की अमर रचना : शृंगार शतक, नीति शतक तथा वैराग्य शतक 300.00

**डॉ. विमलेश शर्मा**

कमलेश्वर के कथा-साहित्य में मध्यवर्ग 500.00

**डॉ. मंजु चतुर्वेदी**

स्त्री-विमर्श और हिन्दी कहानी 300.00



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

## पेपरबैक संस्करण

**पं. परमानंद शर्मा 'नंद'**

| | |
|---|---|
| दैनिक जीवन में धर्म, ज्योतिष और वास्तुशास्त्र | 100.00 |
| दैनिक जीवन में आयुर्वेद | 75.00 |

**व्रजेश नन्द शर्मा**

| | |
|---|---|
| वास्तु के सौ सूत्र | 100.00 |

**पं. द्वारका प्रसाद शर्मा**

| | |
|---|---|
| व्यावहारिक वास्तुशास्त्र | 90.00 |

**सरला अग्रवाल**

| | |
|---|---|
| भारतीय वास्तु विज्ञान | 120.00 |

**डॉ. महेन्द्र कुमार मिश्रा**

| | |
|---|---|
| अंक ज्योतिष रहस्य | 50.00 |
| सचित्र हस्त रेखा विज्ञान | 100.00 |
| भागवत पुराण | 120.00 |

**ब्रह्मदत्त जोशी**

| | |
|---|---|
| शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य | 125.00 |
| ढलती आयु में सुखमय जीवन | 100.00 |
| उच्च रक्तचाप नियंत्रण | 80.00 |

**पं. शिवलहरी शर्मा**

| | |
|---|---|
| सरल योग साधना | 100.00 |

**श्यामसुंदर दास**

| | |
|---|---|
| कबीर ग्रंथावली | 125.00 |

**कामताप्रसाद गुरु**

| | |
|---|---|
| हिन्दी व्याकरण | 200.00 |

**आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**

| | |
|---|---|
| हिन्दी साहित्य का इतिहास | 160.00 |
| जायसी कृत पद्मावत | 250.00 |
| जायसी ग्रंथावली | 250.00 |
| चिन्तामणि भाग-1 | 70.00 |

**वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा**

| | |
|---|---|
| रिसर्च मेथडॉलॉजी | 350.00 |
| समाजशास्त्र विश्वकोश | 200.00 |

**प्रो. रमेश जैन, डॉ. कैलाश शर्मा**

| | |
|---|---|
| मीडिया एवं सूचना प्रौद्योगिकी | 300.00 |

**प्रो. रमेश जैन**

| | |
|---|---|
| भारत में मीडिया कानून | 300.00 |

**डॉ. प्रभाकर शास्त्री, डॉ. रूपनारायण त्रिपाठी**

| | |
|---|---|
| महाकवि कालिदासप्रणीत अभिज्ञान शाकुन्तलम् | 180.00 |

**प्रेमचन्द**

| | |
|---|---|
| रंगभूमि | 200.00 |
| निर्मला | 50.00 |
| कुछ विचार | 50.00 |
| कर्मभूमि | 60.00 |
| गोदान | 70.00 |
| गबन | 70.00 |
| सेवासदन | 100.00 |
| मानसरोवर भाग-1 | 80.00 |

**प्रो. एच. एस. शर्मा, प्रमीला कुमार**

| | |
|---|---|
| भूआकृति विज्ञान | 300.00 |

**शर्मा, शर्मा, मिश्रा**

| | |
|---|---|
| भौतिक भूगोल | 225.00 |

**आर. के. गुर्जर, बी. सी. जाट**

| | |
|---|---|
| भारत का भूगोल | 180.00 |

**डॉ. बी. सी. जाट**

| | |
|---|---|
| प्रयोगात्मक भूगोल | 200.00 |

**डॉ. बृन्दा सिंह**

| | |
|---|---|
| मानव शरीर एवं क्रिया विज्ञान | 160.00 |
| वस्त्र विज्ञान एवं परिधान | 200.00 |
| मातृकला एवं शिशु कल्याण | 160.00 |
| जन स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण | 180.00 |
| आहार विज्ञान एवं पोषण | 240.00 |
| आहार नियोजन | 160.00 |
| आहार विज्ञान | 200.00 |
| मानव विकास एवं पारिवारिक सम्बन्ध | 240.00 |
| गृह प्रबन्ध एवं आंतरिक सज्जा | 240.00 |



CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

# हिन्दी के अमर कथा शिल्पी
# रांगेय राघव की
# सम्पूर्ण औपन्यासिक जीवनियाँ
(तीन खण्डों में)

प्रथम खण्ड : देवकी का बेटा, यशोधरा जीत गयी, राह न रूकी, धूनी का धुआँ।

द्वितीय खण्ड : जब आवेगी काल घटा, लखिमा की आँखें, लोई का ताना, रत्ना की बात।

तृतीय खण्ड : आँधी की नीवें, मेरी भवबाधा हरो, भारती का सपूत।

बहुमुखी प्रतिभा के यशस्वी रचनाकार ने इन औपन्यासिक जीवनियों में भारत का सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत किया है। प्रत्येक पाठक के लिए संग्रहणीय, प्रत्येक पुस्तकालय के लिए आवश्यक।

मूल्य :
प्रति खण्ड : ₹ 400
सम्पूर्ण तीनों भाग : ₹ 1200

**पंचशील प्रकाशन**
फ़िल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर-302 003
फोन : 0141-2315052, 2314172

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

पंजीयन संख्या RAJHIN/2008/26759

# पंचशील शोध समीक्षा

(त्रैमासिक हिन्दी शोध पत्रिका)

## भारत का सम्पूर्ण राजनीतिक इतिहास - प्रारम्भ से 1950 ई. तक

( नौ जिल्दों में )

सम्पादक : डॉ. शिवकुमार गुप्त

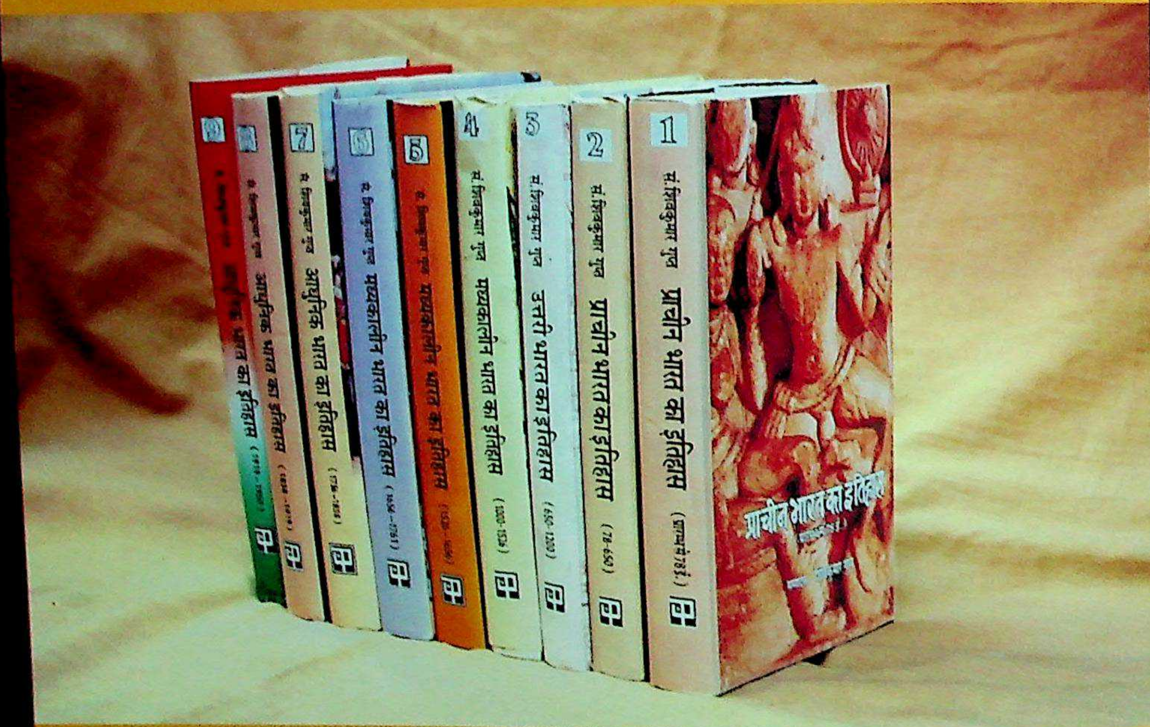


प्रख्यात इतिहासविदों द्वारा लिखित भारत के सम्पूर्ण इतिहास का प्रामाणिक तथा शोधपरक विवेचन

इतिहासवेत्ताओं, शोधार्थियों, विद्यार्थियों तथा इतिहास के गम्भीर पाठकों के लिए

पंचशील प्रकाशन, जयपुर का गौरवशाली प्रकाशन।

**प्रत्येक खण्ड का मूल्य 500/- रुपये**

पंचशील प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी, जयपुर–302003

मूलचंद गुप्ता स्वत्वाधिकारी, पंचशील प्रकाशन, फिल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रित तथा [illegible] प्रिन्टर्स, फिल्म कॉलोनी, जयपुर में मुद्रित करवाकर फिल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर से प्रकाशित
सम्पादक : डॉ. हनु भारद्वाज